॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२९

श्रीजयदेवकविप्रणीतः

चन्द्रालोकः

'विमला'-'सुधा'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः

व्याख्याकारः—
डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
भू० पू० प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
पुराणेतिहास, संस्कृति तथा भूगोल विभाग
श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

29

CHANDRĀLOKA

OF

JAYA DEVA

Edited with

'Vimala' 'Sudha' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt of

Purana, History, Culture & Geography

Sri Sampurnanda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

प्रस्तावना

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

काव्यशास्त्र की परम्परा का परिवर्तन कब हुआ और किसके द्वारा हुआ, इसकी ठीक तिथि खोज निकालना अति दुष्कर कार्य है, क्योंकि काव्यशास्त्र की उपलब्ध-परम्परा की वास्तविक सूचनायें न तो वेदों में है, न वैदिक साहित्य में ही। संभवतः काव्य का उदय कविता के उदय के साथ ही हुआ। अतः रामायण और महाभारत के निर्माण से ही काव्य एवं महाकाव्यों की उदयवेला के आरम्भ का युग माना जा सकता है। इन दोनों महाग्रन्थों में एक ओर तो संस्कृत की सुदूरतर काव्यभावना का चिन्तनसत्त्व सुरक्षित है और दूसरी ओर उसके द्वारा संस्कृत की बृहत् काव्यपरम्परा का प्रवर्तन प्रशस्त हुआ। उनका प्रणयन सदियों के अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप हुआ तथा उनकी सत्त्व-सामग्री लेकर काव्य निर्माण का अध्यवसाय निन्तर चलता रहा। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट महाकाव्यों एवं काव्यों के उपजीव्य हैं तथा पौराणिक युग के बाद महाकाव्यात्मक वर्णन में आधार हैं।

वाल्मीकीय रामायण में केवल काव्यात्मक वर्णन ही नहीं है, किन्तु उसका नाम भी आदि काव्य है। उसके प्रतिसर्ग के अन्तमें 'इत्यार्षे आदिकाव्ये' का प्रयोग है। उसकी रचना सर्गबद्ध है, जैसा कि महाकाव्यों में होने का नियम प्रचलित है—सर्गबद्धं महाकाव्यम् ।

रामायण और महाभारत की शैलियों और उनसे अनुप्राणित काव्यपरम्परा को देखकर कहा जा सकता है कि महाभारत की अपेक्षा रामायण में काव्योत्कर्ष कारक गुण तथा अन्विती अधिक है। इसीलिए महाभारत प्रधानतया इतिहास है और गौणतया महाकाव्य है, किन्तु इसके विपरीत रामायण प्रधानतया महाकाव्य है और गौणतया इतिहास। अपनी इसी प्रधान भावना के कारण महाभारत ने पुराणपरम्परा को जन्म दिया और स्वयं भी पुराणों की श्रेणी में गिना जाता है, किन्तु रामायण का विकास अलंकृत शैली में काव्यों के रूप में हुआ है। इसलिए महाभारत को हम संस्कृत काव्यों के पिता कह सकते हैं और रामायण को महाकाव्यों की श्रेणी में रखते हैं। तथा उसको अलंकृत शैली के उत्तरवर्ती काव्यों का जनक भी कह सकते हैं।

इन दोनों महाग्रन्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व, पारस्परिक स्थिति संस्कृत साहित्य की सर्वाङ्गीण समृद्धि और लोकोपयोगी विविध उपदेशों से इनका सार्वभौम स्वरूप सहज में ज्ञात हो जाता है। संस्कृत साहित्य के उत्तरवर्ती काव्यों का अधिकांश भाग इन्हीं दो ग्रन्थों के दाय को लेकर पूरा किया गया है। यदि इन दो ग्रन्थराजों से प्रभावित कृतियों को छाँट कर अलग कर दिया जाय तो संस्कृत साहित्य के काव्य क्षेत्र में नाम मात्र की सुन्दर कृतियाँ बची रह जायेंगी।

हमें यह कहने में संकोच नहीं होता कि संस्कृत के प्रायः समग्र लक्षण ग्रन्थ इन्हीं दो महान् कृतियों की सीमा रेखाओं का विश्लेषण करने पर ही रचे गये हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियमों के भीतर आने में जो अधिकांश दूसरी कृतियाँ पूर्णतः नहीं उतर पाती हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय ये दोनों ग्रन्थ काव्य शास्त्रियों को अत्यधिक प्रभावित किये हुए थे।

संस्कृत के काव्यकारों ने महाभारत से तो अपनी कृतियों के लिए कथावस्तु चुनी और उसको रामायण की आलंकारिक शैली में बाँधकर दोनों महाग्रन्थों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया। रामायण से रूप, शिल्प और महाभारत से विषय वस्तु लेकर महाकाव्यों की परम्परा आगे बढ़ी। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि के महाकाव्यों में शिल्प सम्बन्धी तत्त्व, अलङ्कारयोजना, रूपकों, उपमाओं का आधिक्य प्रकृति-चित्रण आदि सभी विषयों का आधार वाल्मीकीय रामायण है।

महाभारत के पुराणों के साथ अधिक निकट सम्बन्ध होने के कारण संस्कृत साहित्य के काव्यकारों ने कुछ कथानक दूसरे पुराणों से भी लिया है, किन्तु उस कथानक को काव्यरूप में सुनिश्चित करने के लिए रामायण की शैली का ही आश्रय लिया। कुछ काव्यकारों ने महाभारत की शैली पर काव्य लिखने की चेष्टा की भी, किन्तु वे विशुद्ध महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं आ सके। उदाहरण के लिए ऐसे काव्यों में कल्हण की राजतरङ्गिणी तथा कथा-सरित्सागर का नाम लिया जा सकता है।

अनन्तर श्री हर्ष के नैषधीय चरित तक जितने महाकाव्यों का निर्माण हुआ, वे सभी एक-जैसी शैली, एक-जैसे ढंग की नहीं हैं। अतः पाश्चात्य विचारक विद्वान् मैकडोनल साहब ने अपने 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में महाभारतको तो लोक महाकाव्य, रामायण को अनुकृत महाकाव्य तथा बाद के महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य कहा है।

आचार्य राजशेखरने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध नटराज शंकर से योजित किया है। राजशेखर का कहना है कि भगवान् शङ्कर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को आदेश दिया, तदनुसार ब्रह्मा ने अपने मानसजात अठारह शिष्यों को काव्यशास्त्र का उपदेश किया। इन अठारह मानसजात शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्रको अठारह अधिकरणों में विभक्तकर प्रत्येक अधिकरण पर एक-एक ग्रन्थ लिख कर काव्यशास्त्र का विस्तार किया।

यद्यपि राजशेखर के आदिम १८ आचार्यों के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। इस दृष्टि से यह सूची राजशेखर की शब्दावली तक ही सीमित है, फिर भी राजशेखर के उल्लेख को हम नीरी कल्पना ही नहीं मान सकते। इसी सूची के अठारह आचार्यों में भरत मुनि और नन्दिकेश्वर ही ऐसे हैं, जिनकी कृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं, जिनका काव्यक्षेत्र में बहुत बड़ा आदर है। भरतका नाट्यशास्त्र तो आज के काव्य-जगत् का मूर्धन्य आधार ही है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में काव्य को चतुर्दश विद्यास्थानों के अतिरिक्त पन्द्रहवाँ

विद्यास्थान कहकर 'उसे समस्त विद्याओं का आधार पीठ माना है—'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्'। और उन्होंने अपने विक्रमाङ्कदेव चरित में संस्कृत के समस्त विषयों के ग्रन्थसमूह के लिए साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग फिर उसकी रक्षा के निमित्त कवियों को आदेश दिया है--

साहित्य - पाथोनिधि - मन्थनोत्थं
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः !
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।। १।११

काव्य का प्रयोजन

किसी भी कार्य में किसी की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती। इसलिए साहित्य के ग्रन्थों में काव्य का लक्षण और उसके भेद दिखाने के पूर्व प्रायः काव्य का प्रयोजन बताया गया है।

कुछ लोगों की धारणा है कि काव्य प्रायः शृङ्गारात्मक होने के कारण केवल विषयीजनों के मनोरंजन का साधनमात्र है। इसके द्वारा अन्य कुछ लाभ नहीं होता, किन्तु यह धारणा बिल्कुल असत्य है। काव्य के अनुशीलन से केवल मनोरंजन ही नहीं, अपितु काव्य उसके साथ-साथ धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा एवं कायरों को साहस, वीरों को उत्साह, शोकार्तों को सान्त्वना, उद्विग्नचित्त वालों को विश्रान्ति, काव्यप्रणेता कवि को सम्मान, यश, द्रव्य, लाभ आदि के लिए एक अद्भुत साधन है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र के १६ पद्यों में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है। जैसे—

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानं परिकल्पनम् ॥ १।१०९-१२४।

इसका यह तात्पर्य है कि सत्काव्य के सेवन से क्या नहीं हो सकता है? सत्काव्य के द्वारा सभी मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं, जैसा कि रुद्रट ने भी अपने काव्यालङ्कार में स्पष्ट कहा है—

अर्थमनर्थोपशमनं शमसममथवा मतं यदेतस्य।
विरचित-रुचिर-स्तुतिरखिलं लभते तदेव सत्कविः ।। १।८

भामह ने भी अपने काव्यालङ्कार में धर्म, अर्थ और काम के अतिरिक्त काव्य को मोक्ष का साधन भी माना है और कलाओं में विदग्धता के साथ-साथ सत्काव्य के अनुशीलन द्वारा परस्पर प्रेम और कीर्तिलाभ का भी निर्देश किया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ १।२

केवल यही क्यों भगवान् के गुणानुवाद तथा स्तुतिरूप काव्यात्मक वर्णन द्वारा भगवत्प्राप्ति के प्रमाण पुराण एवं इतिहासों में पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के आरम्भ में ही काव्य के प्रयोजनों का निर्देश करते हुए कहा है कि काव्य यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार ज्ञान, दुःखनाश, सुख और उपदेश के साधन हैं। इनके लिए काव्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये कान्तासमिततयो प्रदेशयुजे ॥ २ ॥

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्य साधनों के रहते हुए काव्य का इतना महत्त्व क्यों ? उत्तर हाँ, अन्य साधन अवश्य हैं, पर उनकी अपेक्षा काव्यात्मक साधन अति महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि बाग, बगीचा, कुआँ, तालाव, धर्मशाला आदि के निर्माण द्वारा यद्यपि यश अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु वह यश चिरस्थायी नहीं होता, कुछ काल के बाद उन वस्तुओं के साथ-साथ वह भी नष्ट हो जाता है। अतः काव्यात्मक कीर्ति चिरस्थायी है।

अनादिकाल से इस भूमण्डल पर असंख्य राजा-महाराजा और बड़े-बड़े यशस्वी सम्राट् हो गये हैं, उन्होंने न जाने कितने धार्मिक तथा वीरोचित कार्यों एवं विविध स्थानों के निर्माण द्वारा अपना यश स्थायी रखने के लिए प्रयत्न किया होगा, किन्तु उनमें से, जिसके विषय में कुछ नहीं लिखा गया है, उनका कुछ भी स्मृतिचिन्ह आज अवशेष नहीं है, किन्तु जिनका चरित्र महाभारत आदि काव्यों में अङ्कित हो गया है, उन्हीं का यश चिरस्थायी हो रहा है। कल्हण ने अपने विक्रमाङ्क देव चरित में कहा है—

महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ।
भूपाः वियन्तो न बभूवुरुर्व्यां
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम् ॥ १।२८

इसी प्रकार विद्वान् भी असंख्य होते आये हैं, पर उनमें भी जिन लोगों ने काव्यादि ग्रन्थ का निर्माण किया है, उनका शरीरपात होने पर भी, वे आज काव्य शरीर से अमर हैं। द्रव्य लाभ के साधन भी अनेक हैं, किन्तु काव्य द्वारा जैसे सम्मानपूर्वक द्रव्यलाभ होता है, वह महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में जिस प्रकार कवि और विद्वानों को सम्मान के साथ द्रव्य प्राप्त हुआ है, उसका साक्षी इतिहास है।

लोकव्यवहार के ज्ञान के लिए भी काव्य ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सहज ही सभी लोकव्यवहार का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है।

दुःखनाश के लिए सूर्य-स्तुति से कुष्ट आदि रोगनिवृत्ति के उदाहरण मयूरादि कवि के प्रसिद्ध हैं। आजकल भी दुःखनिवृत्ति के निमित्त सूर्यस्तोत्रों का पाठ प्रचलित है।

आनन्द की प्राप्ति भी स्वर्गादिलोक के साधक यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं द्वारा अवश्य होती पर कालान्तर में और देहान्तर में, तत्काल नहीं, किन्तु काव्य जनित आनन्द काव्य के ण या मनन के अनन्तर तत्काल ही उपलब्ध हो जाता है। वह आनन्द भी साधारण नहीं, न्तु ब्रह्मानन्द के समान परमानन्द—ब्रह्मानन्दसहोदरः। अतः काव्यजन्य आनन्द अनु- ा कहा गया है। राजानक कुन्तक ने तो अपने वक्रोक्तिजीवित में काव्यामृत रसास्वाद को र्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से बढ़कर चमत्कारक बतलाया है—

चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ ५ ॥

आत्मज्ञान के लिए वेदों में, धर्मज्ञान के लिए धर्मशास्त्रों में और नीतिज्ञान के लिए तिग्रन्थों में पर्याप्त उपदेश हैं, पर उनका मार्ग अत्यन्त गूढ एवं दुर्भेद्य होने के कारण उनमें वेश करना दुःसाध्य है। उनके रहस्य का ज्ञान विरले ही कर सकते हैं, क्योंकि वेदों की तियाँ प्रभुसम्मित शब्द हैं। वैदिक वाक्य राजाज्ञा के समान कारण बताये बिना ही आत्मज्ञान का पदेश करते हैं। पुराण-धर्मशास्त्र सुहृत्सम्मित शब्द हैं, वे मित्र के समान हिताहित को समझाते हैं। जो लोग उनके उपदेशों में रुचि रखते हैं, उनको ही उससे लाभ हो सकता है, सबको नहीं। तः उनके लिए काव्य द्वारा ही उपदेश उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि काव्य कान्ता-सम्मित ब्द हैं।

जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के शासन में रहने वाले अपने प्रियतम को विलक्षण हाव- व एवं कटाक्षों की मधुरता से अनुरक्त कर अपने अनुकूल कर लेती है उसी प्रकार सत्काव्य सुकुमारमति वेद-शास्त्रों से विमुख को अपने मधुर, कोमल तथा कान्त पदावलियों द्वारा ृंगारादिरसों की सरसता से अपनी ओर अनुरक्त करके सदुपदेश देता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद और शास्त्र जन्य उपदेश अविद्या रूपी व्याधि को अवश्य ट कर देने में समर्थ है, पर वे कटु औषध के समान हैं, जो अत्यन्त गुणकारक, हित एवं पथ्य ने पर भी सहसा सेवन नहीं किये जा सकते, किन्तु काव्यद्वारा उपदेश आह्लादक एवं मधुर- अमृत के समान औषध रूप हैं, जो सहज ही रुचिपूर्वक सेवन किये जा सकते हैं।

वस्तुतः काव्य का उपदेश सहज और सुख-साध्य होने के कारण अन्य मार्गों से विलक्षण । इसीलिए भामह ने भी कहा है—काव्यरस के मधुर आस्वाद से मिश्रित शास्त्रविहित क्षा का ग्रहण करना सुखसाध्य है, जैसा कि मधुर वस्तु के लोभ से बालक कटु-औषधि भी लेता है—

स्वादु काव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ ५।३

इस प्रकार निर्विवाद सिद्ध है कि काव्य का अध्ययन, अनुशीलन एवं परिशीलन आदि के मनोरञ्जनमात्र नहीं हैं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी और प्रयोजनीय भी है।

काव्य के कारण

काव्यनिर्माण के कारणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इस विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं। अधिकांश आचार्यों का मत है कि कवि के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों की परमावश्यकता है। इन तीनों में काव्य की शक्ति महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि वह काव्य रचना का बीजभूत संस्कार है, जो काव्यवृक्ष के रूप में फलता-फूलता दिखाई देता है। इसी को ध्यान में रखकर पश्चिमी देशों में कहा जाता है कि 'कवि का उद्भव होता है, निर्माण नहीं। यहाँ उद्भव का अर्थ है कवित्व शक्ति का उद्भव।

शक्ति

शक्ति के बिना काव्य रचना हो ही नहीं सकती, यदि हठात् हो भी जाती है तो उपहास के योग्य होती है। महर्षि व्यास जी ने अग्नि पुराण में स्पष्ट कहा है कि इस विश्व में प्रथम तो मनुष्यत्व ही दुर्लभ है, मनुष्यत्व होने पर भी विद्या की प्राप्ति दुर्लभ है, विद्या की प्राप्ति होने पर भी शक्ति दुर्लभ ही नहीं, अपितु सुदुर्लभ है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्रापि दुर्लभा॥ ३३७।४

काव्य-जगत् में शक्ति का ही पर्याय प्रतिभा है। प्रतिभा कवि को जन्म के साथ-साथ प्राप्त होती है अथवा पूर्वजन्म के पुण्य प्रसाद से किसी देवता की आराधना द्वारा जन्म के बाद भी किसी-किसी को उपलब्ध हो जाती है। आचार्य रुद्रट ने इसको सहजा और उत्पाद्या दो भेदों में विभक्त किया है। कवि में उसके जन्म के साथ ही ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण वह कविता करने में अभिरुचि रखता है और छोटी अवस्था में ही कुछ न कुछ कर्तृत्व दिखाने लगता है। शैशव अवस्था की यह चमत्कृति सहजा शक्ति के ही कारण होती है। दूसरी उत्पाद्या शक्ति वह है जो उपार्जित की जाती है। इनमें सहजा को ही मुख्य माना जाता है। रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में शक्ति का लक्षण लिखते हुए कहा है कि जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण और कठिनतारहित पदों का भान होता है, काव्य रचना के समय तत्काल अनेक शब्द और अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं उसे शक्ति कहते हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यासौ शक्तिः॥ १।१५

निपुणता

निपुणता तीन प्रकार से होती है—लोक का निरीक्षण, शास्त्रों का अनुशीलन तथा काव्य-परम्परा के अध्ययन से। लोक का निरीक्षण इसलिए आवश्यक है कि काव्य पीठिका लोक ही है। जिस प्रकार बिना दृढ़ नींव के बृहत् प्रासाद का निर्माण नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना लोक निरीक्षण के काव्य का रूप सहज नहीं किया जा सकता। लोक का निरीक्षण करने पर भी

शास्त्रों का अनुशीलन आवश्यक हुआ करता है, क्योंकि शास्त्र का अनुशीलन किये बिना आँखें नहीं खुलतीं। शास्त्र से विमुख होने का दुष्परिणाम हुआ करता है कि समर्थ कवियों की भी कहीं-कहीं भद्दी अशुद्धियाँ दिखाई देती हैं। अतः शास्त्र का अध्ययन सरलता पूर्वक विषय की शुद्धता की उपलब्धि के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त काव्य परम्परा का अध्ययन भी अत्यावश्यक है। परम्परा को छोड़कर चलने से रचना बेमेल होने लगती है। निपुणता का पर्याय व्युत्पत्ति भी है।

अभ्यास

अब अभ्यास पर आइए। अभ्यास के बिना कविता हो तो सकती है, किन्तु व्यवस्थित नहीं हो सकती। यही कारण है कि संस्कृत के गुरुओं के यहाँ प्राचीन कवि अभ्यास किया करते थे। काव्य के निर्माण और उसके सत्-असत् के विचार में योग्य विद्वानों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना उसमें निरन्तर प्रवृत्त रहने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के कामधेनु है।

इस प्रकार इन तीनों गुणों का एक साथ होना आवश्यक है। भामह ने भी अपने काव्यालंकार में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण माना है और इनके बाद दण्डी भी अपने काव्यादर्श में तीनों को कारण मानते हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलाम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ १।१०

किन्तु दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी निपुणता और अभ्यास को भी काव्यरचना का कारण स्वीकार करते हुए कहते हैं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ १।१०४

इसके अनन्तर रुद्रट ने दण्डी का यह मत स्वीकार न करके भामह का अनुसरण करते हुए शक्ति निपुणता और अभ्यास इन तीनों की आवश्यकता बतलायी। आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाशमें दण्डी के इस मत को स्वीकार नहीं किया, किन्तु भामह और रुद्रट के मत के साथ अपनी अनुमति ही नहीं दी, यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य शक्ति के उद्भव में, शक्ति, निपुणता, लोक-काव्यशास्त्र का अध्ययन और काव्यज्ञों की शिक्षा का अभ्यास भी आवश्यक है।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ १।३

तृणारणिमणिन्याय के आधार पर आचार्य मम्मट इन तीनों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र कारण नहीं मानते, किन्तु तीनों को सम्मिलित रूपमें एक ही कारण स्वीकार करते हैं। देखिए, उक्त कारिका की वृत्ति— त्रयः समुदिताः······हेतुर्न तु हेतवः।'

जैन आचार्य भी वाग्भटालङ्कारमें इन तीनों को आवश्यक बताते हैं—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदाभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥ १।३

सारांश यह है कि उपर्युक्त सभी आचार्य शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को ही काव्य का हेतु मानते हैं, किन्तु कुछ आचार्य केवल प्रतिभा या शक्ति को ही एकमात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं। वामन ने अपने काव्यालङ्कारसूत्र में कहा है कि 'कवित्वबीजं प्रतिभानम् (१।३।१६)

राजशेखर का भी यही मत है, 'सा केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः (११)। उन्होंने इस मत की पुष्टि में मेधावी रुद्र तथा कुमार दास आदि का उदाहरण दिया है, जिन्होंने जन्मान्ध कवि होने के कारण न तो शास्त्रों के अध्ययन से व्युत्पत्ति ही प्राप्त की थी और न अभ्यास ही। केवल प्रतिभा द्वारा ही काव्य का निर्माण किया था।

द्वितीय वाग्भट्ट भी राजशेखर के अनुयायी ही हैं। उन्होंने भी यही कहा है—

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू॥

पण्डितराज जगन्नाथ जिस प्रकार अदृष्ट शक्ति = प्रतिभा को काव्योत्पत्ति का एकमात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यासजन्य शक्ति को भी स्वतन्त्र कारण मानते हैं, न कि तीनों के समूह को सम्मिलित रूप में एक ही कारण-तीनों में प्रतिभाशक्ति की प्रधानता अवश्य है। यदि काव्य-रचना करने की शक्ति ही नहीं तो शास्त्रजन्य व्युत्पत्ति और अभ्यास निष्फल ही है। जिस प्रकार रत्न को चमत्कृत करने के लिए संस्कार करना आवश्यक है उसी प्रकार काव्य को चमत्कृत एवं मनोरञ्जन करने के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास भी परमावश्यक हैं।

काव्य और कवि शब्द का अर्थ

काव्य शब्द का अर्थ कवि की कृति है अर्थात् कविद्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते हैं— कवेरिदं कार्यं कवेर्भावो वा काव्यम्। कवयतीति कविः तस्य कर्म वा काव्यम्। कवि शब्द का अर्थ है—'कवते सर्वं जानाति = सकलं वर्णयतीति कविः, कवते = श्लोकान् प्रथते, वर्णयति वा कविः।' इस प्रकार सर्वज्ञ और सब विषयों के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं। इसी व्यापक अर्थ के अनुसार सर्वप्रथम शुक्ल यजुर्वेद में कवि शब्द का प्रयोग दृष्टि गोचर होता है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।' (४०।८)

पुनः आदिकवि का प्रयोग वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा जी के लिए श्रीमद्भागवत में किया गया है—तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये (१।१।१) इसके अनन्तर अन्य महर्षि और शास्त्रप्रणेताओं के लिए कवि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु काव्यप्रणेता के लिए सबसे प्रथम महर्षि वाल्मीकि के लिए आदि कवि तथा वेदव्यास जी के लिए कवि शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। इसी के अनुसार आदि काव्य का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण के लिए एवं काव्य का प्रयोग महाभारत के लिए किया गया है—'कृतं मयेदं भगवन् ! काव्यं परमपूजितम्' (म० भा० १ ६१) इस प्रकार कवि शब्द का प्रयोग वाल्मीकि के समय के बाद एक विशिष्ट प्रकार की चित्ताकर्षक रमणीय शैली के रचयिता विद्वान् के लिए प्रयुक्त हो गया तथा काव्यशब्द का प्रयोग एक विशेष रमणीय शैली के रचनात्मक ग्रन्थ के लिए प्रचलित हुआ है।

काव्य के लक्षणों का दिग्दर्शन

संस्कृतसाहित्य के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य का लक्षणनिर्माण किया है। सबसे पहले काव्य के लक्षण के रूप में भरतमुनिका निम्नाङ्कित पद्य उनके नाट्यशास्त्र में मिलता है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोग्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षणीयम्॥ (१६।११८)

नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण में भगवान् वेदव्यास ने शास्त्र-इतिहास से काव्य का पार्थक्य दिखाकर काव्य का यह लक्षण इस प्रकार किया है—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्नपदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥ ३३७।६

अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने अपने काव्यालङ्कार में काव्य का यह लक्षण दिया है—शब्दार्थसहितौ काव्यम् (१।१६) भामह के बाद दण्डी ने अपने काव्यादर्श में यह लक्षण लिखा है—शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। (१।१०)

यद्यपि भामह ने महाकाव्य में रस की स्थिति होना आवश्यक बताया है और दण्डी ने भी अलंकारों को रस के उत्कर्षक कह कर काव्य में रस की मुख्यता स्वीकार की है, फिर भी इन्होंने अलंकारों को ही प्रधानता दी है।

बाद वामन ने काव्यलक्षणस्पष्टता में कहा है कि काव्य अलंकारसहित होने से ग्राह्य है, सौन्दर्य ही अलंकार है, काव्य का दोषरहित और गुण एवं अलंकारसहित होना ही सौन्दर्य है—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। अदोषगुणालङ्कारादानाभ्याम्' (१।१,२,३)

वमन के अनन्तर रुद्रट ने काव्य का लक्षण तो 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्', यही लिखा है, पर विवेचन के द्वारा स्पष्ट है कि वे भी दोषरहित और अलंकारसहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त रुद्रट भी काव्य में रस की स्थिति का होना परमावश्यक बतलाते हैं—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। काव्यालङ्कार (१२।२)

रुद्रट के बाद ध्वन्यालोक प्रणेता ध्वनिकार एवं आनन्द वर्द्धनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के लिखे हुए काव्यलक्षणों को अनुपयुक्त समझकर अपने ध्वनिसिद्धान्त द्वारा काव्य की आत्मा ध्वन्यार्थ को ही सिद्ध किया है—काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नापूर्वः। इसके बाद वक्रोक्तिजीवितप्रणेता राजानक कुन्तक ने वक्रोक्तिगर्भित (उक्तिवैचित्र्य वाले) शब्दार्थ को काव्य बतलाया—

शब्दार्थसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ १।७

अनन्तर धाराधीश महाराज भोज ने यद्यपि काव्य का लक्षण स्पष्टतया नहीं लिखा है, पर उन्होंने दोषाभाव और गुण-अलङ्कार के अतिरिक्त रस का भी समावेश स्पष्ट कर दिया—

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ १।२

भोजराज के पश्चात् आचार्य मम्मट ने दोषरहित गुण एवं अलङ्कारयुक्त तथा कहीं-कहीं स्फुट अलंकार न भी हो, ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।' मम्मटाचार्य के बाद चन्द्रालोक के प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव के काव्यलक्षण में वृत्ति का समावेश करके काव्य के सभी विषय रख दिये गये हैं—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ १।०

जयदेव के अनन्तर महाकवि विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का अनुसरण न करके यह काव्य का स्वतन्त्र लक्षण लिखा—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' = १।३

विश्वनाथ का कहना है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। इन्होंने रस शब्द का रूढ अर्थ = केवल शृंगार आदि रस ही नहीं ग्रहण किया, किन्तु 'रस्यते = आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द का जो आस्वादित हो इस यौगिक अर्थ के अनुसार भाव तथा भावाभास का भी ग्रहण कर लिया है तथा काव्यप्रकाश के काव्यलक्षण के प्रत्येक पद में दोष दिखाया। आदोषी के विषय में विश्वनाथका कहना है कि यदि दोष-

रहित शब्दार्थ ही काव्य माना जाय तो काव्य का सर्वथा दोषरहित होना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः किसी रचना को काव्य कहा ही नहीं जा सकता, किन्तु 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी इस पद्य को आनन्द वर्धनाचार्य ने उत्तम काव्य ध्वनि का उदाहरण दिखाया है। अतः इसमें काव्यत्व का अभाव नहीं माना जा सकता। इसीलिए काव्यप्रकाश के अदोषौ लक्षण में अव्याप्ति दोष है—इत्यादि। विश्वनाथ के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य बनाया—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'

पण्डितराज को न तो शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहा जाना अभिमत है और न काव्य के लक्षण में दोषरहित एवं गुण, अलंकार आदि का प्रयोग किया जाना ही स्वीकृत है। वे सारी रमणीयता का मूल कारण केवल रस को ही नहीं मानते, किन्तु इनके मत में किसी भी अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनन्द उपलब्ध हो जाय, वही रमणीयता का आधार होने से काव्य शब्द वाचक हो सकता है। पण्डितराज ने अपने इस मत का प्रतिपादन करते हुए शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बताने वाले भामह आदि तथा काव्य के लक्षण में अदोषौ और सगुणौ आदि का प्रयोग करने वाले मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आचार्यों की आलोचना जमकर की है। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ काव्य के विवेचक सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों में अन्तिम विवेचक विद्वान् माने जाते हैं। और इनका रसगंगाधर उच्चकोटि का ग्रन्थ माना जाता है।

काव्य के विभिन्न सम्प्रदाय

काव्य की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि रस, अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि आदि जो काव्य के मुख्य विषय हैं, उनकी प्रधानता के विषय में साहित्यशास्त्र के आचार्यों का विभिन्न मत हैं। अतः इन सिद्धान्तों को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय बन गये। जैसे—रससम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय, औचितीसम्प्रदाय। डॉ० रेवाप्रसाद जी ने अपनी अलङ्कारकारिका में इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यशास्त्र के क्रमशः ६ प्रस्थान हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य—

> रसोऽलङ्काररीती च ध्वनिर्वक्रोक्तिरेव च।
> औचित्यं चेति काव्यस्य प्रस्थानानि क्रमेण षट् ॥—१९।
> यद्वाऽलङ्काररीती च ध्वनिवक्रोक्तिरेव च।
> एकस्य पयसो धारास्तैस्तैः शब्दैरुदाहृताः ॥ २२।

रस सम्प्रदाय में 'रसः काव्यस्यात्मा' कहकर प्रधान रस शब्द का अर्थ, रस की निष्पत्ति, रस का आस्वाद, रसों की संख्या आदि का विवेचन है। अलंकारसम्प्रदाय में 'काव्यस्यात्मा अलङ्कारः' कहकर अलङ्कार का लक्षण, काव्य में अलङ्कारों का स्थान, अलङ्कारों की संख्या, अलङ्कारों का वर्गीकरण और अलंकारों के क्रमविकास की समीक्षा की गई है। रीतिसम्प्रदाय में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर गुणों का महत्त्व, गुणों का लक्षण, गुणों की संख्या, रीतियों के नाम भेद आदि का विचार है। वक्रोक्तिसम्प्रदाय में वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना गया

है—'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'। इसमें विभिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ में वक्रोक्ति का प्रयोग किये जाने का विवेचन है। और ध्वनिसम्प्रदाय में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कह-कर ध्वनिसिद्धान्त-का प्रतिपादन के साथ-साथ ध्वनि के स्वरूप, संख्या, भेद कथन के बाद ध्वनिसिद्धान्त के विरोधियों का खण्डन है। और औचितीसम्प्रदाय में औचित्य को ही काव्य का स्थिर जीवन माना गया है—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवनम्।'

अलंकारसम्प्रदाय समीक्षा।

अलङ्कारसंप्रदाय काव्यशास्त्र का एक प्रमुख संप्रदाय है। काव्यशास्त्र का पहला नाम अलङ्कारशास्त्र ही था। अलङ्कारशास्त्र के प्रतिपादक आचार्यों की दीर्घ परम्परा रही है, जिनके मतानुसार लक्षण ग्रन्थों में वर्णित काव्य, गुण, दोष, रस, शक्ति, अलङ्कार आदि सभी विषयों का समावेश अलङ्कार शास्त्र के अन्तर्गत हो जाता है।

अलंकारों का आभास वेदों में मिलता है। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण में भी अलंकारों का स्पष्ट निरूपण किया गया है। अग्निपुराण के अनन्तर जो साहित्य के लक्षणग्रन्थ भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट आदि द्वारा लिखे गये हैं, उनमें भी अलङ्कारों का पर्याप्त विवेचन है। इससे अलंकारों का महत्त्व निःसन्देह सिद्ध होता है। अतः भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ही अलङ्कार संप्रदाय का आरम्भ मानना चाहिए।

उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह को अलंकार शास्त्र का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य माना जाता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र और अग्निपुरण के बाद अलंकारों का अधिक वैज्ञानिक विवेचन भामह के काव्यालङ्कार में मिलता है।

आचार्य भामह के इस सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि उससे पूर्व अलङ्कारों पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, जैसा कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि अलङ्कार शास्त्रियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। भामह ने काव्यालङ्कार की रचना कर अलंकार सम्प्रदाय की विच्छिन्न परम्परा को ग्रथित ही नहीं किया, बल्कि भरत के नाट्यशास्त्र की चहारदिवारी से घिरी हुई अलङ्कारों की बन्दी आत्मा को मुक्त कर उसको स्वतन्त्र रूप से प्रशस्त होने का सुयोग भी दिया है।

भामह ने अपने ग्रन्थ में कतिपय ऐसी विशेषताओं को रखा है, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं दिखाई देतीं और परवर्ती आचार्य भी उस दिशा में मौन हैं। शब्द और अर्थ में काव्य की चेतना का प्रतिपादन करना भामह की विलक्षण सूझ का काम था। भरत द्वारा प्रतिपादित दशविध गुणों का गुणत्रयी—प्रसाद, ओज एवं माधुर्य में अन्तर्भाव करना तथा वक्रोक्ति अलंकार को अलंकारपरम्परा एवं काव्य का सर्वस्व समझना भामह की ही तत्त्वग्राहिणी बुद्धि का परिणाम है।

भामह ने अलंकृति को ही काव्य का सर्वस्व माना है। उन्होंने रस एवं भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न कर उनका अन्तर्भाव अलंकारों के ही अन्तर्गत माना है। भामह ने ३८ अलंकारों का प्रतिपादन किया है। भामह के प्रतिपादन तथा चिन्तनों को उद्भट, आनन्द

वर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मटाचार्य जैसे ख्यातनामा काव्यशास्त्रियों ने संमान के साथ अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

भामह द्वारा जो अलंकार लिखे गये हैं, वे प्रायः विभिन्न श्रोतों से एकत्र किये गये हैं। स्वयं भामह ने अपने को अपने काव्यालङ्कार में अलंकारसिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं, किन्तु परिपोषक माना है।

भामह के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय प्रतिनिधि दण्डी, उद्भट, रुद्रट और उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दु हैं, जिनके द्वारा प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

इन आचार्यों के ग्रन्थों में एक रुद्रट को छोड़कर, जिसने रस पर भी विवेचन किया है, अलंकार विषय का ही प्राधान्य रहा, किन्तु यह बात नहीं कि उनके गन्थों में अन्य पदार्थ— इस, भाव, गुण आदि का विवेचन नहीं है। उन सभी आचार्यों ने न्यूनाधिक मात्रा में रस आदि का अवश्य उल्लेख किया है। भामह और दण्डी ने गुणों का भी निरूपण किया है, किन्तु उनके ग्रन्थों में प्रधानता अलंकारों की ही रही है।

भामह, दण्डी और रुद्रट के बाद साहित्याचार्यों का रस, अलंकार और रीति आदि विषयों में मतभेद होने पर भी प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण पदार्थ माना है। और अलंकारों का मनोविज्ञान के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया है।

अलङ्कार की व्युत्पत्ति

विभिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार अलङ्कार शब्द की निष्पत्ति होती है। जैसे (१) **'अलंकृति-रलङ्कारः**, अलंपूर्वक कृधातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर अलङ्कार शब्द निष्पन्न होता है, (२) **'अलंक्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः'** अलंपूर्वक कृधातु से करण में घञ् प्रत्यय करने पर भी अलंकार शब्द बनता है, क्योंकि भाव और करण दोनों अर्थों में घञ् का विधान है और **'घञजपः पुंसि'** के अनुसार घञ्प्रत्ययान्त, अच्प्रत्ययान्त और अप्प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग पुलिंग में ही होता है और। (३) तीसरी व्युत्पत्ति यह है कि **'अलं=भूषणं, पर्याप्तं करोतीत्यलङ्कारः।'** इस व्युत्पत्ति में द्वितीयार्थक अव्यय में अलंपूर्वक कृधातु से कर्म में अण् प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द की सिद्धि होती है। इस व्युत्पत्ति से सौन्दर्य जनक उपमा आदि अलंकारों का भी ग्रहण हो जाता है जो यहाँ अत्यन्त अभिप्रेत है।

अलङ्कार का स्वरूप

जिस प्रकार लोक में रत्न आदि से निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना को काव्य-शास्त्र में अलङ्कार कहते हैं। काव्य शब्द एवं अर्थ उभयात्मक हैं। अतः अलंकार भी

उभयात्मक हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। भोजराज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरणमें स्पष्ट कहा है—

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते..........................॥—२।२।

और—

अलमर्थमलङ्कर्तुं यद् व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया ॥—३।१

शब्द-रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों की पुनरावृत्ति पर अवलम्बित है और अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थवैचित्र्य पर। विचित्रता कहते हैं—लोकोत्तर शैली द्वारा अतिशय वर्णन किये जाने को। आचार्य भामह और दण्डी लोकोत्तर उक्ति वैचित्र्य अथवा अतिशयोक्ति पर ही अलंकारत्व निर्भर बताते हैं। भामह ने अतिशयोक्ति अलंकार के प्रकरण में कहा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थोऽविभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना ॥—२।८५।

दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में कहा है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥—२।२२०।

वक्र=वैचित्र्य आधायिका लोकातिशायिनी उक्तिः कथन को वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति अतिशयोक्ति का ही पर्याय है। इस प्रकार लोकोत्तर उक्ति वैचित्र्य को अलंकार कहते हैं।

काव्य में अलंकार का स्थान

काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है और किस आचार्य ने काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य एवं किसने ऐच्छिक बतलाई है? इस अंश में तो किसी का मतभेद हो ही नहीं सकता कि काव्यत्व चमत्कार पर ही निर्भर है। साहित्यग्रन्थों में रस, गुण और अलंकार ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ माने जाते हैं। अतः काव्यत्व के लिए इन तीनों की स्थिति अत्यावश्यक है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य का सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही माना है—

नहि रसादृते कश्चित् पदार्थः प्रवर्तते।—६

अग्निपुराण में काव्य का जीवन सर्वस्व केवल रस को बतलाते हुए अलङ्कार और गुण की स्थिति भी काव्य में आवश्यक बतलाई गयी है—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।—३३७।३३
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।—३४५।२
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।—३४६।१

इन वाक्यों के द्वारा जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया गया है उसी प्रकार अलंकाररहित काव्य को विधवा स्त्री के समान चमत्कारहीन तथा गुणहीन काव्य को कुरूपा स्त्री के समान चित्तानपकर्षक माना गया है। इसलिए अग्निपुराण के अनुसार काव्य में रस, अलंकार और गुण इन तीनों का ही होना परमावश्यक है।

अग्निपुराण के बाद भामह ने अलङ्कारसम्प्रदाय का प्रतिनिधि होने पर भी अलंकार और गुणों का लक्षण नहीं किया, किन्तु काव्य में रस की स्थिति आवश्यक अवश्य बतलाया। रसों को भी रसवत् अलंकार के नाम से और भावों को प्रेय अलङ्कार के नाम से अलंकारों के अन्तर्गत बतला दिया है।

दण्डी ने भी अलंकार का कोई विशेष लक्षण न लिखकर अग्निपुराण के श्लोकार्द्ध को उद्धृत करके अलंकारों को काव्य का शोभाधायक धर्म बताया है—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । २।१

और शृंगारादि रसयुक्त रचना को मधुर गुणवाली बतलाकर और अलंकारों को रस का पोषक कहकर भामह के अनुसार ही रस और भाव को रसवत् और प्रेय अलंकार का विषय बतलाकर अलंकारों में ही रस एवं भावों का समावेश कर दिया है।

उद्भट ने भी रस और भावादि विषय को अलंकारों के अन्तर्गत ही मान लिया है। इस प्रकार भामह, दण्डी और उद्भट के मतानुसार अलंकार की स्थिति प्रधानतया काव्यत्व के लिए पर्याप्त है। गुण और अलंकारों में भामह और दण्डी ने कुछ भेद नहीं माना है और उद्भट ने तो अलंकार एवं गुणों में भेद मानने वालों पर आक्षेप भी किया है।

बाद वामन ने रसों को **'दीप्तरसत्वं कान्तिः'** (३।२।१५) सूत्र में गुणों के अन्तर्गत माना है और गुणों की प्रधानता देते हुए रीति को ही काव्य का आत्मा माना है। वामन के मत में केवल गुण विशिष्ट रीति का होना ही काव्यत्व के लिए पर्याप्त है।

वामन के बाद रुद्रट ने शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाले बतलाकर रस के विषय में कहा है कि काव्य में रस का होना परमावश्यक है—

तस्मात्तत् कर्तव्यं यत्ने न महीयसा रसैर्युक्तम् । १२।२

रुद्रट ने रस को महत्त्व अवश्य दिया, पर रस को काव्य का जीवन नहीं कहा। अलंकारों का विस्तृत विवेचन कर उन्हें रस से कम महत्त्व नहीं दिया। अतः रुद्रट के मतानुसार केवल रस-युक्त और केवल अलंकारयुक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है।

रुद्रट के अनन्तर ध्वनिकार ने यह विचार स्थिर किया कि रस न तो वाच्यार्थ है न लक्ष्यार्थ ही, इन दोनों से भिन्न है और वह व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ है। अतः उन्होंने रस को काव्य में सर्वोपरि पदार्थ मानते हुए अपने ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत रस का समावेश करके अपने अपूर्व विवेचन द्वारा रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर दिया। इनके पूर्व रस और अलंकार पर ही काव्यत्व निर्भर था, पर इन्होंने व्यङ्ग्यार्थ को ही

स्थापित कर दिया। इनके मत से केवल रसादि व्यङ्ग्यार्थ—ध्वनि में ही नहीं, किन्तु वाच्यार्थ रूप अलंकारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है। अलंकारों के विषय में इन्होंने स्पष्ट कहा है—

यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः····। ४

इनके बाद महाराज भोज ने रस की प्रधानता अवश्य दी, पर वक्रोक्ति—स्वतन्त्र अलंकारों की स्थिति में भी काव्यत्व स्वीकार किया—

वक्रोक्तिश्च] रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥

आचार्य मम्मट ने जिस प्रकार केवल व्यङ्ग्य प्रधान—ध्वनि रचना में काव्यत्व स्वीकार किया है उसी प्रकार व्यङ्ग्यरहित अलंकारयुक्त रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया है। मम्मट के अनुसार (१) सरस अलंकारयुक्त, (२) सरस अस्फुट अलंकारयुक्त और (३) नीरस अस्फुट अलंकारयुक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है, किन्तु काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर निर्भर या अलंकार पर निर्भर है।

गुण और अलङ्कारों में अन्तर—मम्मट ने न तो उद्भट के मतानुसार गुण और अलंकारों को समकक्ष माना है और न वामन के मतानुसार गुणों को काव्यों में सर्वोपरि प्राधान्य ही स्वीकार किया है, बल्कि गुण और अलंकारों में क्या अन्तर है यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥—८।६६

इस कारिका में गुणों को प्रधानभूत रस का धर्म, रस का उत्कर्ष और रस में अचलस्थिति से रहने वाला बताया है। और अलंकारों का सामान्य लक्षण यह लिखा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥—८।६७

अर्थात् काव्य में अङ्गी=प्रधान रस है और शब्द एवं अर्थ उसके अङ्ग हैं। मम्मट के मतानुसार जिस प्रकार हार आदि आभूषण मनुष्य के कण्ठ आदि अङ्गों में धारण किये जाने पर उसके अंग=कण्ठ आदि को शोभित करते हैं=चमत्कृत करते हैं, पुनः उन चमत्कृत अङ्गों द्वारा मनुष्य को शोभित करते हैं उसी प्रकार शब्दार्थगत अलंकार प्रथम शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं=चमत्कृत करते हैं, फिर उनके द्वारा रस को उपकृत करते हैं। और कहीं=किसी काव्य में रस होने पर भी विजातीय=अनमेल अलंकार होने के कारण उसका=रस का उपकार नहीं करते। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण रस के धर्म हैं, रस के साथ नित्य रहते हैं और रस का साक्षात् उपकार करते हैं, किन्तु अलंकार इसके धर्म नहीं, किन्तु शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, रस के साथ नित्य नहीं रहते, नीरस काव्य में भी रहते हैं, शब्दार्थ के द्वारा कभी रस का उपकार करते हैं, कभी नहीं।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने वामन के बताए हुए गुण और अलङ्कारों के काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (काव्यालङ्कार, सूत्र ३।१।१२) इन लक्षणों में वामन ने गुणों को काव्य के शोभाकारण धर्म और अलङ्कारों को उस गुणकृत शोभा के उत्कर्षक बतलाए हैं।

किन्तु मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए कहा है—ऐसी भी रचना होती है, जिसमें गुण काव्य की शोभा करने वाला नहीं होता, पर केवल अलंकार की स्थिति द्वारा ही उस रचना को काव्य माना जाता है। जैसे—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥
—(काव्यप्रकाश ८।६७ वृत्ति)

इस रचना में शृङ्गार रस है, किन्तु यहाँ शृङ्गार रस के अनुकूल माधुर्य गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना नहीं है, प्रत्युत शृङ्गार में त्याज्य ओज गुणव्यञ्जक रचना है। और वामन अलंकार को जो गुणकृत शोभा का अतिशय कारक बताते हैं, वह भी यहाँ नहीं है। तब अलंकार गुणकृत शोभा को किस प्रकार बढ़ा सकता है? जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं, उसका बढ़ाना कैसे सम्भव हो सकता है? अतः वामन के मतानुसार इस पद्य में काव्यत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश की व्यापक और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचना के प्रकाश ने पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को निस्तेज कर दिया है।

मम्मट के बाद चन्द्रालोक के प्रणेता जयदेव ने यद्यपि अलंकार का सामन्य लक्षण प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है—

हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः। = ५।१

किन्तु जयदेव ने अलंकारों को यहाँ तक प्रधानता दी है कि काव्यप्रकाश के काव्यलक्षण के 'अनलंकृती क्वापि' इस अंश पर आक्षेप करके रसध्वनियुक्त होने पर भी अलंकाररहित रचना को काव्यत्व नहीं माना है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥ = १।८

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि की अनुष्णता अस्वाभाविक है उसी प्रकार अलंकार-शून्य शब्द एवं अर्थों का काव्यत्व स्वीकार करना भी अस्वाभाविक है। अतः जयदेव के मत से अलङ्कार युक्त ही काव्य हैं।

वस्तुतः जयदेव ने इस आक्षेप को निभा न सके, क्योंकि उन्होंने आगे चलकर ध्वनिकाव्य के भेदों में मम्मट के अनुसार ही वस्तुध्वनि को भी स्वीकार कर लिया है—

अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति चेत्। = ७।७

साहित्यदर्पण के प्रणेता विश्वनाथ ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण तो प्रायः मम्मट के अनुसार ही किया है, किन्तु काव्य के लक्षण में काव्य को एकमात्र रस में ही मर्यादित कर दिया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ।

रसगङ्गाधर के रचयिता हमारे पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।' रमणीयता चमत्कार पर ही निर्भर है। अतः पण्डितराज के मतानुसार भी रस, रसातिरिक्त वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से काव्यत्व माना जा सकता है। इधर डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अपनी अलङ्कार कारिका में अलङ्कार को काव्य की आत्मा माना है—

काव्येऽलङ्कार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यतः ।
अन्यकायस्थितो धर्मः निमन्यत्रात्मतां व्रजेत् ॥ = २६

और काव्यमार्ग में अलंकार और ध्वनि को नर और नारायण स्वीकार किया है—

अलङ्कारो ध्वनिश्चेति द्वयं तत् काव्यवर्त्मनि ।
नारायणो नरश्चेति द्वयं तद्वदवस्थितम् ॥ = २१

राजशेखर की काव्यमीमांसामें काव्यपुरुष के प्रति वाग्देवता सरस्वती के—'अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्करिष्यन्ति' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि काव्य में चाहे कितनी रमणीयता क्यों न हो, पर उसे भी अलङ्कारों की अपेक्षा होती ही है। जैसे किसी नववयस्का ललना के सहज सुन्दर शरीर में उसके मनोहर परिधान एवं लुभावने आभूषणों से एक अपूर्व चमत्कारी शोभा एवं मनोमोहकता आ जाती है, उसी प्रकार निसर्गसुन्दर काव्यमें शब्द और अर्थ के अलंकारों से लोकोत्तर चमत्कारिता, कमनीयता एवं असदृश स्वाद्यता आ जाती है। यही कारण है कि अनेक काव्यमर्मज्ञ मनीषियों ने काव्यालङ्कारों का परिचय देने के लिए अनेक अलङ्कार ग्रन्थोंकी रचना की है।

इस प्रकार प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने काव्य में अलंकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और अलंकारों के क्रमविकासपर भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, महाराज भोज, कविशेखर, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज और अप्पयदीक्षित आदि ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। अतः ये अलंकारसम्प्रदाय के मुख्य परिपोषक आचार्य माने हैं।

अलंकारों का क्रमिक विकास

अलंकारों के क्रमविकास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि सबसे पहले भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक इन चार अलंकारों को स्वीकार किया है तथा उसके अनन्तर व्यास जी ने अग्निपुराणमें १६ अलंकार माने हैं। इसके बाद ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व तक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु भामह के काव्या-

लङ्कार में किये गये पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के उल्लेख से स्पष्ट है कि उनके द्वारा शनैः-शनैः अलङ्कारों का क्रम विकास चलता रहा। भामह के बाद दण्डी, उद्भट और वामन के समय आठवीं शताब्दी तक अलङ्कारों की संख्या लगभग ५२ हो गई। इसके बाद ईसा की ९वीं शताब्दी के रुद्रट से लेकर महाराज भोज, आचार्य मम्मट और रुय्यक इन चारों आचार्यों के समय (१२वीं ई०) तक अलंकारों की संख्या १०३ हो जाती है। उसके बाद जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पण्डितराज के समय (१८ वीं शती) तक अलंकारों की संख्या १९१ तक पहुच जाती हैं।

इनमें अनेक अलंकार ऐसे हैं, जिनमें कोई विलक्षण चमत्कार न होने के कारण अन्य अलंकारों के अन्तर्गत उनका समावेश हो जाता है। इसी प्रकार कुछ अलंकार ऐसे भी हैं, जिनमें सर्वथा चमत्कार के अभाव में सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा वे स्वीकार नहीं किये गये हैं। इसके बाद जयदेव के हुंकृति, अर्थानुप्रास, स्फुटानुप्रास एवं विश्वनाथ के पाँचो अलंकार इनके ग्रन्थों तक ही सीमित रह गये। इसके अतिरिक्त जयदेव तथा अप्पयदीक्षित द्वारा नवीन निरूपित अलंकारों को भी काव्यप्रकाश के उद्योत टीकाकार नागेश भट्ट ने मम्मटनिरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत दिखाने की चेष्टा की है।

मम्मट द्वारा स्वीकृत ६९ अलंकारों में संकर, संसृष्टि और सूक्ष्म ये तीन अलंकार जयदेव ने नहीं लिखे हैं, शेष ६६ मम्मट के अनुसार हो हैं। इसी प्रकार अप्पय दीक्षित ने जयदेव द्वारा लिखित ८९ अलंकारों में ८ शब्दालंकार १ हुङ्कृति ये ६ नहीं लिखे, अनुमान को दीक्षित ने प्रमाण लङ्कार के अन्तर्गत लिखा है। इस प्रकार उन्होंने ११८ अलङ्कार लिखे हैं।

इस काल में केवल अलंकारों की संख्यावृद्धि और उनका रूप परिष्कृत और विकसित ही नहीं किया गया, किन्तु अन्य सभी काव्य विषय विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा शाणोत्तीर्ण किये जाकर परिष्कृत और चमत्कृत कर दिये। अतः ईसा की छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का काल साहित्य के विकासक्रमका यथार्थ ही महत्त्वपूर्ण काल है।

तदनन्तर बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक साहित्य के क्रमविकास का अन्तिम काल है। इस काल में रस, ध्वनि, और अलंकारों का विवेचन प्रायः काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व के अनुसार ही होता रहा। यद्यपि अलंकारों की संख्या में वृद्धि अवश्य होती रही। विभिन्न लेखकों के द्वारा निरूपित अलंकारों की संख्या १९१ तक पहुच गयी थी, किन्तु इस परिवर्द्धित संख्या में अनेक अलंकारों का पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कार में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त काल में साहित्य का कोई नवीन सिद्धान्त भी आविष्कृत नहीं हुआ है और न इस समय के लेखकों में विश्वनाथ और पण्डितराज के सिवा कोई उल्लेखनीय लेखक ही हुआ, जिनके ग्रन्थों में मौलिकता का परिचय मिलता हो और जो ध्वन्यालोक एवं काव्य प्रकाश के पश्चात् उच्चश्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकता हो। शेष ग्रन्थ पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं या प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्यारूप हैं।

विशेष

अलङ्कारसंप्रदाय के उन्नायक आचार्य दण्डी का काव्यादर्श पण्डित-मण्डली का अत्यधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसके द्वितीय, तृतीय परिच्छेदों में अलंकारों का और विशेषतः अर्थालंकारों में उपमा तथा शब्दालंकारों में यमक जैसा शास्त्रीय और सारगर्भित विवेचन किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता है। अलंकारसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों में इनका शीर्ष स्थान है। इनकी असामान्य प्रतिभा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके काव्यादर्श पर तरुण वाचस्पति की हृदयंगमा टीका और पं० नरसिंह देव शास्त्री की कुसुम प्रतिभा आदि सुप्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गई हैं।

दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा स्वीकार किया है। भामह की अपेक्षा दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार दिखाई देता है, क्योंकि इन्होंने अलंकारों के साथ-साथ गुण और रीति का भी प्रतिपादन किया है। यथार्थ में दण्डी ने अलंकारों की अपेक्षा रीति के विवेचन में अधिक उत्सुकता प्रगट की है। यद्यपि भामह का प्रभाव दण्डी की प्रवृत्तियों पर लक्षित होता है, फिर भी अपनी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने स्वतन्त्र रूपसे मौलिक विचारों की रचना की है।

दण्डी के बाद अलंकारसम्प्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हुए हैं। उनके ग्रन्थ का नाम अलंकारसारसंग्रह है। भामह के काव्यालंकार पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भामह विवरण नामसे लिखी है। अपने ग्रन्थों में उद्भट ने यद्यपि भामह के सिद्धान्तों को ही विस्तार से प्रतिपादित किया है, किन्तु सूक्ष्म-सूक्ष्म अपने दृष्टिकोणों को रखने की प्रणाली इतनी सुलझी हुई थी कि भामह तक की प्रतिभा को इन्होंने एक प्रकार से पराभूत कर दिया है। और यही कारण था कि उनके उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों का ध्यान भामह की कृति की अपेक्षा उद्भट की कृतियों पर अधिक केन्द्रित हुआ। उसके हाथों से अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन इस प्रकार हुआ कि उनकी संख्या ५० तक पहुँच गई। अलंकारों के क्षेत्र में उनके वैज्ञानिक वर्गीकरण की पद्धति उपयोगी सिद्ध हुई है।

आचार्य वामन ने अलंकारों की महत्ता पर विशेष बल दिया। उन्होंने अलंकारों को न केवल काव्य के बाह्य सौन्दर्य का साधनमात्र बताया, वरन् उसको काव्य के अन्तर्भूत सौन्दर्य का भी कारण बताया है। अलंकारों के इस युग में काव्यानुभूति और काव्याभिव्यञ्जन के लिए अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। अलंकारों का महत्त्व यहाँ तक बढ़ा कि रस, ध्वनि, गुण, दोष, रीति आदि सभी विषयों का समन्वय अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा।

इस प्रकार भामह से लेकर रुद्रट तक अलङ्कारसम्प्रदाय का स्वर्ण युग रहा है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जो अलंकारों की संख्या मानी है उसका विवरण इस प्रकार है—

आचार्य	ग्रन्थ	अलंकारसंख्या
(१) भरतमुनि	नाट्यशास्त्र	४
(२) महर्षि व्यास	अग्निपुराण	१६
(३) भामह	काव्यालङ्कार	३९
(४) दण्डी	काव्यादर्श	३५
(५) उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	४०
(६) वामन	काव्यालंकारसूत्र	३३
(७) रुद्रट	काव्यालंकार	५२
(८) मम्मट	काव्यप्रकाश	६७
(९) रुय्यक	अलंकारसर्वस्व	८१
(१०) जयदेव	चन्द्रालोक	८६
(११) अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	१२४
(१२) विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	१३५
(१३) पण्डितराज जगन्नाथ	रसगङ्गाधर	७०

जयदेवत्रयी

जयदेव नाम के तीन कवि उपलब्ध होते हैं—(१) एक गीतगोविन्द के रचयिता, (२) दूसरे तत्त्वचिन्तामण्यालोक के कर्ता और (३) तीसरे चन्द्रालोक के प्रणेता थे।

(१) इनमें गीतगोविन्द के रचयिता परम रसिक एवं राधाकृष्ण के उपासक पीयूषकी वर्षा करने वाले जयदेव कवि के पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम रमा देवी था, जिन्होंने अपने प्रियशिष्यपराशर प्रभृति के कण्ठसंगीत के लिए गीतगोविन्द की सरस कविता की थी। इसका उल्लेख गीतगोविन्द में उसके कर्ता जयदेव कविने स्वयं किया है—

श्रीभोजदेवप्रभावस्य रमादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥

(२) दूसरे तत्त्वचिन्तामण्यालोक के कर्ता पक्षधर जयदेव थे, जिनकी जन्मभूमि मिथिला थी। उस समय के प्रकाण्ड विद्वानों में इनकी ख्याति थी और ये बड़े अच्छे नैयायिक थे। इन्होंने अपनी प्रखर विद्वत्ता को चमकाने के निमित्त न्याय के प्रसिद्ध और दुरूह जैसे ग्रन्थ पर आलोक नाम की टीका लिखी है। न्यायक्षेत्र में प्रसिद्धि के कारण इन्हें पक्षधर की उपाधि मिली थी।

(३) तीसरे जयदेव का पीयूषवर्ष उपनाम था। अतः अलङ्कार ग्रन्थ चन्द्रालोक के प्रणेता पीयूषवर्षोपनामक जयदेव ही थे। इन्होंने चन्द्रालोक के प्रथम मयूख के दूसरे श्लोक में ही अपने आपको पीयूषवर्ष नाम से घोषित किया है[1] और प्रतिमयूख के अन्त में श्रीहर्ष कवि के

---

१. चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। = १।२

नैषधीयचरित महाकाव्य के समान ही अपने पिता का नाम महायाज्ञिक महादेव और माता का नाम पतिभक्तिमती सुमित्रा देवी बतलाया है।

अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है चन्द्रालोक के निर्माता पीयूषवर्ष जयदेव उपर्युक्त दोनों जयदेवों से सर्वथा भिन्न हैं।

जयदेव का परिचय

संस्कृतसाहित्य के इतिहास में जयदेव का ऊँचा स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ चन्द्रालोक के लेखक जयदेव कवि हैं। इनका उपनाम पीयूषवर्ष था। इनकी माता का नाम सुमित्रा था, जो पतिभक्तिपरायणा थी तथा पिता का नाम महादेव था, वे सत्रादि यज्ञों में अत्यन्त दक्ष थे, जिसका उल्लेख स्वयं जयदेव ने श्रीहर्ष के नैषधीय चरित के समान चन्द्रालोक के प्रतिमयूख के अन्तिम श्लोक में किया है।[१] इनका गोत्र कौण्डिन्य था तथा ये कुण्डिनपुर = विदर्भ के निवासी थे और श्रीरामचन्द्र के परम भक्त थे।[२] ये अलंकार ग्रन्थ चन्द्रालोक के लेखक होने के कारण तो आलंकारिक थे ही, कवि तथा तार्किक भी थे।[३] इनकी प्रतिभा विलक्षण थी।

जयदेव का समय

पीयूष वर्ष जयदेव ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी न तो अपने समय का उल्लेख किया है और न अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है। इन्होंने चन्द्रालोक के प्रथम मयूख में काव्य लक्षण का विचार करते हुए काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट पर आक्षेप करके अलंकाररहित रचना को चाहे वह रसध्वनि युक्त भी क्यों न हो–काव्यत्व नहीं माना है।[४] तथा लक्षणा

---

१. महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्ति-प्रणिहित-मतिर्यस्य पितरौ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ = १।१६

२. (क) कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो–
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥ = प्रसन्नराघव, १।१४

(ख) लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः ॥ = वही १।१५

३. येषां कोमलकाव्य-कौशलकला-लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ॥ = वही १।१८

४. अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥ = चन्द्रालोक १।८

तेन षड्विधा इस मम्मट सम्मत लक्षणा के छह भेदों को 'शुद्धं सारोपं....इति षड्विधा।' (९।१२,१३) इन कारिकाओं में स्वीकार कर लिया है। इससे सिद्ध होता है कि जयदेव मम्मट के अनन्तर हुए हैं। इतिहासकारों ने मम्मट का समय ११वीं शती का अन्त माना है।

दूसरी ओर १६वीं शती में वर्तमान केशव मिश्र ने अपने अलंकारशेखर में जयदेव के प्रसन्नराघव कान्कद्लो कदली करभः करभः, (१।३७) यह श्लोक उद्धृत किया है। और १३३० में वर्तमान शिंगभूपाल ने अपने रसार्णवसुधाकर में प्रसन्नराघव का उल्लेख किया है जिससे जयदेव १३वीं शती से अर्वाचीन नहीं हो सकते। तथा जयदेव ने अपने चन्द्रालोक रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का अनेक अनुकरण किया है एवं अलंकारपरिभाषाओं में विकल्पालंकार का अक्षरशः उल्लेख किया है। अतः जयदेव का समय ११६० ई० के पूर्व नहीं हो सकता। इसलिए इनका समय १२वीं शताब्दी माना जा सकता है।

जयदेव की कृतियाँ

पीयूष की वर्षा करने वाले जयदेव की कृतियों का अन्वेषण करने पर अभीतक इनकी केवल दो कृतियाँ उपलब्ध हैं—एक प्रसन्नराघव नाटक तथा दूसरा अलंकार ग्रन्थ चन्द्रालोक।

(१) प्रसन्न-राघव—रामायण की कथा के आधार पर निर्मित है, जिसमें ७ अंक हैं और ३९३ पद्य हैं। प्राथमिक ४ अंकों में सीतास्वयम्बर, परशुरामपराभव, और धनुर्भङ्गकालिक रावण, और बाणासुर का वर्णन बड़ा ही चमत्कारी है। गंगा, यमुना और सरयू नदियों के संवाद के साथ-साथ बालि-सुग्रीव की कथा वर्णित है। हंस के मुख से श्रीरामचन्द्र के सुवर्णमृग का अनुसरण करना प्रदर्शित है। ५वें अङ्क में गोदावरी और समुद्र के संवाद के साथ जानकीहरण का वर्णन है। जटायु की मृत्यु, जानकी का ऋष्यमूक पर्वत पर आभूषण त्याग। ६ठे अंक में रामविलाप और ७वें अंक में युद्धकाण्ड की कथा अंकित है।

इस प्रसन्नराघव नाटक की भाषा अत्यन्त मनोरम और सरल है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस और इस नाटक में अनेकत्र साम्य है। मालूम पड़ता है कि गोस्वामी जी ने रामायणमें उसी के भाव और अक्षरों का अनुवाद किया है। जैसे प्रसन्नराघ वनाटक में—

चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलतापम्।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारय वहसि शीतलमम्भः॥
(प्र० रा० ६।३२)

रामचरितमानस में—

चन्द्रहास हरु मम परितापं रघुपति विरह अनल संतापम्।
शीत निशा तव असिवर धारा कह सीता हरु मम दुःख भारा॥

नाटकमें— उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थी चन्द्र लेखेव परस्त्री-भाल - पट्टिका॥

रामायणमें— सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथ चन्दा की नाईं।

(२) चन्द्रालोक

चन्द्रस्य = चन्द्रमसः आलोक = इव अलोको काव्योपयोगिनां विषयाणां प्रकाशः यस्मिन्निति चन्द्रालोकः। इस प्रकार व्युत्पत्ति से चन्द्रालोक शब्द निष्पन्न होता है। यद्यपि ग्रन्थ का मौलिक रूप काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की अपेक्षा स्वल्पकाय है तथापि इसमें आवश्यक सभी काव्यविषयों का बड़ी मार्मिकता के साथ समावेश कर जयदेव ने अपनी सिद्धहस्तता का पूर्ण परिचय दिया है। चन्द्रालोक के प्रकाशमें इनकी काव्यकला निखरी हुई है।

मम्मट ने काव्य-प्रकाश की रचना १० उल्लासों में की है। इसको ध्यान में रखते हुए जयदेव ने भी चन्द्रालोक का प्रणयन १० मयूखों में ही किया है। इससे स्पष्ट होता है कि जयदेव को अपने ग्रन्थ चन्द्रालोक का स्तर भी काव्यप्रकाश की अपेक्षा किसी प्रकार कम रखना अभिप्रेत नहीं था। इसीलिए इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश पर कटाक्ष भी किया है।

इतने लघु कलेवर ग्रन्थ में काव्य से सम्बद्ध प्रायः सभी विषय उदाहरणसहित सरल भाषा में उपस्थित कर देना इस ग्रन्थ की विशेषता है। ग्रन्थ की शैली मन्जुल एवं हृदयग्राहिणी है। यही कारण है कि आरम्भिक छात्रों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी माना जाता है और पाठ्यग्रन्थ के रूप में अधिक समय से चलता आरहा है। इसकी भाषा प्रवाहयुक्त और स्पष्ट है। कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक यह सोचकर लिख रहा है कि पाठक को विषयवस्तु पहले से ही ज्ञात है। अतः कहीं-कहीं वाक्य अस्पष्ट हो गये हैं और परिभाषायें भी नहीं दी गई हैं। शीर्षक से परिभाषा अन्वर्थकता के आधार पर निकालनी पड़ती है। संक्षिप्त किन्तु सुबोध और सरल शब्दों में अलंकार के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। इसके पञ्चम मयूख में अर्थालंकार का विस्तृत विवेचन है, उसी को अक्षरशः लेकर अप्पय दीक्षित ने उसकी वृत्ति लिखी है, जो कुवलयानन्द के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वयं अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द के आरम्भ में लिखा है—

> चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः।
> रम्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥
> येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षण श्लोकाः।
> प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥

चन्द्रालोक में प्रायः ३५० अनुष्टुप् छन्दः हैं। छोटे अनुष्टुप् छन्द के पूर्वार्द्ध में परिभाषा और उत्तरार्द्ध में अलङ्कारों के लक्षण दिए गये है। इस प्रकार एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों का समवेश हो गया है। उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों की परिभाषाएँ अति-रोचक हो गई हैं। आडम्बररहित सूक्ष्मता के कारण चन्द्रालोक अलंकारजगत् में परम प्रसिद्ध है।

चन्द्रालोकके दश मयूखों में निम्नाङ्कित विषय अङ्कित हैं—प्रथम मयूख में काव्य का हेतु, काव्य का लक्षण, शब्द के रूढ़ि आदि भेद। दूसरे में दोष, तीसरेमें कविशिक्षाविषय, चौथे में दश गुण, पाचवें में अलंकार, छठे में रस, भाव, और रीति, सातवें में व्यञ्जना और ध्वनि, आठवें में गुणीभूत व्यंग्य, नवें में लक्षण और दशवें में अभिधा का निरूपण है।

चन्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और उपभेदों की गणना न की जाय तो ८१ अर्थालङ्कार निरूपण किये गये हैं, जिनमें १० अपने पूर्ववर्ती रुद्रट और भोज द्वारा निरूपित नहीं दिखाये गये हैं और २ शब्दालङ्कार एवं १४ अर्थालंकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक निरूपित किये गये हैं। इनमें कुछ अलंकार ऐसे हैं, जिनमें लक्षण या उदाहरण जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के भेदों में गतार्थ हो जाते हैं। संभव है जयदेव ने कुछ अलंकार अपने किसी पूर्ववर्ती अज्ञातनामा आचार्य के किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ से लिए हैं, क्योंकि इनमें इन्होंने स्वयं ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि ये अलंकार मेरे द्वारा आविष्कृत हैं।

प्रायः सभी अलङ्कारों में उपमा के लिए अपरिहार्य उपमान और उपमेय किसी न किसी रूप में आते हैं। इसी लिए उपमा को अर्थालङ्कारों में सबसे पहले स्थान दिया गया है। काव्यशास्त्रकारों ने इसका बहुत विस्तृत वर्णन किया है तथा प्रायः सभी आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अलंकारों को उपमामूलक मानते हुए सामान्य रूप से यह कहा है कि उपमा अन्य अलंकारों का बीज है। उपमा की प्रशस्ति में निम्नाङ्कित उक्तियाँ अत्यन्त रोचक हैं। अप्पय दीक्षित ने अपनी चित्र मीमांसा में कहा है, उपमा एक नटी है, जो विचित्र भूमिकायें अपना कर नृत्य करती हुई काव्य के रंगमंच पर रसिकों का मनोरञ्जन करती है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

अपने अलंकारसर्वस्व में रुय्यक ने कहा है कि मैं जानता हूँ कि उपमा अलंकारों की शिरोमणि, काव्य लक्ष्मी का सर्वस्व और कविकुल की माता है—

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वरत्नं काव्यसम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

इस प्रकार उपमा काव्यसंसार का बीज है, सभी अलंकार उपमा से विकसित होते हैं। उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक शब्द ये चारों जहाँ शब्द से प्रतिपादित हों वहाँ पूर्णोपमा होती है और जहाँ इनमें किसी एक का अभाव हो वहाँ लुप्तोपमा होती है। चन्द्रालोक में जयदेव के पूर्णोपमा का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोऽरिव ॥ ५ । १ ॥

अर्थात्—सुन्दरी के वक्षस्थल पर छलकते हुए उभड़े स्तनों की तरह जहाँ उपमान और उपमेय इन दोनों की समानता की शोभा का विकास हो। वहाँ उपमा अलंकार होता है। उपपूर्वक माङ् धातु से भाव में अङ् प्रत्यय करने पर उपमा शब्द बनता है। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में जयदेव के उक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध को पूर्णोपमा का उदाहरण बनाकर परिभाषा और उदाहरण अलग-अलग कर दिये हैं, जिससे उपमेय भी चारु हो गया है। कुवलयानन्द ने चन्द्रालोक को चारुतर बनाना ही अपना लक्ष्य बनाया है। उक्त संशोधन निम्नांकित है—

हंसीव कृष्ण ! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते ।

अर्थात्—हे श्रीकृष्ण ! आपकी कीर्ति, हंसिनी की भाँति स्वर्गंगंगा में स्नान कर रही है। यहाँ कीर्ति, हंसिनी, स्वर्गंगा में स्नान तथा इव क्रमशः उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमा वाचक शब्द है। अतः यह पूर्णोपमा का उदाहरण है।

चन्द्रालोक के उदाहरण में तो द्वयोः पद उपमेय है, स्तनयोः पद उपमान है, सादृश्यलक्ष्मीं यह पद साधारण धर्म है और इव पद उपमान वाचक है। अतः यहाँ भी पूर्णोपमा अलंकार है। अलंकारोंमें सबसे अधिक भेद उपमा के ही होते हैं।

चन्द्रालोक का प्रभाव

पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने पूर्ववर्ती आलंकारिक आचार्यों का अधिक अनुकरण किया है। मम्मट के काव्यप्रकाश के दश उल्लासों के आधार पर इन्होंने अपने चन्द्रालोक में भी दश उल्लास रखे और उनसे बढ़ने के निमित्त ही उनके काव्य के लक्षण अनलंकृती अंश का उपहास भी किया, फिर भी दोषांकुश प्रकरण में उनसे सहायता भी ली है। भरत के नाट्यशास्त्र में आये हुए लक्षणों को भी इन्होंने अपनाया है और गुण के विवेचन भी भरत का अनुकरण किया है। वृत्तियों के वर्णन में इन्होंने रुद्रट का अनुकरण किया है। इस प्रकार विभिन्न आलंकारिकों के ग्रन्थों का सारभाग लेकर इन्होंने अपने चन्द्रालोक को सजाया है। चन्द्रालोक की लोकप्रियता का मुख्य कारण संक्षेप से सारसंग्रह भी है। अप्पय दीक्षित को चन्द्रालोक का अलङ्कार भाग इतना प्रिय लगा कि उसके आधार पर इन्होंने इसके टीका के रूपमें कुवलयानन्द की रचना कर डाली।

जोधपुरनरेश यशवन्त सिंह को चन्द्रालोक इतना प्रिय लगा कि उन्होंने इसके आधार पर हिन्दीभाषा में इसका पद्यबद्ध अनुवाद कर भाषाभूषण नाम रख दिया। बाद हिन्दी के आलंकारिकोंने भाषाभूषण का अनुकरण कर अलङ्कार ग्रन्थों की रचना करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार उन पर भी चन्द्रालोक का प्रभाव स्वाभाविक है। नमूने के लिए चन्द्रालोक तथा भाषाभूषण इन दोनों के कुछ पद्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

चन्द्रालोकमें—

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥ = ५।२६

भाषाभूषणमें—

पर्यस्त जु गुन एक को और विषे आरोप।
होई सुधांशु नाहि यह वदन सुधांसु ओप ॥

चन्द्रालोकमें—

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिगूहने।
शरीरं तव सोत्कम्पं ज्वरः किं न सखि! स्मरः ॥=५।२८।

भाषाभूषणमें—

भ्रान्त अपह्नुति वचन सो भ्रम जब पर को जाइ ।
ताप करत है ज्वर नहीं, सखी मदन तप आइ ॥

चन्द्रालोकमें—

कैतवापह्नुतिर्व्यक्ते व्याजाद्यैर्निह्नवे पदैः ।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवान् ॥=

भाषाभूषण में—

कैतव अपह्नुति एक को मिस करि वरने आन ।
तीछन तीय कटाक्ष मिस बरसत मनमथ बान ॥

चन्द्रालोकमें—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्य - शौर्यौदार्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र ! याचकाः कल्पशाखिनः॥ =

भाषाभूषण में—

अलंकार अत्युक्ति यह वर्णन अतिशय रूप ।
याचक तेरे दान ते भए कल्पतरु भूप ॥

चन्द्रालोक की प्राचीन टीकाएँ

चन्द्रालोक की प्रसिद्धि और प्रियता के कारण इस पर अच्छी-अच्छीटीकाएँ लिखी गई हैं। प्रद्योतनभट्टाचार्य की शरदागम या चन्द्रालोकप्रकाश है, जिसका प्रकाशन चौखम्भासंस्कृतसीरिज, वाराणसी से हुआ है। दूसरी प्रौढ एवं वृहत् टीका वैद्यनाथ पायगुण्डे की है, जिसका नाम रमा है। इसका प्रकाशन गुजराती, प्रींटिंग प्रेस से हुई है। पायगुण्डे जी ने कुवलयानन्द पर भी अलंकारचन्द्रिका नाम की टीका लिखी है। जैसे—

नत्वा गुरुं वैद्यनाथः पायगुण्डेति कीर्तितः ।
व्याख्यां रमाख्याख्यां चन्द्रालोके विलासिनीम् ॥

और—

विद्वद्वृन्दमहामान्य-रामचन्द्रात्मजन्मना ।
विदुषा वैद्यनाथेन कृतालङ्कारचन्द्रिका ॥

इस प्रकार रामचन्द्र जी के सत्पुत्र वैद्यनाथ पायगुण्डे द्वारा कुवलयानन्द पर चन्द्रालोक के आधार पर निर्मित अलंकारचन्द्रिका नाम टीका से ही कुवलयानन्द की महती प्रतिष्ठा हुई थी—

असौ कुवलयानन्दश्चन्द्रालोकोत्थितोऽपि सन् ।
प्रतिष्ठां लभते नैव विनालङ्कारचन्द्रिकाम् ॥

तीसरी महत्त्वपूर्ण टीका गंगाभट्ट को एकागम है, जो चौखम्बासंस्कृतसीरिज से प्रकाशित है। चौथी टीका विरूपाक्ष जी की शारदाशर्वरी है, पाचवीं चन्द्रालोकदीपिका है, छठीं, निगूढार्थदीपिका है, सातवीं वाजचन्द्रचन्द्रिका है। ये चारों (४–७) टीकाएँ अप्रकाशित हैं, पर तत्तत् पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक आधुनिक टीकायें भी हैं, जो परीक्षार्थी छात्रों के लिए विभिन्न दृष्टि से लिखी गयी हैं। इनमें सुबोधचन्द्रपन्त जी की संस्कृतहिन्दी टीका अच्छी है।

इस व्याख्या की आवश्यकता

चन्द्रालोक की प्राचीन व्याख्यायें अतिसंक्षिप्त और क्लिष्ट हैं। अतः वे बहुज्ञ विद्वानों के उपयोग की वस्तु हैं, सर्वसाधारण के बोधगम्य नहीं। अभिनव टीकाओं में किसी-किसी विषय पर आवश्यकता से अधिक ग्रन्थान्तरों की बात दिखाकर पाठकों को मौलिक पदार्थों के समझने में उलझनें पैदा हो गई हैं। अब तक जो व्याख्याएँ मेरे समक्ष आयीं उनके देखने से प्रतीत होता है कि कुछ व्याख्याओं में निष्प्रयोजन वागाडम्बर कुछ स्थानों में अपना पण्डित्यप्रदर्शन के लिए अनपेक्षित विस्तार तथा कई जगहों में अत्यावश्यक प्रतिपादन की कमी है। विषय को स्पष्ट करने के निमित्त संयत तर्कों का प्रयोग अत्यावश्यक है। ऊल-जलूल विषयों का प्रसंग बैठा देना आज की व्याख्याओं का एक मार्ग हो गया है। व्याख्याकार विद्वान् यह नहीं समझते कि मैं किसके लिए व्याख्या कर रहा हूँ, विद्वानों के लिए या कोमलमति परीक्षार्थी छात्रों के लिए।

भूमिका में भले ही प्रसंगवश आवश्यक बातें विचारी जा सकती हैं, पर मूलभाग में नहीं वहां तो सन्तुलित शब्दों में मूल का वास्तविक अभिप्राय व्यक्त कर देना ही आवश्यक है, ताकि अध्येता ग्रन्थ के वास्तविक तात्पर्य से अवगत हो सकें।

वस्तुतः आज कल कुछ लिख देने को प्रवृत्ति चल पड़ी है, पहले की तरह आधिकारिक विद्वान् व्याख्या की तरफ प्रवृत्त नहीं होते। जो हैं भी, वे बहुत कम हैं। आज कल की अधिक टीकाओं को देखकर भोजराज का यह पद्य स्मृत हो आता है—

दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः॥ १

अतः कतिपय सुहृदों तथा परीक्षार्थी छात्रों के अनुरोध करने पर चन्द्रालोक के अध्ययन और अध्यापन करने वालों की विशेष सुविधा के हेतु मैंने अन्वय, व्याख्या तथा हिन्दी करके इसे सरल और सहसा बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। यदि इससे विद्वत्समाज का तथा परिक्षार्थी छात्रवर्ग का कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

मैं अपने पूर्ववर्ती उन व्याख्याकारों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी कृतियों से मधुकर के समान यत्र-तत्र उपयोगी विषयों का विशेष रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया है।

आभार प्रदर्शन

हां, पुराणेतिहासार्थं एवं एम० ए०, डॉ० श्रीपति अवस्थी ने तो हिन्दी टीका में मेरा सर्वत्र सहयोग किया ही है, पर पञ्चममयूख पर उनकी स्वतन्त्र टीका है। अतः मैं उनका अभार प्रदर्शन करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूं और उनके भविष्य की शुभ कामना करता हूँ।

मैं अपने परम प्रिय, भावुक एवं उत्साही शिष्य डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय सं० महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से इसका सम्पादन कर इस पुस्तक को पाठकों के हाथोंमें पहुँचाने का श्लाघ्य सहयोग दिया है।

अन्त में मैं चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी के प्रकाशक महोदय के संस्कृतप्रेम का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अर्थचिन्ता से मुक्त कर इस अभिनव उपयोगी व्याख्या से सम्पन्न चन्द्रालोक का प्रकाशन कर पाठकों के हाथों में प्रस्तुत कर दिया है।

सबसे आखीर में पाठकों से विनम्र प्रार्थना है कि यदि वे कृपापूर्वक सहानुभूति के साथ इसकी मानवसुलभ त्रुटियों को सूचित कर देंगे तो, कृतज्ञतापूर्वक उनका मार्जन अगले संस्करण में अवश्य कर दिया जायेगा, क्योंकि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्त्र समादधति सज्जनाः॥

भारतीयसाहित्यशोधसंस्थान, वाराणसी
दीपावली, सं० २०३४

विद्वद्वशम्वद —
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

पञ्चममयूखस्य नवमदशमश्लोकयोः

खड्गबन्धचित्रम्
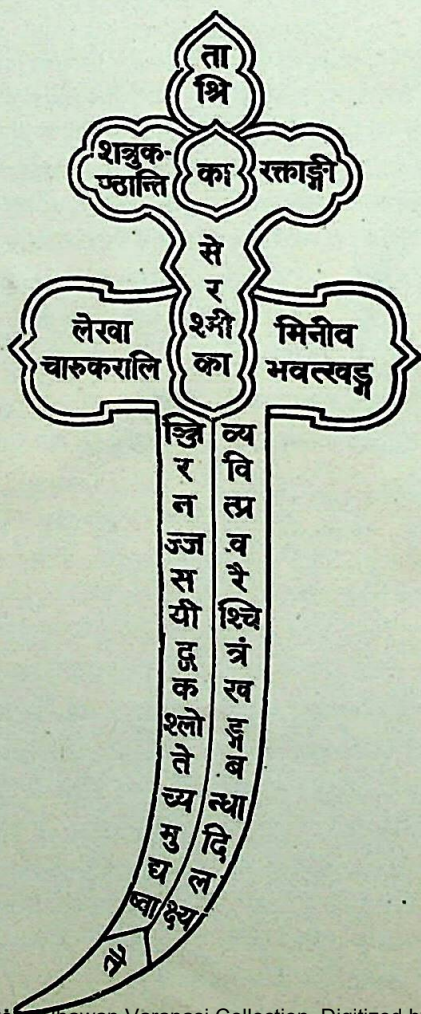
मयूखानुसारं विषयविवरणम्

प्रथममयूखे

द्वितीयमयूखे

तृतीयमयूखे

चतुर्थमयूखे

पञ्चममयूखे

षष्ठमयूखे

चन्द्रालोककारिकानुक्रमणिका

श्रीः

चन्द्रालोकः

संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः
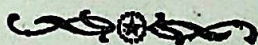
प्रथमो मयूखः

उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जाग्रत्कलङ्कैरव-
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे।
दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिरमला लोकत्रयीदर्शिका
सा नेत्रत्रितयीव खण्डपरशोर्वाग्देवता दीव्यतु ॥ १ ॥

अन्वयः—सा वाग्देवता खण्डपरशोः नेत्रत्रितयी इव दीव्यतु, या मन्दताम् अरसतां (च) उच्चैः अस्यति, (तथा च सुमनसाम्) जाग्रत्कलङ्कैः अवध्वंसं हस्तयते, (या च पुनः) सुमनसां मानसे उल्लासिनी दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिः अमला (अत एव) लोकत्रयीदर्शिका (वर्तते इति शेषः)।

व्याख्या—अथ चन्द्रालोकनामकं ग्रन्थं प्रणिनिनीषुः महाविद्वान् अलङ्कार-चक्रचूडामणिः पीयूषवर्षोपनामको जयदेवकविः "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" इति शिष्टाचारानुमितश्रुतिनिर्देशानुसारं चिकीर्षितस्यास्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरि-समाप्त्यर्थं वाग्देवतारूपवस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलं शिष्य-प्रशिष्य-तच्छिष्यशिक्षायै श्रोतॄणामध्येतॄणां च निःश्रेयसे ग्रन्थादौ निबध्नाति—उच्चैरिति।

—सा = सर्वलोकप्रसिद्धा, वाग्देवता = वागेश्वरी भगवती सरस्वती, खण्डपरशोः = खण्डः गदासुरेण सह संग्रामे भग्नः परशुः = कुठारो यस्य स तस्य खण्डपरशोः शिवस्य, नेत्रत्रितयी—त्रयोऽवयवा यस्याः सा त्रितयी नेत्राणां त्रितयीति नेत्र-त्रितयी = सूर्यचन्द्राग्निरूपं लोचनत्रयम्, इव = यथा, दीव्यतु = द्योतताम्, सर्वो-त्कर्षेण वर्तताम्। या = वाग्देवता, मन्दतां = मन्दमतित्वम्, अरसतां = नीरसताम्, उच्चैः = अत्यन्तम्, अस्यति = प्रक्षिपति, सर्वतोभावेन निर्मूलयति, तथा च या सुमनसां = विदुषाम्, जाग्रत्कलङ्कैः—जाग्रतः = जागरूकाः, वर्तमाने ये कलङ्काः =

शास्त्रानभ्यासजन्यसमाजजाड्यादयो दोषाः इति जाग्रत्कलङ्काः तैः जाग्रत्कलङ्कैः, रवध्वंसं—रवानां = शब्दानां ध्वंसः = विनाशः इति रवध्वंसः तं रवध्वंसं वचनमूकताम्, हस्तयते—हस्तेन आक्रमति हस्तयते = दूरीकरोति, या च पुनः सुमनसां = विदुषाम्, मानसे = मनसि, उल्लासिनी = उल्लसनशीला, दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिः—दुष्टानां = विविधदोषविशिष्टानां प्रतिवादिनां मानसे उद्यन् = प्रादुर्भवन् यो मदः = सवज्ञंतारूपो गर्वः तस्य नाशनं = विनाशकम्, अचिः = तेजो यस्याः सा दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिः, अमला = निर्मला, लोकानां = भुवनानां त्रयी = लोकत्रयी त्रिलोकी, तस्याः दर्शिका = प्रदर्शयित्री, यद्वा भगवतो महादेवस्य दक्षिणं नेत्रं सूर्यात्मकं वामनेत्रं चन्द्रात्मकं, मध्यनेत्रं चाग्निरूपात्मकं प्रसिद्धम्। तथा च शिवस्य नेत्रत्रये दक्षिणं नेत्रं मन्दतामरसतां मन्दानि=मुकुलीभावापन्नत्वान्निष्प्रभाणि च तानि तामरसानि=कमलानि चेति मन्दतामरसानि तेषां भावः तत्ता तां मन्दतामरसताम् = निष्प्रभकमलत्वम्, उच्चैः = ऊर्ध्वम्, अस्यति = प्रक्षिपति, कमलानां संकोचं दूरीकुरुते—शिवदक्षिणनेत्रस्य सूर्यात्मकत्वात्। सूर्योदये एव कमलानि विकसन्तीति कविसम्प्रदायः। चन्द्रात्मकं वामं लोचनं सुमनसां = पुष्पाणां मध्ये के = जले रवः शब्दो यस्य स केरवो यद्वा के—जले रौतीति केरवो हंसः तस्येदं प्रियं कैरवं = कुमुदं रात्रिविकाशिकमलम्, तस्य ध्वंसः = विनाशः तं कैरवध्वंसम्, जाग्रत्कलम्—जाग्रत्यः = स्फुरन्त्यः कला यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा जाग्रत्कलं हस्तयते दूरीकरोति। चन्द्रोदये कुमुदानां विकासस्यानुभवसिद्धत्वात् शिववामनेत्रस्य चन्द्रमयत्वं सूचितम्। एवमनलात्मकं मध्यमं नेत्रमपि दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिः—दुष्टः = नीचः उद्यन् = शिवस्य पुरः प्रादुर्भवन् यः मदनः = कामः तस्य असनं = नाशकम् अर्चिः = ज्वाला यस्मिन् तत् दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिः, भगवता शिवेन स्वललाटस्थितनेत्राग्निना मदनस्य दाहकत्वात्तस्य वह्निमयत्वं सूचितम्। एवं त्रिरूपा सुमनसां = देवानां मानसे = अन्तःकरणे उल्लासिनी = विलासवती अमला = निर्मला लोकत्रयीदर्शिका = भूर्भुवःस्वरूपलोकत्रयप्रदर्शयित्री, खण्डपरशोः शिवस्य नेत्रत्रयीव सा वाग्देवता = भगवती सरस्वती दीव्यतु = विद्वज्जनवदनेषु रमताम्।

एवं श्लोकोऽयमस्ति द्व्यर्थकः-एको वाग्देवतापक्षः, द्वितीयश्च शिवनेत्रत्रयीपक्षः। अत्र शब्दश्लेषानुप्राणितः पूर्णोपमालङ्कारः। वाग्देवताविषयिणी रतिरत्र व्यङ्ग्या। वृत्तं च शार्दूलविक्रीडितमस्ति। अत्र शब्दश्लेषचमत्कारेण उपमेयाया वाग्देवताया विशेषणानि द्वितीयमर्थं प्रदाय शिवनेत्रत्रयस्यापि विशेषणानि भवन्तीति पूर्णोपमा

सिद्धयति। एवं भगवतः शिवस्य नेत्रत्रयेण वाग्देवतायाः सादृश्यं संदर्शयन् पीयूषवर्षी महाविद्वान् जयदेवकविः सरस्वत्या महिमातिशयं बोधयति।

'इस श्लोक के दो अर्थ हैं—एक अर्थ सरस्वती के पक्ष में घटता है और दूसरा भगवान् शिव के नेत्रत्रय पक्ष में भी घट जाता है। **सरस्वती के पक्ष में**—जो सरस्वती देवी मन्दमतित्व (अज्ञता) और नीरसता को दूर करती हैं और शास्त्रों के अनभ्यास के कारण विद्वत्सभा में हुई मूकतारूपकलङ्क को विनाश कर देती हैं, विद्वानों के अन्तःकरण में स्फुरित होती रहती हैं तथा उत्पन्न होते हुए दुष्टों के गर्व रूप मद का नाश किया करती हैं, निर्मल अत एव तीनों लोकों को दिखलाने वाली वह सरस्वती देवी विद्वानों के मन में सदा विलास करती रहें।

शिवजी के नेत्रत्रय के पक्ष में—भगवान् शङ्कर के दक्षिण, वाम एवं मध्य ये तीनों नेत्र क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि के स्वरूप माने गये हैं। इनमें सूर्यरूप दक्षिण नेत्र कमलों के मुकुलीभावरूप मन्दता को दूर करता है (कमलों को खिलाता है), दूसरा चन्द्ररूप-नेत्र रात में खिलने वाले कैरव (कमल-विशेष) की कलाओं को विकसित कर देता है तथा तृतीय अग्निरूप-नेत्र उत्पन्न होने वाले दुष्ट कामदेव का विनाश कर देता है। (भगवान् शङ्कर ने इसी ललाटस्थ तृतीय नेत्र से निर्गत वह्नि के द्वारा काम को भस्मसात् कर दिया था) इस प्रकार देवताओं के अन्तःकरण को आनन्द देने वाले एवं तीनों लोकों के पदार्थों को प्रत्यक्ष की तरह दिखाने वाले भगवान् सदाशिव के तीनों नेत्र भक्तों के अन्तःकरण में विराजमान हों॥ १॥

हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचारवीचिनिलयालङ्कारवारांनिधे-
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती॥ २॥

अन्वयः—हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः रसान् सम्वर्द्धयध्वम्, रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते! (त्वम्) अस्मत् मा प्रकाशीभव, विचारवीचिनिलयालङ्कारवारांनिधेः उल्लासाय अयं कृती पीयूषवर्षः स्वयं चन्द्रालोकं वितनुते।

व्याख्या—प्रयोजनप्रदर्शनपूर्वकं स्वग्रन्थयोः नामनी निबध्नन् ग्रन्थकर्ता शिष्याणामवधानाय प्रतिजानीते—हं हो इति। हं हो इति पदद्वयम्। तत्र 'हं रोषभाषणेऽनुनयेऽपि च' इति हैमकोषानुशासनात् हमिति अनुनये, हो इति च सम्बोधने। हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः—चिन्मयानि = चित्प्रचुराणि यानि चित्तानि = अन्तःकरणानि मनांसि तान्येव चन्द्रमणयः = चन्द्रकान्तशिलामणयः, यद्वा चिन्मयाः = ज्ञानरूपाः चित्तानि = चेतांसि एव चन्द्रमणयः तत्सम्बुद्धौ हे चिन्मयचित्तमणयः! यूयं रसान्—रस्यन्ते=आस्वाद्यन्ते इति रसाः तान् रसान् = शृङ्गारा-

दीन् काव्यरसान् संवर्द्धयध्वं = वृद्धि प्रापयध्वम् । रे रे इति निन्दाभिव्यक्तये संबोधनम् । रे रे स्वैरिणि = हे स्वच्छन्दचारिणि, औचित्यविचारवर्जिते, निर्विचारकविते—निर्गतः विचारः औचित्यचर्चा यस्याः सा निर्विचारा सा च कवितेति निर्विचारकविता तत्संबुद्धौ निर्विचारकविते ! अस्मत् = अस्मत्तः मा प्रकाशीभव = अस्मात्सकाशान्न निःसर । यद्वा अस्मत्तः प्रकाशः=प्रभवो यस्याः सा अस्मत्प्रकाशा, न अस्मत्प्रकाशा इति अनस्मत्प्रकाशा, अनस्मत्प्रकाशा अस्मत्प्रकाशा संपद्यस्व तथा भवेति अस्मत्प्रकाशीभव, तादृशी मा भवेत्यर्थः । नाहं निर्विचारकवितां कवयितुमिच्छामीति भावः । उक्तार्थे हेतुमाह—उल्लासायेति । विचारा = भावना एव वीचयः = तरङ्गाः तासां निचयः = समूहः यस्य स तादृशो यो अलङ्कार एव वारांनिधिः = समुद्रः, तस्य विचारवीचिनिचयालङ्कारवारांनिधेः उल्लासाय = वृद्धये प्रसाराय वा अयं = एषः प्रस्तुतः कृती = कुशलः पीयूषवर्षः—पीयूषाणि सुधा वर्षतीति पीयूषवर्षः = पीयूषवर्षापरनामकः जयदेवकविः, चन्द्रो वा स्वयं = साक्षात् चन्द्रालोकं चन्द्रस्य = चन्द्रमस आलोकः = प्रकाश इव आलोको यस्यासौ चन्द्रालोकः तं तथाभूतं चन्द्रालोकाख्यं ग्रन्थं चन्द्रिकां वा वितनुते = विस्तारयति, विरचयतीत्यर्थः । यथा चन्द्रोदये पीयूषवर्षे चन्द्रालोके प्रसृते सति चन्द्रकान्तमणयः स्रवन्ति, चन्द्रिकाचाकचक्यात् कृष्णाभिसारिकाणां गमनमवरुद्धं भवति, उल्लासाधिक्याच्च समुद्रोऽप्युद्वेलितो भवति, तथैव पीयूषवर्षिणा जयदेवकविना चन्द्रालोकाख्येऽलङ्कारग्रन्थे निर्मिते सति शृङ्गारादिरसप्रचुरा रमणीयाः कविताः प्रकाशमेष्यन्ति, कृष्णाभिसारिकाणामिव निर्विचारकवितानां मार्गः कुण्ठितो भविष्यति, विचारविशेषप्रवणस्यालङ्कारशास्त्रसागरस्योर्मयश्च प्रसरिष्यन्ते इति भावः ।

अत्रालङ्कारादयो विषयाः, तेषामवरोधः प्रयोजनम्, प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावसम्बन्धः, तज्जिज्ञासुरधिकारीति अनुबन्धचतुष्टयं सूचितं भवति । तेन चास्य चन्द्रालोकग्रन्थस्य प्राशस्त्यं जायते । तथा चोक्तमभियुक्तैः—

'सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम् ।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यं तस्माद् ग्रन्थः प्रशस्यते ॥'

हे चन्द्रकान्तमणियों के समान निर्मल और प्रत्युत्पन्न मति वाले विद्वानों ! आप लोग शृङ्गार आदि रसों को बढ़ावें और हे विचारशून्य कविते ! तू स्वेच्छाचारिणी होने के कारण उचित-अनुचित विवेकहीन हो, इसलिए कविसम्प्रदाय की मर्यादा का उन्मूलन करने वाली हो । अतः मुझ से तेरा प्रकाश न हो, तू मुझ से दूर ही रहा करो, क्योंकि काव्यार्थभावनारूपतरङ्ग-समूह से सुशोभित अलङ्काररूपसागर की पुष्टि के निमित्त पीयूषवर्ष उपनामक जयदेव कवि चन्द्रालोक नामक अलङ्कार शास्त्र का निर्माण कर रहा है ।

इसका एक तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी चारों तरफ फैल जाने पर चन्द्रकान्तमणियों से जलस्राव होने लगता है, कृष्णाभिसारिका नायिकाओं का आना-जाना रुक जाता है और समुद्र की तरङ्गें उद्वेलित हो उठती हैं उसी प्रकार पीयूषवर्षी जयदेव कवि के द्वारा चन्द्रालोक नामक अलङ्कार ग्रन्थ के प्रकाशित हो जाने पर शृङ्गारादिरस प्रचुर मनोरम कविताएँ प्रकाश में आती हैं, कृष्णाभिसारिका नायिकाओं के समान निर्विचार कविता का प्रवाह रुक जाता है और विचारविशेषसम्पन्न अलङ्कारशास्त्ररूप समुद्र की लहरें फैलने लगती हैं ॥ २ ॥

युक्त्याास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वत-
क्षीराम्भोधिरगाधतामुपदधत्सेव्यः समाश्रीयताम् ।
श्रीरस्मादुपदेशकौशलमयं पीयूषमस्माज्जग-
ज्जाग्रद्भासुरपद्मकेशरयशःशीतांशुरस्माद् बुधाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे बुधाः ! अगाधताम् उपदधत् युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वतक्षीराम्भोधिः सेव्यः । अस्मात् श्रीः, अस्मात् उपदेशकौशलमयं पीयूषम्, अस्मात् जगज्जाग्रद्भासुरपद्मकेशरयशःशीतांशुः समाश्रीयताम् ।

व्याख्या—ननु बहूनामन्येषामलङ्कारनिरूपकाणां ग्रन्थानां सद्भावात् अस्य चन्द्रालोकस्य निष्प्रयोजनकतया पुरुषाणामत्र ग्रन्थे प्रवृत्तिरेव न स्यादिति सामान्यतोऽलङ्कारशास्त्रप्रयोजनद्वारा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिकमेतदध्ययनमिति तत्फलं पण्डितप्रवृत्त्यर्थं ब्रवीति—युक्त्येति ।

हे बुधाः !=अयि पण्डिताः ! अगाधतां=अतलस्पर्शतां, गूढाशयतां वा उपदधत् =बिभ्रत्, युक्तिभिः = साधकबाधकप्रमाणोपन्यासादिभिः उपायैः आस्वाद्याः= आस्वादयितुं योग्याः लसन्तः = शोभायमानाः ये रसाः = शृङ्गारादयः तेषामेका = अद्वितीया वसतिः = वासस्थानं यस्मिन् स युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः । यद्वा युक्तिश्च आस्वाद्यलसद्रसश्चेति युक्त्यास्वाद्यलद्रसो तयोरेका वसतिः । अथवा युक्त्या इति तृतीयैकवचनान्तमेव पृथक् पदम् । सहितस्य भावः साहित्यं = साहित्यशास्त्रम्, सरस्वत्या इदं सारस्वतं = वाङ्मयसाहित्यं च तत् सारस्वतं च साहित्यसारस्वतं तदेव क्षीरं = दुग्धं तस्य अम्भोधिः = समुद्रः । यद्वा साहित्यमलङ्कारशास्त्रं तद्रूपा या सरस्वती तद्रूपं यत् क्षीरं = चन्द्रालोकाख्यग्रन्थरूपं तदेवाम्भोधिः = सागरः सेव्यः = सेवनीयः । सेवनस्य फलमाह—श्रीरित्यादि । अस्मात् = ग्रन्थरूपात् क्षीरसागरात् श्रीः = लक्ष्मीः समाश्रीयताम् = राजादीनां स्तुत्या, सत्काव्यनिर्माण-द्वारा वा सन्तुष्टान्महीपतेः सकाशात् द्रव्यं लभताम् ।

अस्मात् = ग्रन्थात् उपदेशकौशलमयं—उपदेशः = परस्य तत्त्वज्ञानानुशासनं ब्रह्मविद्याबोधनं वा तत्र यत् कौशलं = चातुर्यं तत्प्रचुरं उपदेशकौशलमयं पीयूषम् = अमृतं समाश्रीयताम्, तथा च अस्माद् ग्रन्थात् जगति = संसारे, समस्ते भुवने जाग्रत् = विकसितं भासुरं = देदीप्यमानं पद्मकेशरवत् = कमलकिञ्जल्कवत् यद् यशः = कीर्तिः तद्रूपो यः शीतांशुः = शीतरश्मिः चन्द्रः स समाश्रीयताम्। एतद्ग्रन्थमन्थनात् सकललोकव्यापि निर्मलं यशो लप्स्यते इति भावः।

क्षीराम्भोधिपक्षे—क्षीरार्णवोऽपि अगाधो भवति। स्वादुरसैकवसतेर्मुख्यं स्थानं वर्तते। अस्मात् श्रीः, पीयूषं, शीतांशुश्चेत्यादीनि चतुर्दशरत्नानि निर्गतानि। तथा च यथा मथ्यमानात् क्षीरसागरात् लक्ष्मीः, अमृतं, चन्द्रमाश्च समुत्पद्यन्ते तथैवाध्ययनाध्यापनमननानुशीलन-द्वारा ग्रन्थादस्मात् लक्ष्मीः (द्रव्यम्) उपदेशकौशलप्रचुरं वचोऽमृतं, कीर्तिरूपश्चन्द्रश्च नूनं समुत्पत्स्यन्ते इति भावः।

हे विद्वानो! साधक-बाधक प्रमाणविशिष्ट युक्तियों के द्वारा आस्वाद्य भावना के अनुकूल मनोहर शृङ्गारादि रसों का एकमात्र निवासस्थान, अत्यन्त गम्भीर आशय वाला साहित्यशास्त्ररूपी क्षीरसागर का मन्थन करें। अर्थात् इस चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ का पठन-पाठन एवं आलोचन करें। इस ग्रन्थ के आश्रय से राजा-महाराजाओं की स्तुतिरूप ग्रन्थों की रचना कर धन प्राप्त करें और समस्त संसार में व्याप्त होने वाला देदीप्यमान कमलकेशर के समान यश को प्राप्त करें।

जिस प्रकार क्षीर सागर अथाह है, सुस्वादु जल का एकमात्र स्थान है और लक्ष्मी, अमृत और चन्द्रमा आदि का उत्पादक है, उसी प्रकार यह ग्रन्थरत्न भी अथाह है, स्पृहणीय शृङ्गारादि रसों का स्थान है और लक्ष्मी (ऐश्वर्य) का उत्पादक भी है। अतः यह समाश्रयणीय है ॥ ३ ॥

तं पूर्वाचार्यसूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः।
यं प्रस्तूय प्रकाशन्ते मद्गुणास्त्रसरेणवः ॥ ४ ॥

अन्वयः—(वयम्) तं पूर्वाचार्यसूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः। यं प्रस्तूय मद्गुणाः त्रसरेणव इव प्रकाशन्ते।

व्याख्या—अत्रेदानीं जयदेवकविः स्वाहङ्कारं परिहरति—तमित्यादिना। वयं तं सर्वलोकप्रसिद्धम्, पूर्वे = प्राचीनाः ये आचार्याः = भरतानन्दवर्धनमम्मटादयो ग्रन्थकाराः ते सूर्या इव, तेषामुक्तयः = वचांसि तानि एव ज्योतींषि = प्रकाशः तेषां स्तोमः = समूहपुञ्जः, तस्य य उद्गमः = उद्भवस्थानं तं पूर्वाचार्य-सूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः = नुमः। तं कं, यं प्रस्तूय = सम्यगाश्रित्य मद्गुणाः—

मम गुणा मद्गुणाः = मदीया गुणाः, त्रसरेणवः = षट्परमाणवः, प्रकाशन्ते = प्रदीप्यन्ते । प्रत्यक्षविषया भवन्ति ।

त्रसरेणुनिर्वचनं यथा मनुस्मृतौ—

'जालान्तर्गते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥' ८।१३२

भिषजस्तु—

'जालान्तर्गते सूर्यकरे ध्वंसो विलोक्यते ।
त्रसरेणुश्च स ज्ञेयस्त्रिंशता परमाणुभिः ॥'

नैयायिकानां परमाणुर्यथा—

'जालान्तरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः ।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥'

यथा सूर्योदये सति त्रसरेणवो गवाक्षादिमार्गेण तत्किरणेषु प्रकाशन्ते तथैव मम गुणा अपि पूर्वेषामाचार्याणां ग्रन्थाधारेणैव प्रकाशन्तेतराम् ।

मैं सूर्य के समान प्रकाशमान प्राचीन आचार्य भरत, आनन्द वर्धन, मम्मट आदि की उस उक्तिरूप ज्योतिःसमूह को प्रणाम करता हूँ जिसका सहारा लेकर मेरे वैदुष्यादि गुण त्रसरेणुओं के समान प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते ।
किं तु चक्षुर्मृगाक्षीणां कज्जलेनेव भूष्यते ॥ ५ ॥

अन्वयः—एतेन एतेषां मतं दूष्यते (इति) न आशङ्कनीयम्, किन्तु मृगाक्षीणां चक्षुः कज्जलेन इव भूष्यते ।

व्याख्या—अथास्य ग्रन्थस्य प्राचीनाचार्यमतविरुद्धतयाऽनुपादेयत्वमाशङ्कमानान् प्रत्याह—नाशङ्कनीयमिति । एतेन = ग्रन्थकर्त्रा जयदेवेन चन्द्रालोकाख्यग्रन्थेन वा एतेषां = पूर्वाचार्याणाम्, मतं = सिद्धान्तः, दूष्यते = दूषितं क्रियते मलिनीक्रियते वा इत्येवं न, आशङ्कनीयं = नहि संशयितव्यम्, किन्तु = परन्तु, मृगाक्षीणां मृगस्य इव अक्षिणी यासां ता मृगाक्षिण्यः तासां मृगाक्षीणां = हरिणलोचनानां, चञ्चलनयनानां रमणीनाम्, चक्षुः = दृष्टिः, नयनं वा कज्जलेन इव = अञ्जनेन यथा भूष्यते = अलंक्रियते ।

यथा निसर्गसुन्दरीणां रमणीनां नयनयोः दीयमानं मलिनमपि कज्जलं तासां सौन्दर्यं वर्धयति तथैव कज्जलसमेन मद्वचनेन पूर्वेषामाचार्याणां मतमुपकरोत्येव, न पुनरपकरोतीति भावः ।

इस ग्रन्थकर्ता जयदेव कवि या चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ के द्वारा प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन किया जाता है, ऐसी आशङ्का किसी को नहीं होनी चाहिए। किन्तु जैसे मृगनयनी रमणियों के स्वभाव-सुन्दर भी नेत्र काले-काले काजल से भूषित ही होते हैं, दूषित नहीं होते, वैसे ही मेरे इस ग्रन्थ से आपाततः दूषित भी प्राचीन आचार्यों का मत भूषित ही होगा, दूषित नहीं।

अर्थात् सूर्य के होते हुए दीपक की क्या आवश्यकता? अच्छी वस्तुओं के रहते हुए बुरी वस्तु की क्या जरूरत है? इस आशंका का परिहार करते हुए लेखक का कथन है कि चञ्चल नेत्रों के समक्ष काला काजल कुछ भी नहीं है, किन्तु मृगनयनियों के सौन्दर्य में वह चार चाँद लगा देता है। उसी प्रकार यह मेरा ग्रन्थ चन्द्रालोक पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों की श्रीवृद्धि ही करेगा, कोई बुराई नहीं ॥ ५ ॥

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ॥ ६ ॥

अन्वयः—श्रुताभ्याससहिता प्रतिभैव कवितां प्रति मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लताम् इव हेतुः ।

व्याख्या—काव्यनिर्माणकारणमाह—प्रतिभैवेति । श्रुतं = शास्त्रम् तस्य योऽभ्यासः = अध्ययनाध्यापनपूर्वकं भूयो भूयोऽनुशीलनं तेन सहिता, यद्वा श्रुतं शास्त्रम् अभ्यासः काव्यज्ञशिक्षया पुनः पुनरनुशीलनात्मकः ताभ्यां सहिता = युक्ता श्रुताभ्याससहिता = शास्त्रानुशीलनसंबद्धा, प्रतिभा = नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः, कवितां प्रति = कवित्वं प्रति मृदम्बुसम्बद्धा मृत् = मृत्तिका, अम्बु = जलं ताभ्यां सम्बद्धा = सङ्गता बीजमाला = बीजपरम्परा, लतां = वल्लरीं प्रति इव = यथा हेतुः = कारणम् । अयं भावः यथा मृत्तिकाजलसहित एव बीजपुञ्जः लताया उत्पत्तिं प्रति कारणं भवति, न केवलं बीजपुञ्जः, मृत्तिकामात्रं जलमेव वा कारणं भवति तथैव श्रुताभ्याससम्बद्धैव प्रतिभा काव्ये कवितां प्रति हेतुः । केवलं प्रतिभा श्रुताभ्यासादिरेव वा न कारणं भवति, यद्वा यथा घटनिर्माणे मिलितामेव दण्ड-चक्र-चीवराणां कारणत्वं तथैव शास्त्राभ्याससहकृतायाः प्रतिभाया एव काव्य-प्रणयने कारणत्वं, न तु तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकस्य पृथक्-पृथक् हेतुत्वम-भिप्रेतमस्ति । तथा च श्रुताभ्यासप्रतिभेतिसमुदितास्त्रय एव पदार्थाः दण्डचक्र-चीवरादिन्यायेन काव्यं प्रति हेतुः । अत एवोक्तं मम्मटाचार्येण काव्यप्रकाशे—

'शक्तिर्निपुणतालोक-शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणम् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥'

प्रतिमालक्षणं च रुद्रकोशे—

'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥'

जिस प्रकार मृत्तिका तथा जल से संयुक्त ही बीजसमूह लता की उत्पत्ति में हेतु है वैसे ही शास्त्रज्ञान और शास्त्र के मनन से अनुगत कल्पनाशील प्रतिभा ही कवित्वोत्पादन में निमित्त है। अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी, पानी और बीज तीनों मिलाकर लता की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार शास्त्रों के पठन-पाठन से सम्बद्ध नये-नये विषयों का अवगाहन करने वाली प्रतिभा ही काव्यनिर्माण में कारण है॥ ६॥

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ ७॥

अन्वयः—निर्दोषा, लक्षणवती, सरीतिः, गुणभूषणा, सालङ्काररसानेकवृत्तिः वाक् काव्यनामभाक् (भवति)।

व्याख्या—अथेदानीं काव्यलक्षणं व्याचष्टे—निर्दोषेति। निर्गता दोषा यस्याः सा निर्दोषा = काव्यदोषरहिता, लक्षणानि यस्यां सन्तीति लक्षणवती = काव्यलक्षणलक्षिता लक्षणसहिता, रीतिभिः सहिता सरीतिः = काव्यरीतिसहिता, गुणाः = श्लेषादयः तैः भूषणा = भूष्यमाणा, अलङ्कारा = उपमादयः रसाः = श्रृंगारादयः तैः सहिता सालङ्काररसा=अलङ्काररससम्पन्ना, अनेकवृत्तिः—अनेकाः= बहुप्रकाराः कौशिक्यादयो वृत्तयः यस्याः सा अनेकवृत्तिः = वृत्तिसहिता, वाक् = उक्तविशेषणविशिष्टा वाणी, काव्यं = कविकर्म तस्य नाम = आख्यां तां भजतीति काव्यनामभाक् = काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं भवतीति शेषः। एवञ्च निर्दोषाद्युक्तधर्मविशिष्टशब्दत्वं काव्यत्वमिति काव्यलक्षणं सम्पन्नम्। तच्च काव्यं शब्दनिष्ठमित्यप्यस्याभिप्रेतम्। काव्यप्रकाशकारं मम्मटमपहाय प्रायः सर्वेऽप्यालङ्कारिकाः काव्यस्य शब्दनिष्ठत्वमेवाङ्गीकुर्वन्ति। मम्मटस्तु व्यासज्यवृत्त्या शब्दार्थोभयनिष्ठत्वं मनुते। अत एव तेन काव्यलक्षणे 'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्युक्तम्।

आगे कहे जाने वाले पद-पदांश, वाक्यार्थ और रसगत काव्यदोषों से रहित, वक्ष्यमाण लक्षणों से युक्त, पाञ्चाली, लाटी, गौडी, वैदर्भी नामक काव्य की रीतियों से विभूषित, शब्दार्थगत अलङ्कारों से चमत्कृत, श्रृङ्गारादि रसों से सुशोभित तथा अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों से सम्बद्ध वाक्यको काव्य कहते हैं।

विशेष—यहाँ जयदेव ने काव्य को केवल शब्दनिष्ठ माना है और अन्य आलङ्कारिक आचार्यों ने भी काव्य को शब्दनिष्ठ ही स्वीकार किया है, किन्तु मम्मटाचार्य ने अपने काव्य प्रकाश में व्यासज्यवृत्ति से शब्द एवं अर्थ दोनों में व्याप्त होने के कारण काव्य को

शब्दार्थोभयगत माना है। इसलिए उन्होंने काव्य लक्षण में कहा है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' ॥ ७ ॥

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ ८ ॥

अन्वयः—यः अनलङ्कृती शब्दार्थौ काव्यम् अङ्गीकरोति असौ कृती कस्मात् अनुष्णम् अनलं न मन्यते ।

व्याख्या—अनलङ्कृती शब्दार्थौ काव्यमिति वादिनः काव्यप्रकाशकारस्याचार्यमम्मटस्य मतं दूषयति—अङ्गीकरोतीति । यः = कोऽपि काव्यप्रकाशकारः, अनलङ्कृती = अनलङ्कारौ अलङ्कारशून्यौ शब्दार्थौ = वाच्यवाचकौ काव्यं = कविकर्म अङ्गीकरोति = स्वीकरोति, असौ कृती—एष कुशलः पण्डितः, अनुष्णं = उष्णतारहितं, तापहीनम्, अनलं = अग्निम्, कस्मात् = कस्माद्धेतोः न मन्यते, कुतो न स्वीकरोति । यथाऽग्नेरनुष्णत्वमस्वाभाविकं तथैवालङ्कारशून्ययोः शब्दार्थयोः काव्यत्वस्वीकारोऽप्यवास्तविक एव । अस्येदं रहस्यम् काव्यप्रकाशे काव्यलक्षणं कुर्वता मम्मटाचार्येण 'अनलंकृती पुनः क्वाऽपीत्युक्त्वा अलङ्काररहितयोरपि शब्दार्थयोः काव्यत्वमङ्गीकृतं, किन्तु जयदेवेन अग्नेरनुष्णत्वकल्पनामस्वाभाविकीमुद्भाव्य परिहासव्याजेन तद् दूषितम् । यत्तु क्वचित् 'स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' इत्युक्तं तद् जयदेवानभिमतम्' । तस्मादलङ्कारादियुक्तमेव काव्यमित्यभिप्रायः ।

जो अलङ्कार रहित शब्दार्थ को काव्य मानता है, वह विद्वान् अग्नि को तापरहित क्यों नहीं मानता? जिस प्रकार आग में अनुष्णत्व का होना सर्वथा असंभव है, वैसे ही अलङ्कार रहित शब्दार्थ में काव्यत्व का होना भी सर्वथा अस्वाभाविक है ॥ ८ ॥

विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते ।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥ ९ ॥

अन्वयः—विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्दः इष्यते । स पुनः रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः त्रिधा (भवति) ।

व्याख्या—स्वमते काव्यत्वस्य वाङ्निष्ठत्वात्तद्घटकशब्दभेदं सलक्षणं लक्षयन्नाह—विभक्त्युत्पत्तय इति । विभक्तीनां = सुप्तिङन्तरूपाणामुत्पत्तये = प्रादुर्भावाय, योग्यः = योग्यतामापन्नः व्याकरणशास्त्रनिष्पन्नः, शास्त्रीयः=शास्त्रसम्बन्धी, शब्दः= पदम्, इष्यते = इष्टः, स च शब्दः पुनः रूढयौगिकतन्मिश्रैः = रूढः, यौगिकः, योगरूढ-इति प्रभेदैः, त्रिधा = त्रिप्रकारको भवति । तत्र केवलं समुदायशक्त्या अर्थ-

प्रत्यायकत्वं रूढत्वं यथा—डित्थडवित्थादयः। केवलमवयवशक्त्या अर्थप्रत्यायकत्वं यौगिकत्वं यथा—पाचक-पाठकादयः। समुदायशक्त्या अवयवशक्त्याचार्थप्रत्यायकत्वं योगरूढत्वं यथा—पङ्कजादयः।

शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले, सुबन्त तथा तिङन्तविभक्ति को रूपधारण करने की योग्यता वाले वर्णसमुदाय को शब्द कहते हैं। वह शब्द रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ भेद से तीन प्रकार का माना गया है।

प्रकृति-प्रत्यय से उत्पन्न अर्थ का ध्यान न देकर केवल समुदायशक्ति से अर्थज्ञान कराने वाले वस्तुविशेष में संकेतित शब्द को रूढ कहते हैं। जैसे डित्थ, डवित्थ आदि शब्द। केवल प्रकृति-प्रत्यय के योग से उत्पन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को यौगिक कहते हैं, जैसे पाचक, पाठक, वाचक आदि शब्द। अवयवशक्ति और समुदायशक्ति से अर्थ बोध कराने वाले शब्द को योगरूढ कहते हैं, जैसे—पङ्कज शब्द। यहाँ अवयवशक्ति से 'पङ्क में उत्पन्न' रूप अर्थ तथा समुदाय शक्ति से कमलरूप अर्थ इन दोनों प्रकार के अर्थ का बोध होता है। अतः पङ्कज शब्द योगरूढ है।

विशेष—मुख्य रूप से विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक सुप्, जिनसे संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों के पद बनाये जाते हैं। तथा दूसरी तिङ् जिनसे क्रियाओं के द्वारा पद बनाये जाते हैं। किसी वाक्य में शब्द तभी प्रयुक्त होता है जब इसमें विभक्तियाँ लगा दी जाती हैं ॥ ९ ॥

अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासैस्त्रिधादिमः।
ते च वृक्षादिभूवादिमण्डपाद्या यथाक्रमम् ॥ १० ॥

अन्वयः—आदिमः (शब्दः) अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासैः त्रिधा (भवति)। ते (भेदाश्च) यथाक्रमम् वृक्षादि-भूवादिमण्डपाद्याः (ज्ञेयाः)।

व्याख्या—तत्रादौ रूढशब्दस्य भेदत्रयमाह—अव्यक्तयोगेति। आदिमः = रूढाख्यः शब्दः, अव्यक्तयोगश्च निर्योगश्च योगाभ्यासश्चेति अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभ्यासाः, तैः अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासैः = अव्यक्तयोगाख्येन निर्योगाख्येन योगाभासेन च त्रिधा = त्रिप्रकारको भवति। तेषां क्रमेणोदाहरणानि आह—ते चेति। ते अव्यक्तयोगादयो = भेदाश्च यथाक्रमं = क्रमशः वृक्ष आदिर्येषां ते वृक्षादयः, भूश्च वाश्चेत्युभौ भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, मण्डपम् आद्यो येषां ते मण्डपाद्याः, वृक्षादयश्च भूवादयश्च मण्डपाद्याश्चेति वृक्षादि-भूवादि-मण्डपाद्याः शब्दा ज्ञातव्याः।

अत्रेदं तात्पर्यम्—योगार्थे संभवत्यपि तस्य अव्यापकत्वेनानुसन्धानात् यत्र केवलं समुदायशक्त्यैवार्थप्रतीतिर्जायते सोऽव्यक्तयोगः शब्दः। यत्र च सर्वथा अवयवार्थस्य अननुसन्धानं स निर्योगः शब्दः। यत्र पुनरवयवार्थे सम्भवत्यपि तात्पर्यविषये सोऽनन्वित एव भासते स योगाभासः शब्दः। तत्रादौ अव्यक्त-

योगस्योदाहरणं वृक्षः। अत्र वृश्चत्यातपमिति योगार्थे सम्भवत्यपि पर्णरहिते वृक्षे आतपच्छेदनरूपयोगार्थस्याभावात्तत्रापि शुष्के वृक्षे वृक्षत्वजातिमादाय समुदाय-मात्रशक्त्या वृक्षशब्दः प्रयुक्तो भवतीत्ययमव्यक्तयोगो रूढशब्दः।

द्वितीयं निर्योगोदाहरणं—यथा सत्तार्थकस्य भूधातोः देवदत्तो भवतीत्यादौ व्युत्पत्तिलभ्यस्यार्थस्य सम्भवतोऽपि 'भूवादयो धातवः' इत्यादौ तस्य सम्भवो न विद्यते। अत्र भू इत्यनेन धातुरेव गृह्यते न तु सत्तारूपो व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः, इत्य-वयवार्थस्य सर्वथा अननुसन्धानात् अयं द्वितीयो निर्योगात्मको रूढशब्दः।

तृतीयं योगाभासोदाहरणमाह—यथा मण्डं पिबतीति योगाल्लब्धस्य मण्ड-कर्मकपानकर्तृत्वरूपस्य योगार्थस्य तत्कर्तरि पुरुषे सम्भवत्यपि देवदत्तो मण्डपं प्रविशतीत्यत्र गृहविशेषतात्पर्येणोच्चरिते मण्डपशब्दे मण्डपानकर्तृत्वरूपो योगार्थो नान्वेतीत्यतः समुदायशक्त्या गृहीतविशेषार्थस्य प्रतीतिरिति योगाभासात्मकोऽयं तृतीयो रूढशब्दप्रकारः।

आदिम=प्रथम रूढ शब्द अव्यक्त योग, निर्योग और योगाभास भेद से तीन प्रकार का होता है। इनके क्रमशः उदाहरण हैं—वृक्ष शब्द, भू आदि शब्द तथा मण्डप शब्द। अभि-प्राय यह है कि अवयवार्थ के अस्फुट होने के कारण जहाँ समुदायशक्ति से अर्थ का बोध हो वह अव्यक्त-योग शब्द है। जैसे 'वृश्चति आतपमिति वृक्षः' जो आतप को दूर करता है उसे वृक्ष कहते हैं। यहाँ आतपनिवारण रूप अवयवार्थ की प्रतीति सर्वत्र नहीं होती, क्योंकि पुष्प-पल्लवविशिष्ट शाखाओं से रहित ठूँठे वृक्ष में अवयवार्थ नहीं घटता। अतः वहाँ समुदायशक्ति से सामान्यतया वृक्षत्वजाति-मात्र का ही बोध होता है। जहाँ अवयवार्थ का बोध न हो वह निर्योग शब्द है। जैसे भू धातु का सत्तारूप अवयवार्थ 'भूवादयो धातवः' इस सूत्रस्थ भू शब्दमें प्रतीत नहीं होता है, किन्तु यहाँ भू शब्द से भूरूप धातु प्रतीति होती है। अतः यह निर्योग का उदाहरण है। अवयवार्थक तात्पर्यविषयीभूत अर्थ से सम्बन्ध न होने से योगाभास कहते हैं। जैसे 'मण्डं पिबतीति मण्डपः' जो चावलों का माँड़ पीता हो उसे मण्डप कहते हैं, किन्तु यह अवयवार्थ मण्डप शब्द से गृहरूप अर्थ-बोध में सहायक नहीं होता। अतः यह शब्द योगाभास है॥ १०॥

शुद्ध-तन्मूलसंभिन्न-प्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।
ते च भ्रान्तिस्फुरत्कान्ति-कौन्तेयादिस्वरूपिणः॥ ११॥

अन्वयः—यौगिकः (अपिशब्दः) शुद्धतन्मूलसंभिन्नप्रभेदैः त्रिधा (भवति)। ते च भ्रान्तिस्फुरत्कान्तिकौन्तेयादिस्वरूपिणः (सन्ति)।

व्याख्या—यौगिकस्यापि शब्दस्य त्रैविध्यमाह—शुद्धेत्यादिना। यौगिकः= यौगिकशब्दोऽपि, शुद्धतन्मूलसंभिन्नप्रभेदैः-शुद्धः=शुद्धयौगिकः तन्मूलः=यौगिक-

मूलयौगिकः, सम्भिन्नः = संभिन्नयौगिकश्चेति भेदेन त्रिधा — त्रिप्रकारको भवति। ते — भेदाश्च भ्रान्ति-स्फुरत्कान्ति-कौन्तेयादि-स्वरूपिणः — भ्रान्तिश्च स्फुरत्कान्तिश्च कौन्तेयश्चेति भ्रान्तिस्फुरत्कान्तिकौन्तेयाः ते आदयो येषां ते तादृशाः, भ्रान्ति-स्फुरत्कान्तिकौन्तेयादयः स्वरूपाणि येषां सन्तीति भ्रान्ति-स्फुरत्कान्तिकौन्तेयादि-स्वरूपिणः विज्ञेयाः। लक्षणसंगतिश्चात्रैवमवगन्तव्यम्—प्रकृति-प्रत्यययोगेन यत्रार्थ-बोधो जायते स शुद्धयौगिकः शब्दः। उदाहरणं—यथा भ्रान्तिः। अत्र भ्रमुधातोः गतिभ्रमोभयवाचकत्वस्योक्तत्वेऽपि यावत् 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यनेन क्तिन्-प्रत्ययो न भवति तावत्तदर्थावगतिर्न जायते, किन्तु क्तिन्प्रत्यये सत्येव तदर्थलाभो भवति, केवलायाः प्रकृतेरप्रयोगात्। तथा चायं भ्रान्तिशब्दः शुद्धयौगिकः।

शुद्धयौगिकयोः समासेन यत्रार्थप्रतीतिर्जायते तत्र यौगिकमूलयौगिकत्वमव-गन्तव्यम्। एतदुदाहरणं स्फुरत्कान्तिः। अत्र स्फुरत्कान्तिपदे स्फुरधातोः समुत्पन्नः स्फुरच्छब्दः शतृप्रत्यययोगेन नैजमर्थमवगमयति, एवं कमुधातुनिष्पन्नः कान्तिशब्दश्च क्तिन्प्रत्यययोगेनैव स्वार्थमवबोधयति। अत एतौ उभौ अपि शत्रन्तक्तिन्नन्तौ समासेनाभिलषितमर्थं परिचाययतः। अतः स्फुरत्कान्तिपदं शुद्ध-यौगिकमूलयौगिकं विज्ञेयम्।

यत्र च यौगिकायौगिकयोगेनार्थबोधो जायते स सम्भिन्नयौगिकः शब्दः। यथा कौन्तेय इति पदम्। अत्र राजवाचककुन्तिशब्दात् "वृद्धेत्कोशला-जादाञ्ञ्यङ्" इति पाणिनीयसूत्रेण कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्तीत्यर्थके ञ्यङ्प्रत्यये कृते 'स्त्रियामवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च' इत्यनेन तल्लुकि ङीपि च कृते यौगिकः कुन्तीशब्दो निष्पद्यते। ततः कुन्त्या अपत्यं पुमान् कौन्तेयोऽर्जुनः इति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक्-प्रत्ययेन निष्पन्नः कौन्तेयशब्दोऽर्जुनवाचकः। एवं यौगिकायौगिकयोः सम्बन्धेन कौन्तेयशब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वात् संभिन्नयौगिकत्वं प्रत्येतव्यम्।

यौगिक शब्द भी शुद्धयौगिक, यौगिकमूल-यौगिक तथा संभिन्नयौगिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। क्रमशः इनके उदाहरण हैं—भ्रान्ति, स्फुरत्कान्ति तथा कौन्तेय शब्द।

जहाँ प्रकृति-प्रत्यय के योग से अर्थ का बोध होता है उसे शुद्ध यौगिक कहते हैं। जैसे गति एवं भ्रम वाचक भ्रमु धातु से क्तिन्प्रत्यय करने पर निष्पन्न भ्रान्ति पद गमन एवं भ्रम अर्थ का बोधक होने के कारण शुद्धयौगिक शब्द है।

जहाँ दो शुद्धयौगिक शब्दों का समास करने पर अर्थ का बोध होता है, उसे यौगिक-मूलक यौगिक शब्द कहते हैं। जैसे स्फुर् धातु से शतृप्रत्यय करने पर निष्पन्न देदीप्यार्थक शुद्धयौगिक स्फुरत् शब्द तथा कमु धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बना हुआ सौन्दर्यार्थक शुद्ध यौगिक कान्ति शब्दों के साथ समास करने पर स्फुरत्कान्तिरूप-शब्द यौगिकमूलयौगिक

कहा जाता है। जहाँ यौगिक और अयौगिक शब्द के सम्बन्ध से अर्थ का बोध हो वह संभिन्नयौगिक शब्द है। जैसे कुन्तिनामक राजा की पुत्री कुन्ती यह यौगिक शब्द है। यहाँ कुन्तेः अपत्यं स्त्री इस विग्रह में ण्यङ् प्रत्यय कर के उसका लोप भी कर देने पर ङीप् प्रत्यय करके निष्पन्न कुन्ती शब्द से कुन्त्या अपत्यं पुमान् इस व्युत्पत्ति में ढक् प्रत्यय करने पर बने हुए कौन्तेय पद से कुन्ती के अन्य पुत्रों का ग्रहण न करके केवल अर्जुन का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार कौन्तेय पद यौगिक और अयौगिक शब्द के सम्बन्ध से अर्जुन का बोधक होता है। अतः यह संभिन्नयौगिक शब्द है॥ ११॥

> **तन्मिश्रोऽन्योन्यसामान्यविशेषपरिवर्तनात् ।**
> **नीरधिः पङ्कजं सौधं सागरो भूरुहः शशी ॥ १२ ॥**
> **क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिध्यति !**

अन्वयः—अन्योन्यसामान्यविशेषपरिवर्तनात् तन्मिश्रः (अपि त्रिविधो भवति), तेन नीरधिः, पङ्कजम्, सौधम्, सागरः, भूरुहः, शशी, क्षीरनीरधिः, आकाशपङ्कजं (च) सिध्यति।

व्याख्या—अथ योगरूढस्यापि त्रैविध्यं दर्शयति—तन्मिश्र इति। सामान्यं च विशेषश्चेति सामान्यविशेषौ अन्योऽन्यं = परस्परं सामान्यविशेषयोः यत् परिवर्तनं = विनिमयः तस्मात् अन्योन्यसामान्यविशेषपरिवर्तनात्। तन्मिश्रः = योगरूढः अपि त्रिविधो भवति। यथा सामान्यार्थस्थाने विशेषार्थबोधकत्वं, विशेषार्थस्थाने सामान्यार्थबोधकत्वं, सामान्यविशेषोभयार्थबोधकत्वं चेति त्रैविध्यं निर्बाधम्।

तत्र सामान्यार्थस्थले विशेषाश्रयणस्योदाहरणानि—यथा नीरधिः-नीराणि = जलानि दधातीति व्युत्पत्या निष्पन्नं नीरधिपदं सरःप्रभृतिसामान्यार्थं विहाय समुद्ररूपं विशेषमर्थं बोधयति। एवमेव पङ्कात् = कदर्मात् जातमिति व्युत्पत्त्या निष्पन्नं पङ्कजपदं पङ्कोत्पन्नशैवालादिसामान्यमर्थं विहाय कमलरूपं विशेषमर्थं बोधयति। एवं सुधाया इदं सौधं—सुधाविनिर्मितं यत् किमपि सामान्यमर्थं परिहाय राजसदनरूपं विशेषमर्थं बोधयति, सगरस्यापत्यमित्यर्थे निष्पन्नं सागरपदं सगरराजसम्बन्धि-सामान्यमर्थं परिहाय समुद्ररूपं विशेषमर्थं बोधयति, भूरुहपदं भूजातत्वरूपं सामान्यमर्थं परित्यज्य वृक्षत्वरूपमर्थं द्योतयति, शशोऽस्यास्तीति शशिपदं च शशधरपुरुषरूपं सामान्यमर्थं परित्यज्य चन्द्रत्वरूपं विशेषमर्थं सङ्केतयति।

तेन उक्तभेदत्रयस्वीकारेण क्षीरनीरधिपदम् आकाशपङ्कजपदं च सिद्धयतः। यथा क्षीरनीरधिरित्यत्र नीरधिपदस्य नीराधिष्ठानरूपसामान्यार्थे स्वीकृते क्षीर-

पदस्य वैयर्थ्यमापद्यते। अतः तन्निरासार्थं समुद्ररूपविशेषार्थः स्वीक्रियते। तेन क्षीरनीरधिपदं सिद्ध्यति। अतः क्षीरनीरधिपदं सामान्यार्थस्थाने विशेषार्थाश्रयणभेदस्वीकारेण सिद्ध्यति। एवमाकाशपङ्कजपदे पङ्कजपदस्य कमलरूपं विशेषार्थं विहाय पङ्कजनित्वरूपः सामान्यार्थो बुद्ध्यते। तेन आकाशपङ्कजं चन्द्र इति बोद्धुं शक्यते।

तन्मिश्र (योगरूढ) भी सामान्य और विशेष धर्मों के परिवर्तन के कारण कहीं सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ के बोध में और कहीं विशेष अर्थ को छोड़कर सामान्य अर्थ के बोध में तथा कहीं सामान्य एवं विशेष रूप दोनों अर्थों को छोड़कर बोध की प्रतीति से तीन प्रकार का होता है। नीरधि, पङ्कज, सौध, सागर, भूरुह और शशी ये शब्द सामान्य अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ के बोधस्थल के उदाहरण हैं।

जैसे 'नीराणि दधातीति नीरधिः' इसका सामान्य अर्थ जल को धारण करने वाला है, किन्तु यहाँ नीरधि शब्द उक्त अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर समुद्र रूप विशेष अर्थ का बोध कराता है। अतः यह शब्द सामान्य परिवर्तनात्मक योगरूढ है। इसी प्रकार पङ्कज शब्द कीचड़ में उत्पन्न शैवाल आदि सामान्य अर्थ को छोड़कर, सौधशब्द सफेदी करने का साधन, कलीरूप सामान्य अर्थ को छोड़कर, सागर शब्द राजा सगर द्वारा खनितरूप सामान्य अर्थ को छोड़कर, भूरुह शब्द भूमि से उत्पन्न लताआदिरूप सामान्य-अर्थ को छोड़कर तथा शशी शब्द शशधररूप सामान्य अर्थ को छोड़कर क्रमशः कमलत्व, राजसदनत्व, समुद्रत्व, वृक्षत्व और चन्द्रत्वरूप विशेष अर्थ का बोध कराते हैं। अतः ये शब्द सामान्य अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ के बोधक योगरूढ के उदाहरण हैं।

उक्त तीनों भेद मानने से ही क्षीरनीरधि और आकाशपङ्कज शब्द भी सिद्ध होते हैं, क्योंकि क्षीरनिरधि-पद सामान्य अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ के बोध कराने से तथा आकाशपङ्कज शब्द विशेषार्थ को त्याग कर सामान्य अर्थ का बोध कराने के कारण सिद्ध होता है। जैसे क्षीरनीरधि शब्द में नीरधि पद से जलाधार रूप सामान्य अर्थ बोध होने से नीरधि पद के साथ संबद्ध क्षीरशब्द व्यर्थ हो जाता है। इसलिए नीरधि शब्द यहाँ क्षीरसमुद्र रूप विशेष अर्थ का बोधक है। इसी प्रकार विशेष अर्थ को छोड़कर सामान्य अर्थ के आश्रय का उदाहरण आकाशपङ्कज पद है'। यहाँ पङ्कज शब्द कमल रूप विशेष अर्थ को त्याग कर आकाशगङ्गा के कीचड़ में उत्पन्न चन्द्ररूप सामान्य का बोधक है। अतः आकाशपदसह्योच्चरित पङ्कज शब्द आकाशरूपी-पङ्क में उत्पन्न पद्म रूप (चन्द्रमा रूप) अर्थ का बोध कराता है। क्योंकि चन्द्रमा को आकाशगङ्गा का कमल बनाने के अभिप्राय से यह वर्णन है। आकाशगङ्गा में कर्दम का सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। इस प्रकार आकाशपङ्कज पद विशेष अर्थ को त्याग कर सामान्य अर्थ के आश्रय का उदाहरण है ॥ १२½ ॥

विभक्त्यन्तं पदं वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थसमाप्तितः ॥ १३ ॥

युक्तार्थानां तां च विना खण्डवाक्यं स इष्यते।
वाक्यं च खण्डवाक्यं च पदमेकमपि क्वचित्॥ १४॥

अन्वयः—विभक्त्यन्तं पदम्, अर्थसमाप्तिः तद्व्यूहः वाक्यम्, युक्तार्थानां सा तां विना खण्डवाक्यम् इष्यते, क्वचित् एकम् अपि पदम् वाक्यं च (भवति)।

व्याख्या—एवं शब्दरूपां वाचं लक्षयित्वा पदादिरूपां तां लक्षयति—विभक्त्यन्तमिति। विभक्तिः=सुप्तिङ्रूपा, अन्ते=अवसाने यस्य तत् विभक्त्यन्तं=सुबन्तं तिङन्तं वा पदं भवति। यथाह भगवान् पाणिनिः—विभक्तिश्च (सुपां तिङां च विभक्तिसंज्ञा भवति) सुप्तिङन्तं पदम् (सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञकं भवति), अर्थस्य=पदार्थस्य समाप्तिः=अवसानम्, तस्याः अर्थसमाप्तितः=अर्थसमाप्तेः तेषां व्यूहः=समूहः तद्व्यूहः वाक्यं पदसमूहो वाक्यं कथ्यते। युक्तः=संबद्धः अर्थो येषां तानि तेषां युक्तार्थानाम्=सम्बद्धार्थप्रातिपदिकानाम्, ताम्=अर्थसमाप्तिं विना खण्डवाक्यं=प्रातिपदिकपदसमूहः, इष्यते=अभीष्टमस्ति। क्वचित्=कस्मिंश्चित् स्थले एकमपि पदं सुबन्तं तिङन्तरूपं वा वाक्यं च=तथा खण्डवाक्यं भवति।

जिस शब्द के अन्त में सुबन्तरूप अथवा तिङन्तरूप विभक्ति वर्तमान हो उस शब्द को पद कहते हैं और विशिष्ट एक अर्थ का बोध कराने वाले निराकाङ्क्ष पद समूह को वाक्य कहते हैं।

परस्पर संबद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले पदसमूह को अर्थ समाप्ति के न होने के कारण खण्डवाक्य कहते हैं। कहीं एक पद को भी वाक्य तथा खण्ड वाक्य कहते हैं॥१३½-१४॥

धूमवत्त्वादिति यथा देवेत्यामन्त्रणं यथा।
वाक्यान्येकार्थविश्रान्तान्याहुर्वाक्यकदम्बकम्॥ १५॥

अन्वयः—यथा धूमवत्त्वात् इति, यथा देव इति आमन्त्रणम्, एकार्थविश्रान्तानि वाक्यानि वाक्यकदम्बकम् (आहुः विद्वांसः)।

व्याख्या—क्रमश उदाहरति—धूमत्वादिति। धूमवतो भावो धूमवत्त्वं तस्मात् धूमवत्वात् इति पदं वाक्यस्योदाहरणं भवति। अत्र पञ्चम्येकविभक्त्यन्तत्वादेकं पदमेव। देवेत्यत्रापि हे देव इति आमन्त्रणं=संबोधनं पदं खण्डवाक्यं भवति। अत्र प्रथमाया एकवचनान्तत्वादेकपदत्वमव्याहतमस्ति। एकश्चासौ अर्थश्चेत्येकार्थः तत्र विश्रान्तानि=समाप्तानि इति एकार्थविश्रान्तानि=एकार्थतात्पर्यकाणि वाक्यानि=पदानि, वाक्यानां कदम्बकं=समूहः वाक्यकदम्बकं=वाक्यसमूहः

प्रबन्धो महावाक्यम् इति विद्वांस आहुरिति शेषः। तथा चोक्तम्—एकार्थतात्पर्यको वाक्यसमूहः प्रबन्धो महावाक्यं वा प्रोच्यते।

इत्थं चात्र मयूखे नवविधं शब्दं प्रतिपाद्य पदं वाक्यं खण्डवाक्यं महावाक्यञ्चेति वाचां विचारः क्रमेण संक्षेपतः प्रदर्शितः।

जैसे 'धूमवत्वात्' यह पञ्चम्यन्त होने के कारण एक पद है और निराकाङ्क्ष होने के कारण वाक्य है। संबोधन विभक्ति का 'हे देव' यह पद प्रथमा-विभक्ति का होने के कारण क्रिया की अपेक्षा करता हुआ एक अर्थ का बोधक नहीं है। अतः यह एक पद खण्डवाक्य कहा जाता है, क्रिया के विना यह वाक्य होने की सामर्थ्य नहीं रखता। जहाँ अनेक वाक्य एक अर्थ में पर्यवसित होते हैं, वह वाक्यकदम्बक है। इसे महावाक्य या प्रबन्ध भी कहा जाता है ॥ १५ ॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनाऽसावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १६ ॥

इति श्रीजयदेवकविप्रणीते चन्द्रालोके प्रथमो मयूखः समाप्तः।

अन्वयः—सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः महादेवः तद्भक्तिप्रणिहितमतिः, सुमित्रा (च) यस्य पितरौ (आस्ताम्) अनेन सुकविजयदेवेन रचिते चन्द्रालोके असौ आद्यः मयूखः सुमनसः चिरं सुखयतु।

व्याख्या—अथ ग्रन्थकर्ता जयदेवः कविः स्वपरिचयपूर्वकं प्रथममयूखसमाप्तिं निर्दिशति—महादेव इति। सत्राणि=अनेकदिनसाध्या यज्ञाः प्रमुखानि=प्रधानानि येषां ते तथाभूता ये मखाः=यज्ञाः तेषां या विद्याः=श्रौत-स्मार्त-कर्मकाण्डरूपाः तस्याम् एकचतुरः=परमप्रवीणः इति सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः महादेवः=महादेवनामा तथा तस्य महादेवस्य भक्तौ=सेवायां प्रणिहितमतिः=प्रकर्षेण निहिता स्थापिता मतिः=बुद्धिः यस्याः सा तद्भक्तिप्रणिहितमतिः=पतिव्रता, सुमित्रा=सुमित्रा नाम्नी च यस्य=जयदेवकवेः पितरौ-माता च पिता च पितरौ=जननी-जनकौ आस्ताम्। अनेन=तेन, सुकविजयदेवेन=सुकविश्चासौ जयदेवः सुकविजयदेवः तेन सुकविजयदेवेन रचिते=प्रणीते चन्द्रालोके—चन्द्रस्यालोक इव आलोको यस्मिन् स चन्द्रालोकः, तस्मिन् चन्द्रालोके=चन्द्रालोकाख्ये

ग्रन्थे, असौ = एषः, आद्यः = प्रथमः, मयूखः—मिमीते इति मयूखः = किरणः, सुमनसः = पण्डितान् देवांश्च चिरं = चिरकालम्, सुखयतु = प्रीणयतु ।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य वाग्विचारनामके
प्रथमे मयूखे पण्डित-श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

अनेक दिनों में साध्य सत्र=(यज्ञ-विशेष) विद्या में अद्वितीय अग्निहोत्री विद्वान् महादेव तथा उनकी सेवा में सदा सन्नद्ध पतिव्रता सुमित्रा जी जिनके माता-पिता हैं। उस सुकवि जयदेव के द्वारा रचित इस चन्द्रालोक का प्रथम मयूख विद्वानों को चिरकालतक आनन्द देता रहे।

विशेष—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार १३ दिन से १००० वर्ष पर्यन्त निरन्तर चलने वाले यज्ञ को सत्र कहते हैं। जिस प्रकार चन्द्र के आलोक से विश्व का कल्याण होता है उसी प्रकार इस चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ से विद्वानों को प्रकाश मिलेगा। चन्द्रालोक के विषयविभाजक प्रकरणों का नाम मयूख है। मयूख कहते हैं चन्द्रमा की किरण को। चन्द्रालोक ग्रन्थ का मयूख के नाम से प्रकरण का विभाग अन्वर्थक है। प्रथम मयूख का नाम वाग्विचार है। अतः इसमें प्रमुख रूप से शब्दों के भेद का विचार हुआ है ॥ १६ ॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के प्रथम मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा
की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधा नामक व्याख्या समाप्त ।
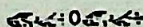
द्वितीयो मयूखः

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥ १ ॥

अन्वयः—चेतः विशता येन रमणीयता सक्षता स्यात्, शब्दे अर्थे च कृतोन्मेषः तं दोषम् उद्घोषयन्ति (बुधाः इति शेषः)।

व्याख्या—प्रथममयूखस्य सप्तमे श्लोके काव्यलक्षणकुक्षौ 'निर्दोषा लक्षणवती' इति पदं निवेशयतो ग्रन्थकारस्य जयदेवस्य दोषसामान्याभावोऽभिप्रेत इति प्रतियोगिविधया सर्वप्रथमं दोषस्यैव ज्ञानमावश्यकमिति दोषान् वक्तुं प्रतिजानीते—अथ दोषाः इति।

काव्यप्रकाशकार आचार्यमम्मटस्तु 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' मुख्यार्थो हन्यते=अपकृष्यतेऽनेन स दोषः एवं च मुख्यार्थापकर्षकत्वं दोषत्वं स्वीचकारेति तद्वत् दोषसामान्यं स्वरूपं निरूपयति—स्याच्चेत इति। चेतः=अन्तःकरणम्, विशता=प्रविशता, येन=शब्दार्थपदवाक्यगतेन, रमणीयता=चेतश्चमत्कारिरसाद्यभिव्यञ्जकता सुन्दरता, क्षतेन=विनाशेन सहिता सक्षता=विनष्टा, स्यात्=भवेत्, शब्दे=वाचके, अर्थे=वाच्ये चकाराद्रसे अलङ्कारे च कृतोन्मेषः—कृतः=विहितः, उन्मेषः=प्राकट्यं येन स तं कृतोन्मेषम्, दोषं=रमणीयताविघातकम्, काव्यदूषणम्, उद्घोषयन्ति=संगिरन्ते, आलङ्कारिका बुधा इति शेषः।

शब्द और अर्थ दोनों में होने वाले तथा हृदय में प्रवेश करते ही जिससे काव्य की रमणीयता नष्ट हो जाती हो उसे दोष कहते हैं।

विशेष—चन्द्रालोक के आरम्भ में काव्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए जयदेव कवि ने बतलाया है कि काव्य में दोष नहीं होना चाहिए।

जिस प्रकार काणत्व, कुब्जत्व आदि दोषों से रहित पुरुष शौर्यत्व, वीरत्व प्रभृति गुणों से, कटक-कुण्डल आदि आभूषणों से तथा शरीर के संगठन से सुशोभित रहता है, उसी प्रकार काव्यरूपी पुरुष के सौन्दर्य के लिए शब्द और अर्थ को उसका शरीर, रस को आत्मा, माधुर्य आदि गुणों को अलंकारों को कटक-कुण्डलों के समान, रीतियों को शरीर की सन्धियों के समान, श्रुतिकटुत्व प्रभृति दोषों को काणत्व आदि दोषों के समान बताया गया है। इनसे काव्यपुरुष की विशेष शोभा होती है। इसलिए चन्द्रालोक के द्वितीय मयूख में सर्वप्रथम दोषों का ही निरूपण किया जाता है।

कुछ दोष शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत। दोषयुक्त शब्द को हटाकर उसके स्थान पर पर्यायवाचक शब्द को रखना चाहिए। यदि शब्द बदलने पर भी दोष न हटे और अर्थदोष हट जाय तो शब्ददोष मानना चाहिए ॥ १ ॥

भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णः श्रवणोद्वेजने पटुः ।
संविन्दते व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रवणोद्वेजने, पटुः, वर्णः, श्रुतिकटुः भवेत् । व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति संविन्दते (आलंकारिका इति शेषः) ।

व्याख्या—तत्र पददोषेषु श्रुतिकटुं दोषमाह—भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णं इति । श्रवणयोः = कर्णयोः उद्वेजने = वैरस्योत्पादने, पटुः = समर्थः, वर्णः = शब्दः श्रुतिकटुः = श्रुत्योः, कटुः = कर्कशः यः श्रुतिकटुनामको दोषः भवेत् । ताथ च परुषवर्णतया श्रवणसमकालमेव श्रवणखेदोत्पादजनकत्वं श्रुतिकटुत्वमिति लक्षणम् । उदाहरणं यथा—'भवेच्छ्रुति' इतीदं पदमेव ज्ञेयम् । अत्र चकार-छकार-रकारवर्णत्रयसंयोगस्य श्रवणे परुषवर्णतया दुःश्रवतया च श्रवणयोः खेदोत्पादकत्वादयं श्रुतिकटुर्दोषः । एवं यत् पदं व्याकरणविरुद्धं = पाणिन्याद्यनुशासनमुल्लङ्घ्य प्रवृत्तं तत् च्युतसंस्कृति—च्युता = अपगता संस्कृतिः = व्याकरणसंस्कारो यस्मिंस्तत् च्युतसंस्कृति नामेदं संविन्दते = जानन्ति आलङ्कारिका इति शेषः ।

व्याकरणासिद्धत्वं च्युतिसंस्कारत्वमिति तल्लक्षणम्, उदाहरणं च संविन्दते इतीदमेव पद्यम् । अत्र संपूर्वकाद् विद्-धातोः 'विदि-प्रच्छि-स्वरतीनामुपसंख्यानम्' इत्यनेन अकर्मकादेवात्मनेपदविधानात् प्रकृते च सकर्मकात् कृतमात्मनेपदविधानं व्याकरणशास्त्रनियमविरुद्धमितीदं च्युतसंस्कृतेरुदाहरणम् ।

सुनने के समय में कानों में कठोर प्रतीत होने वाले वर्ण को श्रुतिकटु दोष कहते हैं। जैसे, इसी श्लोक में 'भवेच्छ्रुति' इस पद में चकार, छकार एवं रकार के मिल जाने से कानों में कटुता की प्रतीति होती है। अतः यहाँ श्रुतिकटु दोष है। इसी प्रकार जो पद व्याकरण के नियम विरुद्ध सिद्ध होता है वह च्युत संस्कृति दोष ग्रस्त माना जाता है। जैसे, इसी पद्य में संविन्दते यह पद व्याकरण नियम से अशुद्ध है। क्योंकि परस्मैपदी विन्द-धातु के सम् उपसर्ग लगने पर अकर्मक होने पर ही आत्मने पद का विधान है। यहाँ संविन्दते का प्रयोग सकर्मक है। अतः यह व्याकरण से अशुद्ध होने के कारण च्युतसंस्कृति दोष से युक्त है॥ २ ॥

अप्रयुक्तं दैवतादिशब्दे पुंल्लिङ्गतादिकम् ।
असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु ॥ ३ ॥

अन्वयः—दैवतादिशब्दे पुंल्लिगतादिकम्, अप्रयुक्तत्वम् । गमनादिषु हन्त्यादेः प्रयोगः तु असमर्थम् (उदाहरति) हन्त कुटिलकुन्तलः सः कान्तः कान्तारे हन्ति ।

व्याख्या—अप्रयुक्तत्वमाह—अप्रयुक्तमिति । दैवतम् आदि यस्य स दैवतादिः स चासौ शब्दश्चेति दैवतादिशब्दः तस्मिन् दैवतादिशब्दे, पुंल्लिगतादिकं = दैवत-

शब्दे पुल्लिङ्गताप्रयोगः अप्रयुक्तं भवति। यथा दैवतशब्दस्य पुंल्लिगे प्रयोगः 'दैवितानि पुंसि वा हरिचन्दनम्' इति कोशप्रामाण्यात् समर्थितः सन्नपि काव्ये कविभिः दैवतशब्दो नपुंसकलिङ्गे एव प्रयुज्यते। अतः कविभिः नपुंसके एव व्यवहृतत्वात् पुंल्लिङ्गे अप्रयुक्तत्वदोषः। यथा वा 'भाति पद्मः सरोवरे' इत्यत्र पद्मशब्दः 'वा पुंसि पद्मम्' इति कोशप्रामाण्यात् पुंल्लिङ्गे प्रसिद्धोऽपि कविभिः काव्ये नपुंसकलिङ्गे एव प्रयुज्यते, न पुंल्लिङ्गेऽपि।

असमर्थदोषमाह—गमानादिषु = गमनक्रियादिषु, हन्त्यादेः = हन्तप्रभृतिधातोः, प्रयोगः = व्यवहारः, असमर्थम् = असमर्थनामादोषः। यो हि शब्दो यमर्थं प्रत्याययितुमसमर्थः तस्मिन्नर्थे तत्प्रयोगे असमर्थत्वमेव भवति। यथा 'स हन्ति हन्त कान्तारे' इत्यत्र कुटिलाः = वक्राः, उद्वेलिताः, कुन्तलाः = केशाः यस्य स कुटिल-कुन्तलः सः = रतो प्रागनुभूतः कान्तः = प्रियः कान्तारे = गहने, वने हन्ति = गच्छति इति हन्त खेदे। अत्र हन्-धातुर्गमनार्थे पठितोऽपि गमनरूपार्थबोधने सर्वथाऽसमर्थः। तथाहि हन्-हिंसागत्योरिति गमनार्थे पठितस्यापि हन्धातोः तदर्थप्रतिपादिकायाः शक्तेः पादाभ्यां हन्यते = गम्यते इति पद्धतिः, हन्यते कुटिलं गच्छतीति जङ्घन्यते इत्यादि-प्रयोगेषु एव नियमितत्वाद् गमनार्थे पठितस्याप्य-समर्थत्वमेव।

अप्रयुक्त दोष—दैवत आदि शब्दों को पुंलिग में प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष है। इसका अभिप्राय यह है कि लिंगानुशासन द्वारा दो लिगों में प्रयोग किये जाने की अनुमति प्राप्त होने पर भी महाकवियोंने जिस लिंग में उनका प्रयोग किया है उसी लिंग में उन शब्दों का प्रयाग होना चाहिए। उससे भिन्न लिंग में प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष होता है। जैसे, दैवत शब्द का 'दैवतानि पुंसि वा' इस कोश-वचन से पुंलिंग में प्रयोग करने का विधान है, किन्तु काव्य में कवियों ने इसका प्रयोग नहीं किया है। इसलिए इसका पुलिंग में प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष होता है।

इसी प्रकार 'वा पुंसि पद्मम्' इस कोश वचन से पद्म शब्द उभय लिंग होने पर भी कवियों द्वारा नपुंसक लिंग में ही प्रयुक्त हुआ है, पुलिंग में नहीं। अतः पुलिंग में पद्म शब्द का प्रयोग अप्रयुक्त दोष से ग्रस्त है॥ ३॥

स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः।
निहतार्थं लोहितादौ शोणितादिप्रयोगतः॥ ४॥

अन्वयः—लोहितादौ शोणितादिप्रयोगतः निहितार्थं (निहितार्थदोषो भवति)।

व्याख्या—निहितार्थत्वमाह—निहितार्थमिति। लोहितादौ = रागार्थवाचक-लोहितशब्दे वाच्ये शोणितादिप्रयोगतः = शोणितादिशब्दप्रयोगात्, निहितार्थं =

निहितार्थदोषो भवति। यद्यपि शोणितशब्दः रक्तवर्णवाचकः तथापि तत्राप्रसिद्ध-त्वात् निहितार्थदोषजनकः। एकस्मिन्नेव रक्तेऽर्थे तस्य प्रसिद्धिरस्ति।

अयंभावः प्रसिद्धाप्रसिद्धरूपोभयार्थस्य शब्दस्य अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगे कृते निहितार्थत्वं भवति। तथाहि शोणितशब्दो रुधिरवाचको रक्तवर्णश्च। स हि रुधिरार्थे प्रसिद्धः, रक्तवर्णे चाप्रसिद्ध इति प्रसिद्धाप्रसिद्धरूपोभयार्थस्य शोणित-शब्दस्य प्रसिद्धं रुधिरार्थं परित्यज्य अप्रसिद्धे रक्तवर्णे प्रयोग इति प्रसिद्धार्थेन अप्रसिद्धार्थस्य निहननात् निहितार्थत्वमबाधम्।

निहितार्थ दोष—जहाँ प्रसिद्ध अर्थ से अप्रसिद्ध अर्थ अवरुद्ध हो जाता है वह निहितार्थ दोप होता है। जैसे, प्रसिद्ध लालरंग वाचक लोहित शब्द की जगह अप्रसिद्ध शोणित शब्द का प्रयोग निहितार्थ होता है। शोणित शब्द रुधिर अर्थ में प्रसिद्ध है और लालरंग अर्थ में अप्रसिद्ध है। अतः रागरूप अर्थ में शोणित शब्द का प्रयोग करना निहितार्थ दोष है॥ ४॥

व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्।
इयमद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुकवानरी ॥ ५॥

अन्वयः—यत् पदम्, अनुचितार्थं व्यनक्ति तदेव तत् आहुः (आचार्याः) (उदाहरणं यथा) इयम्, अद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुकवानरी।

व्याख्या—यत् पदम्=सुबन्तरूपं तिङन्तरूपं वा अनुचितार्थं—अनुचित-श्चासावर्थश्चेति अनुचितार्थस्तम् अनुचितमर्थम्=अयोग्यमर्थं व्यनक्ति=प्रकटयति ध्वनयति, तदेव=अनुचितार्थबोधकं पदम्, तत्=अनुचितार्थम् अनुचितार्थत्व भवति। उदाहरणं यथा—इयं=एषा पुरोवर्तिनी नायिका, अद्भुतः=अद्भुतरस एव शाखी=वृक्षः तस्य अग्रे केलिः=क्रीडा तस्यां कौतुकं यस्या सा अद्भुत-शाख्यग्रकेलिकौतुका सा चासौ वानरी=मर्कटी चेति अद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुक-वानरी=अद्भुतकेलिकौतुककर्त्री अस्ति। वानरीणां वृक्षाग्रे क्रीडाकौतुकस्य स्वाभाविकत्वात्। अत्र वर्णनीयनायिकायां केलिकौतुकातिशयप्रतिपिपादयिषया वानरीत्वारोपः तत्कामुकानां रसिकानामपि वानरत्वमावहतीति अनुचितार्थत्व मत्र बोध्यम्।

अनुचितार्थ दोष कहते हैं—जो पद अनुचित अर्थ का बोध करावे उसे अनुचितार्थ दोष कहते हैं। जैसे यह नायिका अद्भुत रस रूपी वृक्ष की शाखाओं के अग्रभाग पर क्रीडा करने वाली वानरी है। तात्पर्य यह है कि जैसे वानरी वृक्ष शाखाओं पर अद्भुत क्रीडा करती है वैसे ही यह नायिका भी विविध प्रकार की सुरति क्रीडा किया करती है। यहाँ पुरोवर्ति-

नायिका में वानरी का आरोप अनौचित्य का द्योतक है, क्योंकि कामिनी में वानरी के समान कुरूपता का बोध होता है। अतः यह पद अनुचितार्थ दोष से संयुक्त है ॥ ५ ॥

निरर्थकं तु-हीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम्।
अर्थे विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—पूरणैकप्रयोजनम्, तुहीत्यादि निरर्थकं (इति कथ्यते) विदधदित्यादौ अर्थे आद्यं दधदिति अवाचकम् (पदं भवति)।

व्याख्या—पूरणैकप्रयोजनम्—पूरयतीति पूरणं तदेवैकं = केवलं प्रयोजनं यस्मिंस्तत् पूरणैकप्रयोजनं = पादाक्षरभरणमात्रम्, तुहीत्यादि—तु-हि-इत्यादि पदं यस्मिंस्तत् तुहीत्यादि, निरर्थकं = निर्गतः अर्थः = प्रयोजनं यस्मात् तन्निरर्थकम्, निरर्थकं नाम दूषणं भवति। वर्णनीयोपकाररहितत्वे सति पादपूरणमात्रफलकत्वं निरर्थकत्वमित्यर्थः। इदमत्र रहस्यम्—यत्र कविनाऽशक्तिवशात् केवलं छन्दः-पूत्यर्थमेव च तु-हि-इत्यादीनां पदानां प्रयोगः क्रियते तत्रैवायं दोषः। यथा 'मुञ्च-मानं हि मानिनि !' इत्यत्र हि-शब्दो निरर्थकः प्रतिभाति। हि-पदप्रयोगं विनापि तदर्थावगतौ न कापि हानिः। यत्र च पुनः प्रकरणाद्यनुरोधेन यत्किञ्चिद्विशिष्टार्थ-प्रत्यायकत्वं न तत्र तेषां पदानां निरर्थकत्वमित्यर्थः।

अवाचकत्वमाह—अर्थे इति। विदधदित्यादौ अर्थे आद्यं दधत् इति यत् पदं प्रयुज्यते तत् अवाचकं = अवाचकाख्यं नाम दूषणं ज्ञेयम्। अयं भावः—यस्योप-सर्गस्य संसर्गेण यो धातुः यस्य अर्थस्य वाचकः, तस्मिन्नर्थे बोधनीये तमुपसर्गं विनैव तस्य धातोः प्रयोगे अवाचकत्वं नाम दोषो भवति। यथा विदधत् इत्यादौ अर्थे बोद्धव्ये दधदिति प्रयोगेऽभीष्टार्थस्य बोधनाभावादवाचकत्वम्।

जहाँ च-तु-हि आदि शब्दों का प्रयोग केवल पादपूर्ति के ही लिए किया जाय वहाँ निरर्थक दोष होता है। जैसे 'मुञ्चमानं हि मानिनि !' यहाँ हि शब्द का कोई अर्थ नहीं है केवल पादपूर्ति के लिए ही वह प्रयुक्त है। अतः यहाँ हि पद निरर्थक है। और जिस उपसर्ग पूर्वक जो धातु जिस अर्थ का वाचक है, उस उपसर्ग के बिना उस अर्थ में उस धातु का प्रयोग करना अवाचक दोष होता है। जैसे, विपूर्वक धा-धातु का अर्थ 'करना' है। यदि इसी अर्थ में उपसर्ग रहित केवल धा-धातु का प्रयोग किया जाय तो उक्त दोष होता है ॥ ६ ॥

धत्ते नभस्तलं भास्वानरुणं तरुणः करैः।
एकाक्षरं विना भू-भ्रू-क्ष्मादिकं खतलादिवत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—भास्वान् तरुणैः करैः नभस्तलम् अरुणं धत्ते। भू-भ्रू-क्ष्मादिकं एकाक्षरं विना खतलादिवत्।

व्याख्या—भास्वान्, भास्करः=सूर्यः, तरुणैः=नवैः, भृशं प्रकाशमानैः, करैः=किरणैः, नभस्तलं=आकाशम्, अरुणं=रक्तवर्णं धत्ते=विधत्ते, करोतीत्यर्थः। अत्र वि-उपसर्गरहितस्य धा-धातोः करोतीत्यर्थे बोद्धव्ये विधत्ते इति पदमप्रयुज्य उपसर्गरहितस्य केवलस्य धा-धातोः धत्ते इति पदस्य प्रयोगः कृतः, किन्तु तस्य तदर्थेऽवाचकत्वम्।

ननु एकाक्षराणां भू-भ्रू-क्ष्मादीनां तलादि-समभिहारेण गृहीतशक्तिकत्वात् केवलानामपि तेषां प्रयोगेऽवाचकत्वं स्यादत आह—एकाक्षरमिति। भू-भ्रू-क्ष्मादिकमेकाक्षरं पदं एकमद्वितीयमक्षरं वर्णो यस्मिस्तदेकाक्षरम् विना=अपहाय अवाचकत्वं भवति, खतलादिना तुल्यं खतलादिवत्=यथा आकाशवाचकं खतलमित्यनुक्त्वा केवलस्य 'खं' इत्यस्यापि प्रयोगः आकाशरूपमर्थं बोधयति। वस्तुतस्तु भू-भ्रू-क्ष्मादीनामेकाक्षराणामपि अवाचकत्वं नास्त्येव, यतो हि भुवं बभ्राम, शोभने भ्रुवौ, क्ष्मां पालयेत्यादौ तदर्थावगतेः सुस्पष्टं जायमानत्वात्। एतेषामेव तलयुगादिसहकारेण प्रयोगस्तु केवलानां तेषां प्रयोगापेक्षया शोभनमेव।

अयमाशयः—भू-भ्रू-क्ष्मादिशब्दानामग्रे क्रमशः तल-युत तलादिशब्दानां प्रयोगे सति नावाचकत्वं, किन्तु ख-द्रु-नभ-आदिशब्दानां परं तलादिप्रयोगेऽवाचकतैव। एकाक्षरेषु तलादिप्रयोगे सुन्दरताविघातो दूषकताबीजम्। यथा भू-भ्रू-क्ष्मादिशब्देषु तल-युत-तलादिप्रयोगे न रमणीयताविघात इत्यवाचकदोषता। एवं धत्ते इत्यत्र पूर्वोदाहरणे नभस्तलव्यपदेशेऽप्यवाचकत्वं ज्ञेयम्।

सूर्य अपने प्रमुख किरणों से आकाश को लाल बना देता है। एक अक्षर वाले भू, भ्रू, क्ष्मा आदिक पद के अतिरिक्त खतल आदि के तुल्य पद अवाचक दोष के उदाहरण हैं। तात्पर्य यह है कि एकाक्षर भू, भ्रू, क्ष्मा शब्दों के आगे तल युवातल शब्दों के जोड़ने पर निष्पन्न भूतल, भ्रूयुग, क्ष्मातल शब्द अपने मूल अर्थों के वाचक ही होते हैं, किन्तु इनको छोड़कर खद्रु, नभ आदि शब्दों के आगे तल आदि शब्द यदि जोड़ दिये जाँय तो उनमें अवाचकत्व रहता ही है॥ ७॥

अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना।
आह्लादसाधनं वायुः कान्तानाशे भवेत् कथम्॥ ८॥

अन्वयः—अश्लीलम्, व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना त्रिविधं (भवति)। कान्तानाशे वायुः आह्लादसाधनं कथं भवेत्।

व्याख्या—त्रिविधं श्लीलमाह—अश्लीलमिति। श्रीः=सम्यग्वशीकरणरूपा सम्पत, यस्यास्तीति श्लीलं न श्लीलम् अश्लीलं तच्च व्रीडा=लज्जा च जुगुप्सा=

घृणा च अमङ्गलं=अशुभं च आत्मा स्वरूपं यस्य स तेन तथाभूतेन हेतुना व्रीडा-जुगुप्साऽमङ्गलात्मना त्रिविधं=त्रिप्रकारकं भवति। व्रीडाश्लीलम्, जुगुप्साश्लीलम्, अमङ्गलश्लीलं च। क्रमेणोदाहरणं यथा—कान्तायाः=प्रियायाः नाशे=विरहे वायुः=मलयानिलः कथं=केन निमित्तेन, आह्लादस्य=आनन्दस्य साधनं=निमित्तं भवेत्=स्यात्? न कदापि भवितुं शक्नोति। प्रियावियोगे मलयपवनोऽपि नानन्दजनक इति भावः।

अत्र साधनपदं पुरुषेन्द्रियवाचकं व्रीडाश्लीलस्योदाहरणम्, वायुशब्दोऽपान-वायुस्मारकत्वाज्जुगुप्साद्योतको जुगुप्साश्लीलस्योदाहरणं, कान्तानाशशब्दश्च मरण-रूपामङ्गलव्यञ्जकत्वादमङ्गलाश्लीलस्योदाहरणम्। अश्लीलार्थप्रतीत्या श्रोतु-र्वैमुख्यं दूषकताबीजम्।

असभ्य अर्थ बोधक पद को अश्लील कहते हैं। वह अश्लील व्रीडाजनक, जुगुप्साजनक, अमङ्गलजनक होने के कारण तीन प्रकार का होता है। तीनों का क्रम से उदाहरण—जैसे कान्ता के नाश होने पर यह मन्द वायु आनन्द का साधक कैसे होवे। अर्थात् स्त्रीवियोग में मन्द-मन्द वायु सुखजनक नहीं होता किन्तु तापजनक ही होता है। यहाँ आह्लाद साधन पद में साधन शब्द से पुरुषेन्द्रिय (उपस्थ) की प्रतीति होती है। अतः व्रीडाजनक अश्लील है। वायु पद से अपान वायु की प्रतीति होती है। अतः जुगुप्साजनक अश्लील है। कान्ता-नाश पद से कान्ता के मरने की प्रतीति होती है। अतः यह पद अमङ्गल जनक अश्लील है। अश्लील अर्थ होने के कारण श्रोता उस अर्थ को सुनने से विमुख हो जाता है। अतः यह दूषकता का कारण है। लोक में शिवलिंग, सुभगा, भगिनी, ब्रह्माण्ड आदि शब्दों से अश्लील अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिए उक्त पदों के प्रयोग में दोष नहीं होता॥ ८॥

स्याद् द्व्यर्थमिह सन्दिग्धं नद्यां यान्ति पतत्रिणः।
स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीताऽनुमादिवत्॥ ९॥

अन्वयः—इह द्व्यर्थं सन्दिग्धं स्यात् (उदाहरणं यथा) पतत्रिणः नद्यां यान्ति। (तद्वत्) वीतानुमादिवत् शास्त्रैकगम्यम् अप्रतीतं स्यात्।

व्याख्या—सन्दिग्धमाह—स्यादिति। इह=काव्ये, द्व्यर्थं—द्वौ अर्थौ यस्मि-स्तद् द्व्यर्थम्, एतादृशं पदं सन्दिग्धं=सन्दिग्धाख्यं दूषणम्। अत्र द्व्यर्थमित्युप-लक्षणं तेनानेकपदोपादानेऽपि सन्दिग्धत्वमबाधम्। अनेकार्थबोधजनकत्वं सन्दिग्ध-त्वम्। उदाहरति—नद्यां यान्तीति। पतन्तमधोगच्छन्तं त्रायते इति पतन्त्रं पक्षः तदेवेषामस्तीति पतत्रिणः=पक्षिणः, नद्यां=नदीदेशे यान्ति=गच्छन्ति अथवा द्यां=स्वर्गं न यान्तीति द्व्यर्थस्य सम्भवादेकार्थनिश्चयाभावेन कोटिद्वयात्मक-

ज्ञाने सति सन्दिग्धत्वं दोषः। नद्यामिति पदं सरित्पक्षे सप्तम्यन्तं स्वर्गार्थकपक्षे द्वितीयान्तमिति कोटिद्वयात्मकं बोध्यम्।

अप्रतीतत्वमाह—स्यादप्रतीतमिति। वीतानुमादिवत्—वीता चासौ अनुपमा च वीतानुपमा=वीतानुमानं तद्वत् वीतानुमादिवत्। शास्त्रैकगम्यं—शास्त्रेण= सांख्ययोगशास्त्रेण एकम्=एकमात्रम् गम्यम्=अवगन्तुं शक्यं यत्तथाभूतम् अप्रतीतं =अप्रतीताख्यं दूषणं भवति।

अयं भावः=सांख्यशास्त्रे हि प्रथमं वीतावीतभेदेनानुमानस्य द्वैविध्यं प्रदर्शितम्। तत् पुनर्वीतानुमानमपि पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं चेति भेदेन द्विविधम्। अतीतानुमानश्च शेषवदित्यनेकप्रकारकमिति वीतानुमानादिशब्दानां सांख्यशास्त्रमात्रप्रसिद्धत्वात्तच्छास्त्राभिज्ञानामेव शाब्दबोधो जायते नान्येषामित्येकशास्त्रप्रसिद्धा वीतानुमानादयः शब्दा अप्रतीता एव।

दो या अनेक अर्थ के बोधक पद को सन्दिग्ध दोष कहते हैं। जैसे 'नद्यां यान्ति पतत्त्रिणः' पक्षी नदी में जाते हैं और पक्षी 'नद्यां' आकाश में नहीं जाते हैं। यहाँ नद्यां पद द्वयर्थ होने से सन्दिग्ध दोष है। नदी अर्थ में नद्यां सप्तमी विभक्ति का एक वचनान्त प्रयोग है और आकाश अर्थ में द्यां द्वितीया विभक्ति का एक वचन है। यहाँ नद्यां इस पद से आकाश रूप अर्थ मुख्य माना जाय या नदी रूप अर्थ? इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर इसमें सन्दिग्ध दोष हुआ।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द यदि शास्त्रान्तर में उसी अर्थ में प्रयुक्त हों तो अप्रतीत दोष होता है। जैसे, अन्वयव्याप्ति मात्र से जायमान अनुमान को सांख्य शास्त्र में वीतानुमान कहते हैं। यदि इसी अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग दूसरे शास्त्रों में किया जाय तो अप्रतीत दोष होगा। जैसे वीतानुमान केवल सांख्यशास्त्र में व्यवहृत है, अन्य शास्त्र में नहीं। दूसरा उदाहरण है—'योगेन दलिताशयः' योग क्रिया से अपने विषय वासना को दलित कर दिया है। यहाँ आशय शब्द केवल योग शास्त्रों में ही विषय वासना के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः इस अर्थ में इसका अन्यत्र प्रयोग करना उक्त दोष का कारण है॥ ९॥

शिथिलं शयने लिल्ये मच्चित्तं ते शशिश्रियि।
मस्तपिष्टकटीलोष्टगल्लादि ग्राम्यमुच्यते॥ १०॥

अन्वयः—शिथिलम्, शशिश्रियि ते शयने मच्चित्तं लिल्ये। मस्त-पिष्ट-कटी-लोष्ट-गल्लादि ग्राम्यम् उच्यते।

व्याख्या—काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धयः सहृदया यस्यां रचनायां शैथिल्यमनुभवन्ति तत्रैव शिथिलं नाम दोषः। यथा शशिश्रियि—शशिनं श्रयतीति

शशिश्रि तस्मिन् शशिश्रियि = शशिसदृशे, धौतश्वेतपरिच्छदवति, ते=तव, शयने = पर्यङ्के शय्यायां मच्चित्तं = मम मनः, लिल्ये = लीनम्, अत्र पदानां बन्धने शैथिल्यमिति शिथिलदोषः।

ग्राम्यत्वमाह—मस्तेति। ग्राम्यं = ग्रामे भवं ग्राम्यं हालिकाद्यविदग्धजनमात्रचमत्कृतिजनकत्वं ग्रामादौ प्रसिद्धं वा ग्राम्यत्वम् मस्तः पिष्टं कटी लोष्टं गल्लश्चादिर्यस्य तत् पदं मस्तपिष्टकटीलोष्टगल्लादि, मस्त-पिष्ट-कटीलोष्टगल्लादयः क्रमेणोदाहरणानि।

अयंभावः—मस्तादयः शब्दा उन्मत्त-चूर्णान्न-नितम्ब-मृत्पिण्ड-कपोलप्रभृतिषु वाहीकादिभिर्ग्राम्यजनैरुदाहृतत्वाद् ग्राम्या एव न शिष्टजनैः प्रयुज्यन्ते।

जहाँ पदों की रचना अत्यन्त ढीली-ढाली प्रतीत होती है वहाँ शिथिल दोष होता है। जैसे चन्द्रमा के समान स्वच्छ तेरी पलंग में मेरा मन लीन हो गया। यहाँ पदों की रचना सुनने में अत्यन्त शिथिल प्रतीत होती है। अतः यहाँ शिथिलत्व दोष है।

ग्राम्य—जहाँ मस्त=मस्ती, पिष्ट=पिसान, कटी=कमर, लोष्ट=ढेला, गल्ल=गाल आदि ग्रामीणों को आनन्द देने वाले शब्दों का प्रयोग किया जाय वहाँ ग्राम्य दोष हुआ करता है। गाँवों में प्रसिद्ध या ग्रामीणों को आनन्द देने वाले पद ग्राम्य पद कहे जाते हैं॥ १०॥

नेयार्थं लक्षणात्यन्तप्रसरादसनोहरम्।
हिमांशोर्हारधिक्कारजागरे यामिकाः कराः॥ ११॥

अन्वयः—लक्षणात्यन्तप्रसरात् असनोहरं नेयार्थम् (उदाहरणं यथा) हिमांशोः कराः हारधिक्कारजागरे यामिकाः (सन्ति)।

व्याख्या—नेयार्थत्वमाह—लक्षणायाः = लक्षणावृत्त्या अत्यन्तः = अत्यधिकश्च यः प्रसरः = विस्तारश्चेति लक्षणात्यन्तप्रसारस्तस्मात् लक्षणात्यन्तप्रसरात्, असनोहरम् = असुन्दरम् पदं नेयार्थं = नेयः स्वकल्पनया अन्यथा लभ्यः अर्थोऽभिधेयो यस्मिन् तत् नेयार्थम्। अयमाशयः—सति मुख्यार्थबाधे रूढिप्रयोजनान्यतरसद्भावे च लक्षणा भवति। यत्र तु रूढिप्रयोजनान्यतरहेतुं विनैव लक्षणा क्रियते तत्र नेयार्थदोषः। उदाहरणं यथा—हिमांशोरिति। हिमांशोः = हिमा अंशवो यस्य स हिमांशुः तस्य हिमांशोः; कराः = किरणाः, हारधिक्कारजागरे—हारेण = कामिनीमुक्ताहारेण यो धिक्कारः = तिरस्कारः तेन यश्चन्द्रस्य जागरः = जागणं तस्मिन् हारधिक्कारजागरे, यामिकाः = प्रहरकाः सन्ति। चन्द्रकिरणेभ्यः अप्यधिका कामिनीमुक्ताहारस्य शोभासीति भावः।

लक्षणा की अधिकता से जहाँ सौन्दर्य का विधान होता है, वहाँ नेयार्थ दोष होता है। अर्थात् रूढि और प्रयोजन इन दो कारणों में से किसी एक के रहने पर ही लक्षणा हुआ

करती है। जहाँ इन हेतुओं में से किसी एक के बिना ही लक्षणा हो और अपनी मनमानी कल्पना से अर्थ की खींचातानी की गई हो वहाँ उक्त दोष का अवकाश है। जैसे, चन्द्रमा के किरण मुक्ताहार से तिरस्कार को प्राप्त चन्द्रमा के जागरण में पहरेदार का काम करते हैं। इसका तात्पर्य है कि कान्ता के मुक्ताहार की शोभा चन्द्रमा के किरणों से भी कहीं अधिक है। यहाँ रूढि और प्रयोजन के बिना ही हार, धिक्कार, यामिक आदि पदों का अमनोहरत्व में लक्षणा की गयी है। अतः यहाँ नेयार्थ दोष है ॥ ११ ॥

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति ।
हरिप्रियापितृवधूप्रवाह-प्रतिमं वचः ॥ १२ ॥

अन्वयः—यदीयः अर्थः अर्थश्रेणिनिःश्रेणिम् ऋच्छति तत् क्लिष्टम् (उदाहरणं यथा) हरिप्रियापितृवधूप्रवाहप्रतिमं (ते) वचः (अस्ति) ।

व्याख्या—यदीयः—यस्यायं यदीयः = यत्सम्बन्धी, अर्थः=वाच्योऽर्थः अर्थश्रेणिनिःश्रेणिं—अर्थश्रेण्या निःश्रेणिं = अविच्छिन्नसोपानपङ्क्तिवदर्थपरम्पराम् ऋच्छति= प्राप्नोति, अर्थपरम्परामवगाहते । तत्र क्लिष्टं = क्लिष्टत्वनामा दोषः । उदाहरति—हरिप्रियेति । हरेः=शेषशायिनो भगवतो नारायणस्य प्रिया=लक्ष्मीः तस्या पिता= जनकः समुद्रः तस्य वधूः गङ्गा तस्याः प्रवाहप्रतिमं=प्रवाहसदृशम् ते तव वचः= वचनम् अस्तीति शेषः। अत्र गङ्गाप्रवाहसदृशं ते वचः एतावन्मात्रकथनेन समीहितार्थप्रतीतेर्जायमानत्वात् हरिप्रियेति लम्बायमान-समस्तपदाभिधानस्यावश्यकतैव नास्ति । अत्र विलम्बेनार्थोपस्थापकत्वं दूषकताबीजम् ।

क्लिष्ट दोष उसे कहते हैं जहाँ छोटे से तात्पर्य के लिए ऐसे लम्बायमान समस्त पद का प्रयोग किया जाय, जिसमें एक शब्द का सम्बन्ध दूसरे से, दूसरे का तीसरे से इस प्रकार की सम्बन्धपरम्परा दिखलाते हुए अन्त में वह तात्पर्य निकाला गया हो। जैसे आपका वचन गङ्गा के समान पवित्र है, इसको कहने के लिए हरिप्रिया लक्ष्मी उसके पिता समुद्र उसकी वधू गङ्गा उसके प्रवाह के समान आपका वचन है। इस समस्त पद का प्रयोग किया गया है। यहाँ विलम्ब से अर्थ की प्रतीति होना ही दूषकता में निमित्त है ॥ १२ ॥

अविमृष्ट-विधेयांशः समासपिहिते विधौ ।
विशन्ति विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि ॥ १३ ॥

अन्वयः—विधौ समासपिहिते अविमृष्टविधेयांशः (उदाहरणं यथा) विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि विशन्ति ।

व्याख्या—अविमृष्टविधेयांशत्वमाह—अविमृष्टेति । विधौ = विधेये, समासपिहिते —समासेन पिहिते = आच्छादिते सति अविमृष्टविधेयांशः = न विमृष्टः =

प्राधान्येन न विचारितः विधेयांशः=विधेयभागो यत्रेति अविमृष्टविधेयांशः=एतन्नामको दोषः। उदाहरति—विशन्तीति। विशिखप्रायाः=बाणतुल्याः, कटाक्षाः—कटौ=प्रतिशयितौ अक्षिणी=नेत्रे यत्र ते कटाक्षाः, यद्वा कटमक्षति=व्याप्नोतीति कटाक्षः=नारीणां वक्रदृष्टयः, कामिनां=कामुकानां, हृदि=हृदये, विशन्ति=प्रविशन्ति। कामिनीनां कटाक्षा बाणवत्प्रविशन्तीति भावः। अत्रोद्देश्य-विधेययोः पौर्वापर्यव्यतिक्रमे दूषणम्—'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इति नियमात्। विधेयानुपपत्तिर्दूषकताबीजम्।

जहाँ विधेयांश समास की लपेट में आ जावे, स्वतन्त्र न रहे, वहाँ अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है। जैसे कामियों के हृदय में कान्ताओं के कटाक्ष बाण की तरह प्रवेश करते हैं। यहाँ बाण की तरह प्रवेश करना विधेयांश है। इसके प्रायः शब्द के साथ समास हो जाने के कारण गुणीभूत हो जाने से तथा कटाक्ष के विशेषण हो जाने से इसका प्रधानतया क्रिया में साक्षात् अन्वय न हो सका। अतः यहाँ उक्त दोष का अवकाश है॥ १३॥

अपराधीन इत्यादि विरुद्धमतिकृन्मतम्।
अन्यसङ्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ ॥ १४॥

अन्वयः—अपराधीन इत्यादि, विरुद्धमतिकृत् मतम्। अन्यसङ्गतम्, उत्तुङ्ग-हारशोभिपयोधरौ।

व्याख्या—अपराधीनः=परस्य अधीनः पराधीनः न पराधीनः अपराधीनः, इत्यादि—इति आदिर्यस्य तत् इत्यादि पदम्, विरुद्धमतिकृत्—विरुद्धस्य मतिः अथवा विरुद्धा चासौ मतिरिति विरुद्धमतिः तं करोतीति विरुद्धमतिकृत्=विरुद्धमति-कृन्नामकं दूषणं मतम्=अभीष्टम्। अत्र अपरस्य=अन्यस्य अधीनः इति विरुद्धार्थ-स्य प्रतीतिः दोषकृत्।

अयं भावः—न पराधीन इत्यपराधीन इति नञ् समासस्य विवक्षिततयाऽस्य पराधीनत्वाभाव इत्यर्थोऽभिप्रेतः, किन्तु अपरस्याधीनोऽपराधीन इति षष्ठीतत्पुरुषा-श्रयेण वर्णनीयपराधीनत्वरूपस्यार्थस्य प्रतीतेर्जायमानत्वाद्विरुद्धमतिकृन्नामदोषः। विरुद्धार्थश्रवणेन श्रोतुर्वैमुख्यमिह दूषकताबीजम्।

अन्यसङ्गतमाह—अन्यसङ्गतमिति। अन्येन=अनभिप्रेतेन शब्देन सह सङ्गतम्=अव्यवधानेन सम्बद्धं यत्तत् अन्यसङ्गतम्=अन्यविशेषणतया अभिप्रेतस्य शब्दस्य तदितरविशेषणत्वेऽन्यसङ्गतं नामदोषः। उदाहरति—उत्तुङ्गेति। उत्तुङ्गौ=अभ्युन्नतौ हारेण=मुक्ताहारेण शोभिनौ=मनोहरौ च तौ पयोधरौ=कुचौ इति उत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ। अत्रोदाहरणे उत्तुङ्गशब्दः पयोधरयोः विशेषणं किन्तु

हारशोभिशब्दस्य पूर्ववर्तित्वात् हारस्य विशेषणं प्रतीयमानमन्यसङ्गतत्वस्य दोष-स्योदाहरणम् ।

वक्ता की इच्छा के विरुद्ध बुद्धि उत्पन्न करने वाले को विरुद्धमतिकृत् दोष कहते हैं। जैसे वह दूसरे के अधीन नहीं है इस अर्थ की प्रतीति के लिए प्रयुक्त अपराधीन से अपर= अन्य के अधीन इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है जो वक्ता की इच्छा के विरुद्ध है। अतः यहाँ उक्त दोष है।

इसी प्रकार जहाँ अभिप्रेत पद का किसी अन्य पद के साथ सम्बन्ध ज्ञान हो वहाँ अन्य-सङ्गत दोष होता है। जैसे 'उत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ'–उस कामिनी के हार से शोभित उन्नत पयोधर हैं। यहाँ उत्तुङ्गपद का पयोधरपद के साथ सम्बन्ध कवि को अभिप्रेत है, किन्तु समास में उत्तुङ्गपद तथा पयोधरपद के बीच में हारशोभिपद रखने से उत्तुङ्गपद का हार के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अतः यह अन्यसङ्गत का उदाहरण है। समास करने से असली ज्ञान में सन्देह का हो जाना ही दोषत्व के प्रति कारण है। यहाँ लक्षण की परिभाषा नहीं दी गयी है, किन्तु केवल उदाहरण से दोष का लक्षण निकाला गया है ॥ १४ ॥

रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः ।
न मामङ्गद जानासि रावणं रणदारुणम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—वर्णे रसाद्यनुचिते प्रतिकूलाक्षरं विदुः (आचार्याः) । (यथा) अङ्गद ! रणदारुणं मां रावणं न जानासि ।

व्याख्या—इत्थं पदगतान् विंशतिदोषान् उक्त्वा क्रमप्राप्तान् वाक्यदोषान् विवक्षुः जयदेवकविः प्रथमं प्रतिकूलाक्षरमाह—रसाद्यनुचित इति । वर्णे = अक्षरे रसाद्यनुचिते = रसादीनां शृङ्गारादीनां, अनुचिते = अनर्हे सति प्रतिकूलानि = विपरीतानि अक्षराणि=वर्णा यस्मिंस्तत् प्रतिकूलाक्षरं = प्रतिकूलाक्षराख्यं दूषणं विदुः = जानन्ति आलङ्कारिका आचार्या इति शेषः । रसाननुगुणवर्णत्वं प्रतिकूला-क्षरत्वम् । उदाहरति—न मामिति । हे अङ्गद !=बलिपुत्र ! रणे = संग्रामे दारुणं = भयङ्करं रणदारुणं मां रावणं = दशाननं न जानासि = नावगच्छसि । अत एव त्वमेवमौद्धत्यं प्रकटयसीति भावः । अत्र वर्णनीये वीररसे वीररसोचिताः परुषवर्णा न सन्ति, अपितु शृङ्गारोचिता कोमलवर्णा एव प्रयुक्ताः सन्तीति प्रतिकूलाक्षरत्वं दोषः । अयं भावः—यथा शृङ्गारे रसे वर्णनीये तदभिव्यञ्जकाः तदनुकूला एव कोमलवर्णाः प्रयोक्तव्याः, वीररौद्रादिषु रसेषु च कठिना एव वर्णा उपयुक्ता भवन्ति । एवं स्थिते यदि शृङ्गारे कर्कशा वर्णाः वीरादौ च कोमलवर्णाः प्रयुक्ता भवेयु-स्तर्हि प्रतिकूलाक्षरं नाम दोषः ।

कविता में अक्षर हमेशा रस के अनुकूल रखे जाते हैं, जिनसे उस रस की पुष्टि होती है। यदि भिन्न रस के पोषक अक्षर रखे जाते हैं तो प्रतिपाद्य रस की पुष्टि में बाधा पहुँचने से दोष होता है। शृङ्गार रस में कोमल, मधुर एवं प्रसाद गुण वाले वर्ण होने चाहिए और वीर रस में ओजस्वी, विकट, संयुक्त एवं कर्कश वर्ण होना जरूरी है। इसके विपरीत यदि शृङ्गार में मधुर एवं कोमल अक्षर न हो, ओजस्वी एवं कर्कश अक्षर हो तथा वीर रस में विकट वर्ण न हो अपितु कोमल, मधुर वर्ण हों तो प्रतिकूलाक्षर दोष होता है। जैसे—हे अङ्गद! तू रण में भयङ्कर शुभ्र रावण को नहीं जानता है। अतः तू इस प्रकार बक रहे हो। यहाँ वीर रस के वर्णन में उसके अनुकूल ओजस्वी वर्ण नहीं प्रयुक्त है, किन्तु शृङ्गाररस के समुचित कोमलवर्णों का विन्यास किया गया है। अतः यहाँ प्रतिकूलाक्षर दोष है ॥ १५ ॥

यस्मिन्नुपहतो लुप्तो विसर्गं इह तत्तथा।
कुसन्धिः पटवागच्छ विसन्धिर्नृपती इमौ ॥ १६ ॥

अन्वयः—यस्मिन् विसर्गं उपहतः लुप्तः (च) इह तथा तत् । (अथ कुसन्धिविसन्धित्वे आह) कुसंन्धिः, वटवागच्छ, विसन्धिः नृपती इमौ।

व्याख्या—उपहतविसर्गलुप्तविसर्गावाह—यस्मिन्निति। यस्मिन्=वाक्ये विसर्गः उपहतः=उपधानं प्राप्तः, उत्वं प्राप्तः, लुप्तः=लुप्तश्च, लोपं प्राप्तः। इह=दोषकथने, अलङ्कारशास्त्रेण वा तथा=तेनैव प्रकारेण तत्=दूषणम्, उपहतविसर्गं लुप्तविसर्गं च विदुः बुधाः। तथा च यत्रानवरतमुपहतविसर्गता लुप्तविसर्गता च स्यातां तत्र तन्नामानावेव दोषौ भवतः। अनयोर्द्वयोरुदाहरणे अत्रैव श्लोके पूर्वार्द्धे वर्तेते। यथा प्रथमे चरणे–'उपहतो लुप्तो विसर्गः' इति वाक्यमुपहितविसर्गस्योदाहरणम्, 'हशि च' (६।१।११४) इति सूत्रेणाकारादेशात्। 'विसर्गं इह तत्तथा' इति द्वितीयं चरणं च लुप्तविसर्गस्योदाहरणम्। 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) इति पाणिनीयसूत्रेण रोः स्थाने यकारादेशे 'लोपः शाकल्यस्य (३।८।१९) इत्यनेन यकारलोपे लुप्तविसर्गत्वात्। अथ कुसन्धिविसन्धित्वे आह—कुसन्धिरिति। कुसन्धिः—कुत्सितः सन्धिः कुसन्धिः=सन्धिवैरूप्यम्। यथा हे पटो!=दक्ष! त्वमत्र आगच्छेति पदे 'पटवागच्छ' इति सन्धौ अश्लीलत्वेन कुसन्धित्वम्। विसन्धिः=सन्ध्यभावः स च द्वेधा शास्त्रीय ऐच्छिकश्च। तत्र 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११) इत्यनेन प्रगृह्यत्वविधानपूर्वकं 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) इति प्रगृह्यत्वप्रयुक्तप्रकृतिभावविषयकं यद्वचनं तस्मादुपपन्नो य. सन्ध्यभावः स ऐच्छिकः।

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

इत्यभियुक्तैर्वक्तुरिच्छाधीनो यः सन्धेरभावः स ऐच्छिकः। तत्र प्रथमस्योदाहरणं—'नृपती इमौ' अत्र दीर्घेकारद्विवचनान्तसद्भावाद् 'ईदूदेदि'त्यादिना प्रगृह्यसंज्ञायां सत्यां 'प्लुतप्रगृह्ये'ति प्रकृतिसद्भावे सावर्ण्यप्रयुक्तो दीर्घसन्धेरभावः। द्वितीयस्योदाहरणं 'रामः गच्छति' 'रामो गच्छति'। अत्रैच्छिकः सन्धिः। ऐच्छिको विसन्धिः सकृदेव भवति, शास्त्रीयश्चासकृत्करणे दोष इति ज्ञेयम्।

जहाँ विसर्ग को उकार होकर ओकार हो जाय अथवा विसर्ग का लोप हो जाय तो वहाँ उपहत-विसर्ग तथा लुप्त विसर्ग दोष होता है। अर्थात् जहाँ विसर्ग को ओकार हो जाता है, वहाँ उपहत-विसर्ग और जहाँ विसर्ग का लोप हो जावे वहाँ लुप्त-विसर्ग दोष हो जाता है। जैसे श्लोक के प्रथम चरण में विसर्ग को ओकार हो गया है—उपहतो लुप्तो विसर्गः। द्वितीय चरण में 'विसर्ग इह तत्तथा' में विसर्ग का लोप हो गया है।

इसी प्रकार कुसन्धि और विसन्धि दो दोष हैं। जहाँ सन्धिद्वारा अश्लीलता और क्लिष्टता होवे वहाँ कुसन्धि दोष होता है। जैसे 'हे पटो! आगच्छ' इस वाक्य में पटवागच्छ ऐसी सन्धि करने पर अश्लीलता और क्लिष्टता दोष आ गया है। अतः यह कुसन्धि का उदाहरण है। जहाँ सन्धि न की गयी हो वह विसन्धि का उदाहरण है। जैसे 'नृपती इमौ' यहाँ प्रकृतिभाव होकर सन्धि नहीं हुई है। अतः विसन्धि शास्त्रीय है॥ १६॥

हतवृत्तमनुक्तोऽपि छन्दोदोषश्चकास्ति चेत्।
विशाललोचने पश्याम्बरं तारातरङ्गितम्॥ १७॥

अन्वय—अनुक्तोऽपि छन्दोदोषः चेत् चकास्ति हतवृत्तम् (भवति) (उदाहरणम्) विशाललोचने तारातरङ्गितम् अम्बरं पश्य।

व्याख्या—हतवृत्तमाह—हतवृत्तमिति। न उक्तः अनुक्तः=अकथितः अपि, छन्दोदोषः=छन्दसो दोषः छन्दोदोषः=वृत्तदोषः, चेत्=यदि, चकास्ति=भासते तदा हतं=नष्टं वृत्तं=छन्दो यत्र तत् हतवृत्तं=हतवृत्तनामको दोषो भवति। उदाहरणं यथा—हे विशाललोचने! विशाले=वृहती लोचने=नयने यस्याः सा तत्सम्बुद्ध हे विशाललोचने=आयताक्षि! तारातरङ्गितं ताराभिः=नक्षत्रैः तरङ्गितं=सञ्जाततरङ्गम् अम्बरं=आकाशं, पश्य=अवलोकय। अत्रानुष्टुप्छन्दोऽस्ति। तत्र प्रतिपादमष्टाक्षराणि भवन्ति। अत्र च तृतीयचरणस्थितस्याकारस्य चतुर्थचरणारम्भास्थितेन अकारेण सह सन्धौ सति छन्दोलक्षणानुसरणे यतिभङ्गजन्या काचिदश्राव्यता जायते इति हतवृत्तत्वमत्र। 'विशाललोचने पश्य नभस्तारातरङ्गितम्' इति पाठे तु न दोषः।'

हतवृत्त दोष उसे कहते हैं जहाँ छन्दोलक्षण के अनुसार रचना होने पर भी सुनने में अरुचि तथा पढ़ते समय छन्द का दोष मालूम पड़े। जैसे—हे विशाललोचने! नक्षत्रों से विकसित आकाश को देखो। यहाँ छन्दःशास्त्र के अनुसार तृतीय चरण के आठवें अक्षर पर यति होनी चाहिए किन्तु वह चतुर्थ चरण के प्रथम अक्षर के साथ मिला दिया गया है।

अतः यहाँ छन्दोलक्षण के ठीक-ठीक मिल जाने पर भी यतिभङ्ग के कारण सुनने में या उच्चारण के समय विरसता प्रतीत होती है। इस लिए यहाँ हतवृत्त दोष है॥ १७॥

न्यूनं त्वत्खड्गसम्भूतयशःपुष्पं नभस्तटम्।
अधिकं भवतः शत्रून् दशत्यसिलताफणी॥ १८॥

अन्वयः—न्यूनं त्वत्खड्गसंभूतयशःपुष्पं-नभस्तटम्। अधिकम् असिलताफणी भवतः शत्रून् दशति।

व्याख्या—न्यूनमाह—न्यूनं = वर्णनीये अपेक्षितांशस्य अकथनात् न्यूनत्वं नामदोषः। उदाहरणं यथा—त्वदिति। तव खड्गेन=तवासिना संभूतं=जातं यशः = कीर्तिरेव पुष्पं = कुसुमं यस्य तत् त्वत्खड्गसंभूतयशःपुष्पम्, नभस्तटं = आकाशम् अस्ति आकाशेऽपि तव कीर्तिर्व्याप्तेति भावः। अत्र यशसि पुष्पारोपे कृते खड्गेऽपि लतात्वारोप आवश्यक आसीत्। स च न कृत इति न्यूनपदत्वम्। अधिकत्वमाह—अधिकमिति। वर्णनीये अनपेक्षितांशस्य कथनमधिकत्वं नामदोषः। उदाहरणं यथा—भवत इति। असिलताफणी—असिलता = खड्गवल्ली एव फणी=सर्पः इति असिलताफणी, भवतः=तव, शत्रून् = अरीन्, दशति = भक्षयति। अत्र तव खड्गेन शत्रवो हन्यन्ते इति भावः। अत्र असिफणी इत्येव वक्तुमुचितम् पुनरसिशब्दे लतात्वारोपोऽधिकः, अनपेक्षितत्वात्। अतोऽत्राधिकं दूषणम्।

न्यून नामक दोष वहाँ होता है जहाँ अपेक्षित पद न कहा जाय। जैसे आपके खड्ग से उत्पन्न कीर्तिरूपी पुष्प से आकाश व्याप्त है। यहाँ यश में पुष्प का आरोप तो किया किन्तु खड्ग में लता का आरोप नहीं किया यह न्यूनता है। यहाँ जब यश को पुष्प बताया गया तब खड्ग को लता बनाना अभीष्ट था। इस रूपक के अभाव से यहाँ न्यूनत्व दोष है। अधिक दोष वहाँ होता है जहाँ अनपेक्षित पद कहा गया हो। जैसे खड्ग लता रूपी सर्प आपके शत्रुओं को काटता है। यहाँ खड्ग में सर्प का आरोप करना उचित है, किन्तु कवि ने पहले उसमें अनपेक्षित लता का आरोप कर अनन्तर उसमें सर्प का आरोप किया। यहाँ खड्ग में लता का आरोप सर्वथा अप्रासङ्गिक है। अतः यहाँ अधिक दोष है॥ १८॥

कथितं पुनरुक्ता वाक् श्यामाब्जश्यामलोचना।
विकृतं दूरविकृतैरैयरुः कुञ्जरा पुरम्॥ १९॥

अन्वयः—पुनरुक्ता वाक् कथितम् (उदाहरणम्) श्यामाब्जश्यामलोचना। दूरविकृतैः विकृतम् (उदाहरणम्) कुञ्जराः पुरम् ऐयरुः।

व्याख्या—कथितमाह—कथितमिति। पुनरुक्ता=भूयो भाषिता, वाक्=वाणी, कथितं = कथितनामधेयं दूषणं भवति। यस्मिन् वाक्ये पुनरुक्ता वाग् भवेत्तत्र

कथितदोषः। उदाहरणं यथा—श्यामेति। श्यामं च तदब्जं च श्यामाब्जं=नीलकमलं तद्वत् श्यामे=श्यामवर्णे लोचने=नयने यस्याः सा श्यामाब्जलोचना=कृष्णकमलनयना कामिनीयमस्ति। अत्र श्यामब्जकथनमात्रेणैव लोचनयोः श्यामत्वप्रतीतेः पुनः श्यामपदोपादानात् तस्य पुनरुक्ततया कथितत्वं नाम दोषः। विकृतदोषमाह—विकृतमिति। दूरविकृतैः=दूरं यथा स्यात्तथा विकृतैः=विकारमापन्नैः, अत्यधिकधातुप्रत्ययादिविकारनिष्पन्नैः पदैः विकृतं=विकृताख्यं दूषणं भवति। उदाहरणं यथा—ऐयरुरिति। कुञ्जराः=हनुः अस्यास्तीति कुञ्जरः ते कुञ्जराः=हस्तिनः, पुरं=नगरं, ऐयरुः=प्रापुः, जग्मुः। अत्र 'ऐयरुः' पदमनेकप्रत्ययादिनिष्पन्नमिति विकृतत्वम्। जुहोत्यादिगणपठितात् ऋ-गतावित्यस्माद्धातोः लुङि, अडागमे झिप्रत्यये शपः श्लौ द्वित्वे उरदत्वे रेफलोपे 'अर्तिपिपर्त्योश्चे'ति अभ्यासस्य इत्वे अभ्यासस्यासवर्णे इतीयङि 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चे'ति जुसि 'जुसि चे'ति गुणेऽडागमे 'आटश्चे'ति वृद्धौ कृतायामैयरुरितिपदस्य सिद्धिः।

कथित दोष उसे कहते हैं जहाँ शब्द की आवृत्ति=पुनरुक्ति की गयी हो। जैसे श्यामाब्ज श्यामलोचना नीलकमल के समान नील नेत्रवाली नायिका। यहाँ नीलार्थक श्याम श्याम शब्द उसी अर्थ में दो बार आया है, अतः यहाँ कथित दोष है।

विकृत दोष उसे कहते हैं, जहाँ व्याकरण के अनेक सूत्रों द्वारा बने हुए शब्द का प्रयोग किया जाय। जैसे ऐयरुः। यह जुहोत्यादि गण के गत्यर्थक ऋ धातु के लङ् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन का रूप है। यहाँ अर्थ ज्ञान में विलम्ब होना दूषकता में कारण है।

पतत्प्रकर्षं हीनाऽनुप्रासादित्वे यथोत्तरम्।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेष समागतः॥ २०॥

अन्वयः—यथोत्तरं हीनानुप्रासादित्वे पतत्प्रकर्षं (भवति), एषः गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिः समागतः।

व्याख्या—पतत्प्रकर्षमाह—पतत्प्रकर्षमिति। यथोत्तरं=उत्तरोत्तरम्, हीनाः=रहिताः अनुप्रासादयः=अनुप्रासालङ्कारप्रभृतयः यस्मिंतत् हीनानुप्रासादि तस्य भावस्तत्त्वं तस्मिन् हीनानुप्रासादित्वे, पतत्प्रकर्षं—पतन्=ह्रसन् प्रकर्षः=उन्नतिः यत्र तत् पतत्प्रकर्षम्=पतत्प्रकर्षनामको दोषः। उदाहरति—गम्भीरेति। एषः=पुरो वर्तमानः, गम्भीरः=धीरः, आरम्भः=उपक्रमः यस्य स गम्भीरारम्भः दम्भोलिः=वज्रं पाणौ=हस्ते यस्य स दम्भोलिपाणिः गम्भीरारम्भश्चासौ दम्भोलिपाणिश्चेति गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिः=वज्रहस्तः पुरन्दरः, समागतः=समायातः, उपस्थितः। अत्र गम्भीरेत्यादिना उपक्रान्तस्य मकारानुप्रासस्य पाणिरेष समागत इत्यादौ त्यागात्पतत्प्रकर्षतादोषः।

पतत्प्रकर्ष उसे कहते हैं जहाँ कविता की रचना का उत्कर्ष अनुप्रासादि क्रम से उत्तरोत्तर गिरता जाय। जैसे 'गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेषः समागतः' यह प्रथम पाद में म्भ का अनुप्रास किया गया है, पर द्वितीयपाद में उसका सर्वथा अभाव हो गया है। अतः यहाँ पतत्प्रकर्ष दोष है ॥ २० ॥

समाप्तपुनरात्तं स्यादेष पीयूषभाजनम्।
नेत्रानन्दी तुषारांशुरुदेत्यम्बुधिबान्धवः ॥ २१ ॥

अन्वयः—समाप्तपुनरात्तं (दोषः, उदाहरणं च) पीयूषभाजनं नेत्रानन्दी अम्बुधिबान्धवः एषः तुषारांशुः उदेति।

व्याख्या—समाप्तपुनरात्तमाह—समाप्तपुनरात्तमिति। समाप्तं च तत् पुनरात्तं चेति समाप्तपुनरात्तं=अवशेषितगृहीतम्। अन्वये परिसमाप्ते सत्यपि यद्वाक्यं तदन्वय्येव शब्दान्तरेण पुनर्गृह्यते तत् समाप्तपुनरात्तम्। तथा च क्रियान्वयेन शान्ताकाङ्क्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य विशेषणान्तरान्वयार्थं पुनरुपादानं समाप्तपुनरात्तत्वं नाम दोषो भवति। उदाहरति—एष इति। पीयूषस्य=अमृतस्य भाजनं=भाण्डमिति पीयूषभाजनम्=अमृतस्यैकमात्रं स्थानं नेत्रानन्दी=नयनाह्लादकः, अम्बुधेः=समुद्रस्य बान्धवः=बन्धुरिति अम्बुधिबान्धवः=सागरस्नेही, एषः=पुरो दृश्यमानः तुषारांशुः=तुषाराः शीतलाः अंशवः=किरणा यस्य स तुषारांशुः चन्द्रः, उदेति=उदयमाप्नोति। अत्रोदेतीति क्रियान्वयेन शान्ताकाङ्क्षस्य विशेषवाचकपदस्य तुषारांशोः अम्बुबान्धव इति विशेषणान्वयार्थं पुनरनुसन्धानात् समाप्तपुनरात्तम्।

समाप्तपुनरात्त दोष उसे कहते हैं जहाँ अन्वय समाप्त हो जाने पर बाद में कुछ और जोड़ा जाय। 'एष पीयूषभाजम्' इत्यादि श्लोक इसका उदाहरण है। अमृत का स्थान नेत्रों को आनन्द देने वाला समुद्र का बन्धु यह चन्द्रमा उदित होता है। इसमें उदेति क्रिया तक वाक्य समाप्त हो जाने के बाद उसमें सम्बन्ध रखने वाले अम्बुबान्धव पद का पुनः प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ उक्त दोष हुआ ॥ २१ ॥

अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु सस्मितम्।
मोघारम्भं स्तुमः शम्भुमर्धरम्भोरुविग्रहम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—अर्धान्तरपदापेक्षि-क्रीडानृत्येषु मोघारम्भं सस्मितम्, अर्धरम्भोरुविग्रहम्, शम्भुं स्तुमः (वयमिति शेषः)।

व्याख्या—अर्धान्तरपदापेक्षित्वमाह—अर्धान्तरेति। अन्यत् अर्धम् अर्धान्तरं तस्मिन् यत् पदं तदपेक्षते इति अर्धान्तरपदापेक्षि। यदि पूर्वार्द्धे स्थितं किमपि पदम् उत्तरार्द्धस्थितस्य पदस्य अन्वयमपेक्षते, उत्तरार्द्धस्थितं च पदं पूर्वार्द्धस्थितस्य पदस्यान्वयमपेक्षते तदा अस्य दोषस्याविर्भावः।

उदाहरणं यथा—अर्धान्तरेति। अन्यत् अर्धमर्धान्तरं पार्वतीरूपं तत्र यत् पदं—चरणं तदपेक्षन्ते इति अर्धान्तरापेक्षीणि तानि च क्रीडानृत्यानि चेति अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्यानि तेषु तथोक्तेषु, मोघारम्भं—मोघः = निष्फलः आरम्भः = उपक्रमो यस्य स तं मोघारम्भं = निष्फलप्रयासम्, अतः सस्मितं = स्मितेन सहितं सस्मितम् — ईषद्धास्ययुतम्, अर्धरम्भोरुविग्रहम्—अर्धः = अर्धपरिमितः रम्भायाः= कदल्या ऊरु इव ऊरू यस्याः सा अर्धरम्भोरुः पार्वती पार्वतीरूपो विग्रहः — शरीरं यस्य स तम् अर्धरम्भोरुविग्रहम्, शम्भुं = शिवं स्तुमः — प्रणमामः। अत्रार्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु इत्यस्य पूर्वार्द्धस्थितस्य अन्वयः, मोघारम्भमिति उत्तरार्धस्थितेन पदेन सह सस्मितमिति पूर्वार्द्धस्थितं पदं च तत्पश्चात् अन्वितं स्यादुत्तरार्धे।

अर्धान्तर पदोपक्षी उसको कहते हैं, जहाँ कविता में पूर्वार्ध का भाग अपने उत्तरार्द्ध के पदों की तथा उत्तरार्ध का भाग अपने पूर्वार्ध के पदों की अपेक्षा रखता हो। जैसे उक्त श्लोक में ही अर्धान्तरापेक्षि पूर्वार्धपद अपने उत्तरार्धगत अर्धरम्भोरुविग्रह की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार पूर्वार्धभागस्थ सस्मित पद भी उत्तरभागस्थ मोघारम्भ के बिना असम्बद्ध सा मालूम पड़ता है इसलिए उक्त दोष है।

यह पूरा श्लोक ही उदाहरण है—मन्द मुस्कराहट करते हुए अर्धनारीश्वर भगवान् की हम स्तुति करते हैं कि जिनका नृत्य भगवती पार्वती के बिना निष्फल हो रहा है। इसका भाव यह है कि भगवती पार्वती भगवान् शङ्कर से रुष्ट होकर उनके ताण्डवनृत्य में सहयोग नहीं कर रही हैं, वे मानवती होकर अपना पैर नहीं उठातीं। बायें पैर के न उठने से ताण्डव नृत्य निष्फल हो जाता है जिससे वे मुस्कराने लगते हैं॥ २२॥

अभवन्मतयोगः स्यान्न चेदभिमतोऽन्वयः।
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम्॥ २३॥

अन्वयः—अभिमतः अन्वयः न चेत् (तदा) अभवन्मतयोगः (उदाहरणम्) येन अम्बुधिः बद्धः यस्य रामस्य वयम् अनुचराः।

व्याख्या—अभवन्मतयोगमाह— अभवन्मतयोग इति। अभिमतः = अभीष्टः, अन्वयः = पदसम्बन्धो न चेत् = यदि तदा अभवन्मतयोगः—न भवतीति अभवन् = न उत्पद्यमानः मतः = इष्टः योगः = सम्बन्धो यत्र स अभवन्मतयोगः = अभवन्मतयोगनामको दोषः। उदाहरति—येनेति। येन = रामेण अम्बुधिः — जलधिः समुद्रो बद्धः सेतुद्वारा अवबद्धः, यस्य च रामस्य वयम् अनुचराः = सेवकाः स्म। अत्र येनेति पदस्य रामस्येत्यनेन पदेन सदान्वयोऽपेक्षितः स च भिन्नविभक्तिकत्वात् वाक्यभेदाच्च नोपपन्नः। समानविभक्तिकानामेव विशेषणानां परस्परमन्वयार्हत्वादित्यभिमततात्पर्यविषयान्वयासम्भवादभवन्मतयोगत्वम्।

अभवन्मत योग उसे कहते हैं जहाँ पदों का योग कवि को अभिमत हो। जैसे जिस राम ने समुद्र पर सेतुबन्धन किया और जिस राम के हमलोग अनुचर हैं। यहाँ पूर्व वाक्यस्थ यत् पद का उत्तर वाक्यस्थ यत्पद के साथ सम्बन्ध कवि को अभिप्रेत नहीं है। यहाँ उत्तर वाक्य में पूर्व वाक्यस्थ यच्छब्द (येन) की आकांक्षानिवृत्ति के निमित्त उत्तर वाक्य में तस्य का प्रयोग होना आवश्यक था ॥ २३ ॥

द्विषां सम्पदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत् ।
अस्थानस्थसमासं न विद्वज्जनमनोरमम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अस्थानस्थसमासम्, (उदाहरणम्) यः द्विषां सम्पदम् आच्छिद्य शत्रून् समपूरयत् तद् विद्वज्जनमनोरमम् न (वर्तते)।

व्याख्या—अस्थानस्थसमासत्वमाह—द्विषामिति। अस्थाने = अयोग्ये स्थाने तिष्ठतीति अस्थानस्थः अस्थानस्थः समासो यस्मिंस्तत् अस्थानस्थसमासम् अस्थानस्थ-समासो दोषः। अनभिमतस्थानस्थितसमासत्वमिति यावत्। उदाहणं यथा—यः = राजा द्विषां = शत्रूणां सम्पदं = श्रियम्, आच्छिद्य = बलादपहृत्य शत्रून् = वैरिणः समपूरयत् = समृद्धान् अकरोत् तत् विद्वज्जनमनोरमं = सुधीसमाजरुचि-करं न वर्तते।

अत्र पूर्वार्द्धे विक्रमवर्णनप्रसङ्गे तद्व्यञ्जकेषु सर्वेषु पदेषु वीररसानुगुणः दीर्घसमासः समुचितः, परन्तु स तत्र न कृतः, चरमे चरणे च विद्वज्जनमनोरम-मित्यत्र सामान्यं वर्णनं समासं नापेक्षते। इत्थमस्थानस्थसमासत्वम्।

अस्थानस्थ समास दोष वहाँ होता है जहाँ दीर्घ समास की आवश्यकता रहने पर उसको न करना और जहाँ आवश्यकता न हो वहाँ उसे करना। जैसे जिस राजा ने शत्रुओं की सम्पत्ति को छीनकर पुनः उन्हीं को दे दिया। यह बात विद्वानों को नहीं जँचती। यहाँ शत्रुओं से सम्पत्ति छीनने के वीररसोचित वर्णन में दीर्घ समास होना आवश्यक है, पर वहाँ उसे न कर कवि की उक्ति 'विद्वज्जनमनोरमम्' में उसे किया है। अतः यहाँ अस्थानस्थ समास दोष हुआ ॥ २४ ॥

मिथः पृथग्वाक्यपदैः संकीर्णं यत्तदेव तत् ।
वक्त्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजते ॥ २५ ॥

अन्वयः—पृथग्वाक्यपदैः मिथः यत् सङ्कीर्णम् तत् एव तत् (उदाहरणम्) रात्रिः चन्द्रेण भ्राजते कान्ता (च) वक्त्रेण राजते।

व्याख्या—सङ्कीर्णत्वमाह—मिथ इति। यत् पृथक्वाक्यपदैः—पृथक् च तानि वाक्यस्य पदानि पृथक्वाक्यपदानि यद्वा वाक्यानि च पदानि चेति वाक्य-पदानि पृथक् वाक्यपदानीति पृथग्वाक्यपदानि, मिथः = परस्परं यत् सङ्कीर्णं =

सम्बद्धम्, तत् तदेव सङ्कीर्णमेव दूषणं भवति, उदाहरणं यथा—रात्रिः = निशा, चन्द्रेण = शशिना, भ्राजते = द्योतते, कान्ता = कामिनी च वक्त्रेण = मुखेन राजते = शोभते। अत्र रात्रिरिति पदं वक्त्रेण भ्राजते इति वाक्यान्तरे कान्ता इति पदं च चन्द्रेण राजते इति वाक्यान्तरे प्रविष्टम्। अतोऽत्र सङ्कीर्णत्वम्। अयं भावः अत्रोदाहरणे रात्र्यन्वितस्य चन्द्रस्य कान्तार्थप्रतिपादके वाक्ये उपादानम्, तथा कान्तान्वितस्य वक्त्रपदस्य रात्र्यर्थबोधके वाक्ये चोपादानमिति पदसङ्कीर्णत्वं स्पष्टम्।

जहाँ पद और वाक्य किसी दूसरे वाक्य में सम्मिलित हो जाते हैं वहाँ सङ्कीर्ण दोष होता है। यह दो प्रकार का होता है—पदसङ्कीर्ण और वाक्यसङ्कीर्ण। एक वाक्य गत पद सम्बद्ध पदका दूसरे वाक्य में होना पदसङ्कीर्ण है और एक वाक्य का दूसरे वाक्य में प्रवेश होना वाक्य सङ्कीर्ण है। जैसे—मुख से कान्ता शोभित होती है और चन्द्रमा से रात शोभित होती है। यहाँ पूर्व वाक्यगत मुख पद से सम्बद्ध कान्ता पद का सन्निवेश दूसरे वाक्य में और उत्तरवाक्यगत चन्द्रमापद सम्बद्ध रात्रि पद का सन्निवेश पूर्व वाक्य में किया गया है अतः यहाँ पदसङ्कीर्ण दोष है॥ २५॥

ब्रह्माण्डं त्वद्यशःपूर-गर्भितं भूमिभूषण।
आकर्णय पयःपूर्णसुवर्णकलशायते॥ २६॥

अन्वयः—भूमिभूषण! आकर्णय, ब्रह्माण्डं त्वद्यशःपूरगर्भितं (सत्) पयःपूर्णसुवर्णकलशायते।

व्याख्या—वाक्यसङ्कीर्णत्वमुदाहरति—ब्रह्माण्डमिति। हे भूमिभूषण! भूमेः पृथिव्याः भूषणम् = अलङ्कारः भूमिभूषणं यद्वा भूमिः = पृथ्वी भूषणम् = आभरणं यस्य स भूमिभूषणः तत्सम्बुद्धौ हे भूमिभूषण! = राजन्! आकर्णय = शृणु तव = भवतः यशःपूरैः = कीर्तिनिचयैः गर्भितं = व्याप्तमिति त्वद्यशःपूरगर्भितं ब्रह्माण्डं = भुवनकोशः, त्रैलोक्यात्मकमखिलं जगत् पयःपूर्णः = पयसा जलेन परिपूर्णः यः सुवर्णकलशः = काञ्चनघटः स इवाचरति = अनुकरोतीति पयःपूर्णसुवर्णकलशायते। पानीयपरिपूर्णस्वर्णकलशवत्तव कीर्त्या व्याप्तमखिलं ब्रह्माण्डं शोभते। त्वद्यशः सम्पूर्णं भुवनमभिव्याप्य वर्तते इति भावः। अत्र हे भूमिभूषण त्वमाकर्णय इति भिन्नं वाक्यं राज्ञो यशो वर्णनार्थके ब्रह्माण्डमित्यादि-वाक्यान्तरेऽनुप्रविष्टमिति वाक्यसङ्कीर्णता। प्रतीति विलम्बो दूषकताबीजम्।

इसी तरह हे भूमिभूषण! आपके समुज्ज्वल यशोराशि से परिपूर्ण यह समस्त ब्रह्माण्ड दूधसे भरे हुए सुवर्ण कलश के सदृश मालूम पड़ रहा है। यह बात आप सुनें।

यहाँ हे भूमिभूषण! आप सुनें यह वाक्य 'ब्रह्माण्ड आपके यशःप्रवाह से व्याप्त हो

जलपूर्ण स्वर्ण कलश बन गया है' इस वाक्य में घुस गया है। जिससे अर्थ की प्रतीति के लिए वाक्यों का विश्लेषण करने में विलम्ब होता है, जो दोष का बीज है ॥ २६ ॥

भग्न-प्रक्रममारब्ध-शब्दनिर्वाह-हीनता ।
अक्रमः कृष्ण पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः ॥ २७ ॥

अन्वयः—आरब्धशब्दनिर्वाहहीनता भग्नप्रक्रमम् (भवति, उदाहरणम्) कृष्ण ! त्वाम् अनाराध्य देवताः पूज्यन्ते (इत्यहो) अक्रमः ।

व्याख्या—भग्नप्रक्रममाह—भग्नेति । आरब्धस्य = प्रारब्धस्य, उद्देश्यस्थाने प्रयुक्तस्य शब्दस्य यः निर्वाहः प्रतिनिर्देश्यस्थाने प्रयोगः तत्र हीनतेति आरब्ध-शब्दनिर्वाहहीनता = आरब्धात्वाद्यनिर्वाहकता, भग्नप्रक्रमं = भग्नः = विच्छिन्नः प्रक्रमः = प्रस्तावः, यस्मिस्तत् उपक्रमं भग्नप्रक्रमं नाम दूषणम् । प्रस्तावश्चात्र आकाङ्क्षितप्रकारकोऽर्थः, यद् येन प्रकारेण प्रागभिहितं तस्य तेन प्रकारेण अनुक्ति-भङ्गः । उदाहरणं यथा—अक्रम इति । हे कृष्ण ! = हे वासुदेव ! त्वां = भवन्तम् , अनाराध्य = अपूजयित्वा देवताः = सुराः पूज्यन्ते = आराध्यन्ते इत्यहो अक्रमः = मर्यादोलङ्घनम् । अत्र अनाराध्य इति राधधातुना प्रारब्धस्य कृष्णाराधनाभाव-रूपस्य कार्यस्य निर्वाहः प्रतिनिर्देश्यरूपेण तेनैव धातुना अपेक्षितः, न तु अन्येन पूजधातुना । एवञ्च पूज्यन्ते, अनाराध्य इति धातुभेदेन पूजनमनाराधनं च भासते । आदौ कृष्णपूजनं ततो देवतान्तरपूजनमित्येष एव क्रमो लोके शास्त्रे च सर्वत्र परिदृश्यते ।

भग्न प्रक्रम दोष वहाँ हुआ करता है जहाँ उपक्रम में जिस धातु का प्रयोग किया गया हो, अन्त में उपसंहार में भी उसी का प्रयोग किया जाय। जैसे हे कृष्ण ! आरम्भ में आपकी आराधना न कर के अन्य देवताओं की जो पूजा की जाती है वह अक्रम है ।

तात्पर्य यह है कि जिस शब्द का जिस तरह आरम्भ किया गया हो उसी प्रकार अन्त तक उसका निर्वाह होना चाहिए। यहाँ राध धातु से आरम्भ होने पर राध धातु से ही अन्त होना चाहिए था, पर बदलकर पूज धातु का प्रयोग कर दिया गया है। इस प्रकार प्रतीति में शंका होने से वैरस्य उत्पन्न हो जाता है ।

वाक्य के दो खण्ड उपक्रम एवं उपसंहार होते हैं। जिस धातु से उपक्रम हो उसी धातु से उपसंहार न करना भग्नप्रक्रम दोष है ॥ २७ ॥

अमतार्थान्तरं मुख्येऽमुख्येनार्थे विरोधकृत् ।
त्यक्तहारमुरः कृत्वा शोकेनालिङ्गिताऽङ्गना ॥ २८ ॥

अन्वयः—मुख्ये अर्थे अमुख्येन विरोधकृत् अमतार्थान्तरं (भवति, उदाहरणम्) उरः त्यक्तहारं कृत्वा अङ्गना शोकेन आलिङ्गिता ।

व्याख्या—अमतार्थान्तरमाह—अमतेति। मुख्ये = प्रधाने प्रकृते वा अर्थं = वाच्ये अमुख्येन = अप्रधानेन, अप्रकृतेन वा अर्थेन विरोधकृत् विरोधं करोतीति विरोधकृत् = विरुद्धं वाक्यम् अमतार्थान्तरम्—अमतं = प्रकृतविरुद्धं—प्रकृतरसविरोधिरसव्यञ्जकत्वादनभिमतम् अर्थान्तरं श्लेषादिना व्यज्यमानः अन्यः अर्थो यस्य वाक्यस्य तत् अमतार्थान्तरम् = अमतार्थान्तरनाम्ना दोषः। उदाहरणं व्याचष्टे—त्यक्तहारमिति। त्यक्तहारं = अपसारितमुक्ताहारम्, उरः = उरःस्थलम् कृत्वा = विधाय, अङ्गना=कामिनी शोकेन=इष्टवियोगजन्येन दुःखेन आलिङ्गिता=आश्लिष्टा। अत्र अशोकेनेति पदच्छेदेन प्रकृतकरुणरसविरोधी शृङ्गाररसो व्यज्यते, तथाहि अशोकेन = शोकरहितेन अशोकनाम्ना नायकेन वा अपसारितहारं वक्षःस्थलं विधाय कामिनी अङ्गना निर्भरमुपगूढा।

अमतार्थान्तर दोष वहाँ होता है जहाँ मुख्य रस का अमुख्य रस के साथ विरोध होता हो। जैसे—नायिका गले से मुक्ताहार आदि आभूषणों को उतार शोक से व्याकुल हो गयी। यह करुण रस का उदाहरण है। यहाँ पर अशोकेन ऐसा पदच्छेद करने से करुणरस के विरोधी शृंगार रस की प्रतीति इस प्रकार होती है—शोकरहित (आनन्दित) नायक ने या अशोक नामक नायक ने रति के समय कण्टकरूप मुक्ताहार को हटा कर नायिका का दृढ़ आलिङ्गन किया यह कवि को अभिमत नहीं है। अतः यहाँ अमतार्थान्तर दोष है॥ २८॥

अपुष्टार्थो विशेष्ये चेन्न विशेषो विशेषणात्।
विशन्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाः खञ्जनत्विषः॥ २९॥

अन्वयः—विशेष्ये विशेषणात् विशेषः न चेत् (तदा) अपुष्टार्थः (भवति, उदाहरणम्) खञ्जनत्विषः कान्ताकटाक्षाः हृदयं विशन्ति।

व्याख्या—एवं प्रतिकूलाक्षरमारभ्यामतार्थान्तरं यावदष्टादश-वाक्यदोषानभिधाय वाच्येष्वर्थदोषेषु प्रथममपुष्टार्थदोषमभिधत्ते—अपुष्टार्थं इति। विशेष्ये = धर्मिणि विशेषणात् = विशेषणोपादानात् कश्चन विशेषः = विशिष्टता, न = नहि चेत् = यदि तदा अपुष्टार्थः—न पुष्टः अपुष्टः = विशेष्यानुपकारकः अपुष्टोऽर्थो यस्मिन् स अपुष्टार्थः=अपुष्टार्थनामकं दूषणं भवति। उदाहरति—विशन्तीति। खञ्जनस्य = खञ्जरीटस्य त्विडिव त्विट् येषां ते खञ्जनत्विषः = खञ्जनसमानकान्तयः, कान्ताकटाक्षाः = कान्तानां = रमणीनां कटाक्षाः = अपाङ्गदृष्टय इति कान्ताकटाक्षाः हृदयं = मनः, विशन्ति = प्रविशन्ति। अत्रोदाहरणे खञ्जनत्विष इति पदं विशेषणं किन्तु विशिष्ये कान्ताकटाक्षा इति पदे किमपि वैशिष्ट्यं नादधाति। कटाक्षाणां तीव्रताप्रदर्शनार्थं बाणसन्निभा इति विशेषणपदं युक्तं स्यात्।

अपुष्टार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ विशेष्य में विशेषण से किसी प्रकार की विशेषता प्रतीत न होती हो। जैसे, खञ्जरीट पक्षी के समान कान्ति वाले कान्ताओं के कटाक्ष-हृदय में घुसते हैं। यहाँ खञ्जनत्विषः इस विशेषण से कान्ताकटाक्ष रूप विशेष्य में कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती। इस लिए यहाँ अपुष्टार्थ दोष है। यदि कटाक्षों में तीक्ष्णता का प्रतिपादक शरत्सन्निभाः (बाँण के सदृश) कोई विशेषण होता तो कटाक्ष हृदय में घुसते हैं, इस अर्थ की पुष्टि होती है ॥ २९ ॥

कष्टः स्पष्टावबोधार्थमक्षमो वाच्यसन्निभः।
व्याहतश्चेद्विरोधः स्यान्मिथः पूर्वापरार्थयोः ॥ ३० ॥

अन्वयः—वाचि असन्निभः स्पष्टावबोधार्थम् अक्षमः (अर्थः) कष्टः (दोषः भवति) चेत् पूर्वापरार्थयोः मिथः विरोधः (स्यात्तदा) व्याहतः (दोषो भवति)।

व्याख्या—कष्टत्वं व्याचष्टे—कष्ट इति। यत्र वाचि = वचने, असन्निभः—न सत् = सम्यक् निभाति = भासते इति असन्निभः = अविद्यमानकल्पः, स्पष्टावबोधार्थम्—स्पष्टश्चासाववबोधश्चेति स्पष्टावबोधः तदर्थं स्पष्टावबोधार्थम् = स्फुटप्रतीत्यर्थम्, न क्षमते इत्यक्षमः = असमर्थः स्यात्तदा कष्टः = कष्टत्वदोषो भवति। यत्र शब्दे विद्यमानोऽप्यर्थः स्पष्टप्रत्ययाभावेन विद्यमान इव प्रतिभासते तत्रायं दोषोऽवगन्तव्य इति भावः।

व्याहतत्वमाह—व्याहत इति। चेत् = यदि पूर्वापरार्थयो = पूर्वश्चासौ अपरश्चेति पूर्वापरौ, पूर्वापरौ च तौ अर्थौ पूर्वापरार्थौ तयोः पूर्वापरार्थयोः = प्रथमान्त्ययोरर्थयोः मिथः = परस्परम् विरोधः = व्याघातः स्यात्तदा व्याहतः = व्याहतनामा दोषो भवति। तथा च पूर्वापरार्थविरुद्धत्वं व्याहतत्वम्। स्तुतिरूपस्यार्थस्य निन्दने निन्दारूपार्थस्य वा स्तुतौ द्विविधो व्याहतदोषः। तथा चोक्तम्—

'उत्कर्षो वाऽपकर्षो वा प्राग्यस्यैव निगद्यते।
तस्यैवार्थस्तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥'

कष्टत्व दोष का स्वरूप यह है कि जो अर्थ शब्दों में रहता हुआ भी न रहते हुए के समान हो और उक्त कारण से ही स्फुट अर्थ की प्रतीति न करता हो वह कष्टार्थ कहलाता है। जैसे, वाच्यसन्निभः=वाणी में अच्छी तरह न भासने वाला। यह अभीष्ट अर्थ शीघ्र प्रतीत नहीं होता, किन्तु कष्ट से जाना जाता है। वाच्यसन्निभः=वाच्य के सदृश यह अर्थ शीघ्र प्रतीत होता है।

पूर्व और उत्तर कथन में जहाँ परस्पर विरोध मालूम पड़े वहाँ व्याहत दोष होता है। तात्पर्य यह है कि किसी का प्रथम उत्कर्ष कह कर बाद में अपकर्ष कहा जाय अथवा पहले अपकर्ष कहकर अनन्तर उत्कर्ष कहा जाय तो दो प्रकार का अव्याहत दोष होता है ॥ ३० ॥

सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते ।
कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः---सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केन उपमीयते । तत्र उपमा कुतः य[त्र] सुधाकरः पुनरुक्तः (भवति) ।

व्याख्या—तत्राद्यं व्याहतमुदाहरति—सहस्रेति । सहस्रपत्रमित्रं---सहस्रपत्रं= कमलं तस्य मित्रं=सुहृत् इति सहस्रपत्रमित्रम्=कमलतुल्यं ते=तव वक्त्रं= मुखं केन=केन वस्तुना, उपमीयते=समानीक्रियते, समी कर्तुं शक्यते ।

अत्र पूर्वंकमलोपमया मुखस्य उत्कर्षं प्रतिपाद्य पुनस्तदपमाननिषेधप्रति- पादनेन मिथो विरोधः प्रदर्शित इति प्रथमस्य व्याहतभेदस्योदाहरणम् । द्वितीय- स्योदाहरणं तु—

'गोस्तनीमधुपीयूषमस्तु लोकमनोमुदे ।
मदनोन्मत्तचार्वङ्गीवचो मधु मुदे मम ॥'

अत्र पूर्वं मधुनि उपेक्षारूपा निन्दा पुनस्तत्र च मधुन एवोत्कर्षार्थमारोपः हेयोपादेयत्वविरोधो दूषकताबीजम् ।

अत्रैव पुनरुक्तोऽपि लक्षित उदाहृतश्च । अर्थादत्र पुनरुक्तपदं तन्त्रेण लक्ष्य- लक्ष्यान्तर्गतं च । उदाहरति---कुतस्तत्रेति । तत्र=तस्मिन् मुखविषये उपमा= सादृश्यं, उपमानं कुतः=कस्मात्, कथं स्यात्, यत्र=यस्मिन् मुखे सुधाकरः=चन्द्र पुनरुक्तः=व्यर्थः ।

अत्र 'कुतस्तत्रोपमा' इति कथयित्वा उपमाभावं प्रतिपाद्य यत् पुनः 'पुनरुक्त सुधाकरः' इति कथितं तत् पिष्टपेषणमात्रम् । यद्वा 'वक्त्रं केनोपमीयते' इत्यस्या वृत्तिः तेन 'वक्त्रं केनोपमीयते' 'कुतस्तत्रोपमा' इति वाक्यद्वयं पुनरुक्तम् ।

कमल के तुल्य तुम्हारे मुख की उपमा किससे दी जा सकती है (अर्थात् किसी नहीं) वहाँ उपमा कैसे हो सकती है जहाँ चन्द्रमा व्यर्थ है ।

पुनरुक्त का अर्थ है किसी बात को कहकर पुनः कहना । उदाहरण में पहले कहा चुका है कि वहाँ उपमा कैसे हो सकती है, जिससे बात समाप्त हो गयी, पर पुनः क[हा] गया, जहाँ चन्द्रमा भी व्यर्थ हैं इससे पुनरुक्ति हो गयी जो पुनरुक्तत्व नामक अर्थदो[ष] है ॥ ३१ ॥

दुष्क्रम-ग्राम्य-सन्दिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी ।
त्वद्भक्तः कृष्ण गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा ॥ ३२ ॥
एकं मे चुम्बनं देहि तव दास्यामि कञ्चुकम् ।
ब्रूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दुष्क्रम-ग्राम्य-सन्दिग्धाः अमी त्रयः दोषाः क्रमात् (उदाह्रियन्ते) कृष्ण ! त्वद्भक्तः (अहम्) नरकं स्वर्गमेव वा गच्छेयम् । एकं मे चुम्बनं देहि (अहम्) तव कञ्चुकं दास्यामि । ब्रूत चन्द्रमुखी चन्द्रकिरीटयोः किं सेव्यताम् ।

व्याख्या—दुष्टो लोकशास्त्रविरुद्धः क्रमो यत्र स दुष्क्रमः । दुष्क्रमश्च ग्राम्यश्च सन्दिग्धश्चेति दुष्क्रम-ग्राम्य-सन्दिग्धाः; अमी = एते त्रयः = त्रिसंख्याका दोषाः क्रमात् = क्रमेण ज्ञेया । लोकशास्त्रविरुद्धक्रमाभिधानत्वं दुष्क्रमत्वम्, अविदग्धप्रतिपादनविषयत्वं ग्राम्यत्वम्, वक्तृतात्पर्यविषये निश्चयाभावत्वं सन्दिग्धत्वम् ।

एषु त्रिषु दोषेषु दुष्क्रमत्वमुदाहरति—त्वदिति । हे कृष्ण ! = हे वासुदेव ! त्वद्भक्तः = तव सेवकः, अहं नरकं = निरयम् स्वर्गं = नाकं वा गच्छेयं = व्रजेयम् । कृष्णभक्तस्य पूर्वं स्वर्गगमनसंभावना समुचिता ततो नरकगमनरूपा । अत्र तु पूर्वं नरकगमनरूपा समुपात्तेति दुष्क्रमाख्योऽत्र दोषः । सहृदयोद्वेगे दूषकताबीजम् ।

ग्राम्योदाहरणमाह—एकमिति । हे प्रिये ! मे = मह्यं एकं = केवलं चुम्बनं देहि, अहं तव = ते कञ्चुकं = चोलिकां, स्तनावरकं स्यूतं वस्त्रं दास्यामि = वितरिष्यामि । अत्र चुम्बनचयने अचातुर्यं कञ्चुकलोभनं च ग्राम्यम् । चुम्बनयाचनं ग्रामीणा एव विदधति, विदग्धस्तु नैवं व्यवहरन्तीति ग्राम्यत्वम् ।

अत्र ग्राम्यत्वदोषस्योदाहरणमत्र प्रदत्तमस्ति, न परिभाषा प्रदत्ताऽस्ति । ग्राम्यस्यार्थस्य परिभाषा निम्नाङ्किता विद्यते—

'स ग्राम्योऽर्थो रिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते ।
वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु ॥'

अर्थाद् यत्र वनितादिकं प्रति कामेच्छायाः कथनं मूर्खद्वारा विदग्धभङ्गिमाशक्तिपरित्यागं कृत्वैव क्रियते इति तदर्थः ।

सन्दिग्धमुदाहरति—ब्रूतेति । ब्रूत = यूयं कथयत, चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः—चन्द्रवन्मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी = शशिवचना परमसुन्दरी नायिका सेव्या अथवा चन्द्रः—चन्द्रमाः किरीटे मौलौ यस्य स चन्द्रकिरीटः = शिवः सेव्यताम्, शशिवदनाशशिमौल्योर्मध्ये कतरद् वस्तु आश्रियताम् ।

अत्र वक्ता शान्तः शृङ्गारी वेति ज्ञानं यावन्नोदेति तावत्तस्य कुत्र तात्पर्यं वर्तते इति वक्तुं न शक्यते । प्रकरणद्वयाभावे शान्तरसः प्रतिपाद्य आहोस्वित् शृङ्गार इति निश्चेतुमशक्यत्वात् सन्दिग्धत्वं नाम अर्थदोषः ।

दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्ध ये तीन दोष हैं । मूल में इनकी परिभाषा नहीं दी गयी है, फिर भी इनका तात्पर्य है कि जहाँ लोक और शास्त्र से विपरीत क्रम वर्णन

किया गया हो वहाँ दुष्क्रम, जहाँ ग्रामीणों के व्यवहारोचित शब्दों का प्रयोग किया गया हो वहाँ ग्राम्य और जहाँ वक्ता के भावार्थ समझने में सन्देह हो वहाँ सन्दिग्ध दोष होता है।

जैसे—(१) दुष्क्रम का उदाहरण—हे कृष्ण! मैं आपका भक्त हूँ, नरक जाऊँ वा स्वर्ग। यहाँ भगवद्भक्त की सर्व प्रथम स्वर्ग गमन की आकांक्षा होनी चाहिए, नरक गमन की तो कथा ही दूर है। इस तरह का वर्णन लोक और शास्त्र दोनों में विरुद्ध है। अतः यहाँ दुष्क्रम दोष है।

(२) ग्राम्य का उदाहरण— हे प्रिये! एक बार मुझे चुम्बन करा दो, मैं तुझे कन्चुकं (चोली) दे दूँगा। यहाँ ग्रामीण नायक ने चातुर्य के बिना ही नायिका से सीधे-सीधे स्पष्ट रूप से कह दिया कि मुझे चुम्बन दे दो, मैं तुम्हें चोली दूँगा। इस लिए यहाँ ग्राम्य दोष है। इस तरह का प्रयोग प्रायः ग्रामीण लोग ही किया करते हैं।

(३) सन्दिग्ध दोष का उदाहरण—कहिए, चन्दमुखी (चन्द्रमा के समान आह्लाद जनक मुख वाली नायिका) और चन्द्रमौलि (शिवजी) में से किस की आराधना की जाय? चन्द्रमुखी की या चन्द्रशेखर की। यहाँ जब तक यह नहीं जाना जा सकता कि उक्त वाक्य का वक्ता शृंगार रस का प्रेमी है अथवा शान्तरस का, तब तक किसकी सेवा की जाय, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वक्ता के निश्चित न होने से सन्देह होता है कि उसे शान्त रस इष्ट है या शृंगार रस। यह उद्देश्य के निश्चय का अभाव ही दूषकता का बीज है ॥ ३२–३३ ॥

अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदा।
प्रसिद्ध्या विद्यया वाऽपि विरुद्धं द्विविधं मतम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः— अनौचित्यम् (दूषणम्, उदाहरणं च) यः सदा कीर्तिलतां तरङ्गयति। विरुद्धं प्रसिद्ध्या विद्यया अपि वा विरुद्धं द्विविधं मतम्।

व्याख्या—उचितस्य भावः औचित्यं न औचित्यम् अनौचित्यम् अनौचित्यं नाम दूषणम्। अयोग्यसम्बन्धत्वमनुचितत्वम्। उदाहरति—कीर्तिलतामिति। यः = यः पुमान्, सदा = सर्वदा, कीर्तिलतां = यशोवल्लरीम्, तरङ्गयति = तरङ्गितां करोति। अत्र लतायास्तरङ्गसम्बन्धोऽनुचितः, स तु धारावाहिकतया प्रवहमानेषु सरित्समुद्रजलाशयेष्वेव सम्भवतीत्यतस्तस्य तस्य तयात्वेन प्रतिपादनमनुचितम्। अतोऽयोग्यसम्बन्धत्वमनौचित्यं स्पष्टम्।

विरुद्धमाह—प्रसिद्ध्येति। प्रसिद्ध्या = महाकविसम्प्रदायप्रसिद्ध्या, विद्यया = शास्त्रेण वा यद् विरुद्धं तत् द्विविधम् = द्विप्रकारकम्, प्रसिद्धिविरुद्धं विद्याविरुद्धं चेति। मतम् = इष्टम्।

अनौचित्य दोष वहाँ होता है, जहाँ किसी वस्तु का सम्बन्ध किसी अयोग्य वस्तु के साथ दिखाया गया हो। जैसे—जो हमेशा कीर्तिलता को तरङ्गयुक्त करता है। अर्थात् उसे पल्लवित

करता है। यहाँ लता के साथ तरङ्ग का सम्बन्ध दिखाना अनुचित है, क्योंकि तरङ्ग का सम्बन्ध जलाशयों में ही दिखाना समुचित है।

लोक ख्याति अथवा शास्त्र के विरुद्ध वर्णन किये जाने पर विरुद्ध दोष दो प्रकार का होता है—प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध ॥ ३४ ॥

न्यस्तेयं पश्य कन्दर्प-प्रताप-धवलद्युतिः।
केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पश्य, इयं, कन्दर्पप्रताप-धवलद्युतिः न्यस्ता। शम्भोः शेखरे केतकी चन्द्रकलातुलां धत्ते।

व्याख्या—कविप्रसिद्धविरुद्धम् अनौचित्यम् उदाहरति—न्यस्तेयमिति। इयं पुरो दृश्यमाना कन्दर्पस्य=कामस्य यः प्रतापः=विक्रमः तस्य धवला=श्वेता चासौ द्युतिः=कान्तिश्चेति कन्दर्पप्रतापधवलद्युतिः, न्यस्ता=स्थापिता। इति त्वं पश्य=अवलोकय। अत्र प्रतापस्य वर्णः रक्तो न श्वेत इति कविसमय-प्रसिद्धिमपहाय श्वेतो वर्णः प्रतापस्य प्रतिपादित इति कविसमयविरुद्धमेतत्। तथा चोक्तं केशवमिश्रेण अलङ्कारशेखरे—

'असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात्।
नियमस्य पुरस्कारात् संम्प्रदायस्त्रिधा कवेः ॥'

विद्याविरुद्धमनौचित्यमुदाहरति—केतकीति। शम्भोः=शिवस्य, शेखरे=मुकुटे, मस्तके, न्यस्ता केतकी=केतकवृक्षखण्डम्, चन्द्रकलातुलां=शशिकला-साम्यं, धत्ते=दधाति। केतकीपुष्पं शिवस्य पूजायां वर्जितमिति तदत्र वर्णनं पुराणादि-विद्याविरुद्धं शिवशापेन केतक्याः स्वपूजाबहिष्कृतत्वात्। तथा चोक्तं सनत्कुमारसंहितायाः कार्तिकमाहात्म्ये—

'शृणु केतक! ते पुष्पैर्नरो मामर्चयिष्यति।
लक्ष्मीसन्ततिहीनोऽसौ रौरवं नरकं व्रजेत् ॥'

अत्रत्यं पौराणिकमैतिह्यं यथा—एकदा श्रेष्ठत्वे परस्परं विवादं कुर्वन्तौ विष्णु-ब्रह्माणौ शिवशरणमुपजग्मतुः। तदा भगवान् सदाशिवः तयोस्तं विवादमाकर्ण्य 'मदीयं लिङ्गमुपरि अधश्च कियद्दूरं गतं विद्यते इति ज्ञात्वा यः प्रथममागमि-ष्यति स एव भवतोर्मध्ये श्रेष्ठो भविष्यति। इत्येवं कथयित्वा विधिमुपरि विष्णु-श्चाधो भागे स प्रहितवान्। तदनन्तरं भगवान् विष्णुः पञ्चाशद्वर्षानन्तरमुपेत्य न मया अद्यावधि ते लिङ्गमवगतमिति तथ्यमुवाच।

अत्र विधातापि निरन्तरमुपरि गच्छन् यदा लिङ्गान्तं नाध्यगतवान् तदा

चिन्ताक्रान्तचित्तोऽभवत् । तस्मिन्नेवावसरे शिवलिङ्गं दुग्धधारया स्नापयित्वा कामधेनुः निर्माल्यतया विसृष्टं केतकीपुष्पं च द्वावपि विधेः दृष्टिपथातिथी बभूवतुः। कुतो युवयोरागमनमिति ब्रह्मणा पृष्टे तौ यथावद्वृत्तमूचतुः। ततो विधिना विचारितं यदीमौ मे साक्षिणौ भवेतां तर्हि मे कार्यं सेत्स्यति । एवं निश्चित्य स तावनुनीय अनुकूलौ कृत्वा ताभ्यां सह शिवसन्निधावुपस्थितवान् ।

ततो ब्रह्मावोचद् यदहं लिङ्गान्तं दृष्ट्वा परावृतोऽस्मि । अत्र साक्षितया इयं कामधेनुः केतकीपुष्पं च वर्तते । शिवेन पृष्टयोः तयोः मिथ्याभाषणमाकर्ण्य सदा-शिवोऽशपत् यद् ब्रह्मणो पूजा न भविष्यति, गवां मुखं सदाऽपवित्रं वर्तताम्, केतकी पुष्पं च अद्यारभ्य मम पूजानर्हं भवतु ।

यह श्लोकार्द्ध प्रसिद्धि के विरुद्ध अनौचित्य का उदाहरण है। देखो, यह कामदेव के प्रताप की श्वेत कान्ति सामने वर्तमान है। यहाँ प्रताप का श्वेतवर्णन कवि प्रसिद्धि के विरुद्ध है । कवियों ने प्रताप का रंग लाल माना है ।

विद्या विरुद्ध अनौचित्य का उदाहरण—भगवान् शङ्कर के मस्तक पर केतकी का पुष्प चन्द्रमा की कला के समान सुशोभित हो रहा है। केतकी का पुष्प भगवान् शङ्कर की पूजा में पुराण के द्वारा वर्जित है । अतः यह पुराण विद्या विरुद्ध दोष है ।

एक बार विष्णु तथा ब्रह्मा में यह विवाद उपस्थित हुआ कि हम दोनों में से कौन श्रेष्ठ हैं । यह निर्णयार्थ शिव के समीप पहुँचे । तब शिवने कहा—जो शिवलिंग का अन्त लगा लेगा उसे श्रेष्ठ माना जायेगा । तब विष्णु नीचे गये और ब्रह्मा ऊपर । अन्त न पाकर लौटकर विष्णु ने तो सत्य बात बता दी किन्तु ब्रह्मा ने अन्त पाने की बात कहकर ऊपर से आती हुई कामधेनु तथा केतकी से झूठी गवाही करा दी । इस पर शिवने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि आज से ब्रह्मा की पूजा नहीं होगी, मेरे पूजन में केतकी निषिद्ध मानी जायेगी और गौओं के मुख सदा अपवित्र रहेंगे ।। ३५ ।।

सामान्य-परिवृत्तिः स्यात्कुण्डलच्छविविग्रहा ।
विशेषपरिवृत्तिः स्याद्वनिता मम चेतसि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सामान्यपरिवृत्तिः स्यात् (दोषः, उदाहरणं च) कुण्डलच्छविविग्रहा। विशेषपरिवृत्तिः स्यात् वनिता मम चेतसि ।

व्याख्या—सामान्यपरिवृत्तित्वमाह—सामान्येति । सामान्यपरिवृत्तिः—सामान्यस्य सामान्यार्थबोधकपदस्य परिवृत्तिः = परिवर्तनं यत्र स्यात् = भवेत् स सामान्यपरिवृत्तिः = सामान्यपरिवृत्तिर्नाम वाक्यदोषः । उदाहरणं यथा–कुण्डलच्छविविग्रहा-कुण्डलस्य = कर्णभूषणस्य छविः = कान्तिरिव छविर्यस्याः सा कुण्डलच्छविविग्रहा = कनककान्तिकलेवरा इयं कामिनी मम चेतसि विद्यते इति शेषः ।

यत्र सामान्यार्थबोधकस्य पदस्य स्थाने विशेषार्थबोधकं पदमुपादीयते तत्र अस्य दोषस्यावकाशः। अत्र स्वर्णस्य स्थाने कुण्डलस्योपादानं दोषाय।

कनककान्तिसमशरीरेति वक्तव्ये सामान्यकनकार्थबोधकं पदं परित्यज्य विशेषकुण्डलपदोपादानं कृतमिति सामान्यपरिवृत्तित्वमत्र।

विशेषपरिवृत्तित्वं व्याचष्टे—विशेषेति। विशेषस्य विशेषार्थबोधकस्य पदस्य परिवृत्तिः = परिवर्तनं यत्र स्यात् = भवेत् स विशेषपरिवृत्तिः = विशेषपरिवृत्तिर्नाम-दोषः। उदाहरणं यथा—वनिता=स्त्री मम चेतसि = मे मानसे वर्तते। यत्र विशेषार्थबोधकस्य पदस्य स्थाने सामान्यार्थबोधकं पदं गृह्यते तत्रायं दोष आविर्भवति। अत्र वनितापदेन सर्वासां वनितानां ग्रहणे सर्वासां वल्लभात्वं न संघटते इति वल्लभावनितानामग्रहणमुचितमिति वनिताविशेषोपादानेऽपेक्षिते सामान्यार्थ-प्रतिपादकवनितापदोपादानं कृतमिति विशेषपरिवृत्तिर्दोषः। यद्वा प्रियापदस्य स्थाने वनितापदोपादानं दोषायेति भावः।

इसमें उदाहरण मात्र दिये गये हैं, परिभाषा नहीं। संकेत के लिए सार्थक नाम देकर काम चलाया गया है। जहाँ सामान्य अर्थ बोधक पद की आवश्यकता हो वहाँ विशेष अर्थ बोधक पद का प्रयोग करना सामान्यवृत्ति, और जहां विशेष अर्थ बोधक पद की आवश्यकता हो वहां सामान्य अर्थ बोधक पद का प्रयोग करना विशेष परिवृत्ति दोष होता है। जैसे कुण्डल की कान्ति के समान शरीर वाली कान्ता। यहां कवि को अभिप्रेत है, सुवर्ण के समान कान्ति वाली कान्ता, परन्तु इस वर्णन के लिए सुवर्ण वाचक सामान्य पद का प्रयोग न करके विशेषार्थ बोधक कुण्डल पद का प्रयोग किया गया है। अतः यहां सामान्य परिवृत्ति दोष है।

विशेष परिवृत्ति का उदाहरण है, 'वनिता मम चेतसि' स्त्री मेरे मन में है। यहां स्त्री विशेष रूप अर्थ बोधक अपनी प्रियतमा का नाम लेना उचित था, वह न लेकर सामान्य स्त्री वाचक पद का प्रयोग किया गया है, सब स्त्रियां प्रिय हो नहीं सकतीं। अतः यहां विशेष परिवृत्ति है॥ ३६॥

द्वौ स्तः सहचराऽचारुविरुद्धान्योन्यसंगती।
ध्वाङ्क्षाः सन्तश्च तनयं स्वं परञ्च न जानते॥ ३७॥

अन्वयः—सहचराचारु-विरोधान्योन्यसंगतिः द्वौ (वाक्यदोषौ) स्तः। ध्वाङ्क्षाः सन्तश्च स्वं तनयं परं च न जानते।

व्याख्या—सहचराचारुविरुद्धान्योन्यसङ्गती—न चारुः अचारुः सहचरतीति सहचरः स चासौ आचारश्चेति सहचराचारुः, विरुद्धा चासौ अन्योन्यसङ्गतिश्चेति विरुद्धान्योन्यसङ्गती, इमौ द्वौ वाक्यदोषौ स्तः=भवतः। सहचराचारुमुदाहरति—ध्वाङ्क्षा इति। ध्वाङ्क्षाः = काकाः, सन्तः = सज्जनाश्च स्वं = स्वीयं, तनयं=पुत्रं

परं = परकीयं च न जानते — नहि बुध्यन्ते । अत्र ध्वाङ्क्षपदेन सह काकपदस्य प्रयोगः सहचराचारुत्वस्थाने वाक्यदोषाय ।

सज्जनाश्च स्वपरभेदशून्याः काकाश्चाज्ञानेन कोकिलयुतानामेव स्वं पुत्रं मन्यमानाः तत्पालनं कुर्वन्ति । पक्षोत्पत्त्यनन्तरं कोकिलपुत्रा स्वजातौ मिलन्ति। अत एव च ते परभृत उच्यन्ते । अत्र काकसज्जनयोः साहचर्यं न सम्यग् इति सहचराचारुत्वदोषः ।

दोषोऽयं द्विधा जायते—उत्कृष्टैः सह निकृष्टस्य, निकृष्टैः सहोत्कृष्टस्य साहचर्यात्।

जहां बेमेल दो वस्तुओं के साहचर्य का वर्णन किया जाय तथा परस्पर विरुद्ध दो पदार्थ का एक साथ वर्णन किया जाय वहां क्रमशः दो दोष होते हैं—सहचराचारु और अन्योन्यसङ्गति । जैसे, कौवे और सत्पुरुष अपनी या पराई संन्तान में तनिक भी भेद भाव नहीं रखते, दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं । इसका आशय यह है कि सज्जन तो समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और कौवे अज्ञानवश कोकिल के बच्चों को अपना बच्चा समझ कर पालन-पोषण करते हैं । यहाँ कौआ और सज्जन इन बे-मेल दो वस्तुओं के साहचर्य का वर्णन करने से उक्त दोष होता है ।

प्रसिद्धि है कि कौवे कोकिल के बच्चों का पालन-पोषण करते हैं । कोयल अपना परिश्रम बचाने के लिए अपने बच्चों को कौवे के घोसले में रख आती है और कौआ उसे अपने बच्चे समझ कर पालता है । जब उनको पाँखें जम जाती हैं तब वे उड़ जाते हैं । इसीलिए कोयल का एक नाम परभृत् भी है ।। ३७ ।।

सरोजनेत्र पुत्रस्य मुखेन्दुमवलोकय ।
पालयिष्यति ते गोत्रमसौ नरपुरन्दरः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—(हे) सरोजनेत्र ! पुत्रस्य मुखेन्दुम् अवलोकय । असौ नरपुरन्दरः ते गोत्रं पालयिष्यति ।

व्याख्या—विरुद्धान्योन्यसङ्गतिमुदाहरति—सरोजनेत्रेति । हे सरोजनेत्र ! कमलनयन ! पुत्रस्य = सुतस्य मुखेन्दुं = मुखचन्द्रं, अवलोकय = पश्य, असौ = वर्णमानः नरपुरन्दरः = नरेन्द्रः ते पुत्रः = ते तव गोत्रं = कुलम् पालयिष्यति = रक्षिष्यति । चन्द्रोदये कमलं सङ्कोचमश्नुतीति नेत्ररूपसरोजस्य मुखरूपस्येन्दोश्च सङ्गतिविरुद्धा । एवं पुरन्दरस्य = इन्द्रस्य गोत्रपालनमपि विरुद्धं, तस्य गोत्रभेदकत्वात् । य एव गोत्रं = पर्वतं भिनत्ति स कथं रक्षिष्यतीति मिथो विरुद्धत्वात् पुत्रे पुरन्दरारोपो नितरां विरुद्ध इति विरुद्धान्योन्यसङ्गतिर्दोषः ।

विरुद्धान्योन्यसंगति का उदाहरण देखिए—हे कमल के समान आंख वाले पुरुष ! अपने पुत्र के मुखकमल को देखो, मनुष्यों में इन्द्र के सदृश तुम्हारा पुत्र तेरे गोत्र का पालन

करेगा। उक्त उदाहरण में सरोज नेत्र और मुखेन्दु पर तथा 'पुरन्दरो नेत्रं पालयिष्यामि' इस वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि चन्द्रोदय होने पर कमल मुकुलित हो जाते हैं और पुरन्दर=इन्द्र गोत्र का पालन नहीं करता, प्रत्युत वह गोत्र=पर्वत का भेदन नहीं करता है। अतः यहां विरुद्धान्योन्यसंगति दोष है।

गोत्र शब्द पर्वत के लिए प्रसिद्ध है। पौराणिक कथा है कि पहले पर्वतों के पंख थे। वे उड़कर जिस स्थान पर बैठते थे वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था बाद इन्द्र ने जन रक्षा के निमित्त अपने वज्र से उनके पंख काट दिये, जिससे इन्द्र का नाम गोत्रभिद् पड़ गया ॥३८॥

पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके।
यथानुसारमभ्यूहेद्दोषान् शब्दार्थसम्भवान् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यथानुसारम्, शब्दार्थसम्भवान् दोषान् पदे, तदंशे, वाक्यकदम्बके वाक्ये, वाक्यांशे (च) अभ्यूहेत्।

व्याख्या—यथानुसारं=लक्षणानुकूलम्, शब्दार्थसम्भवान्=शब्दश्चासावर्थश्च शब्दार्थौ ताभ्यां सम्भवो येषां ते तान् शब्दार्थसम्भवान्=शब्दसम्भवान् अर्थसम्भवांश्च दोषान् अन्वयव्यतिरेकवशात् एवं दोषान् उक्त्वा तदाश्रयभेदान् कथयन्नुपसंहरति—पद इति। पदे=सुप्तिङन्तरूपे तदंशे—तस्य पदस्य अंशे=प्रकृतिप्रत्ययादिरूपे वाक्यांशे=वाक्यस्य अंशे भागे, समासे खण्डवाक्ये च वाक्ये=महावाक्ये, वाक्यकदम्बके=वाक्यानां कदम्बके=समूहे प्रबन्धे च अभ्यूहेत्=विचारयेत्, जनीयादित्यर्थः।

इत्थं च केचन दोषाः शब्ददोषाः, केचन च अर्थदोषाः, केचन चोभयदोषाः। ये च शब्दनिष्ठदोषाः ते पद-पदांश-वाक्यांश-वाक्य-वाक्यकदम्बकगतत्वात् पञ्चधा, अर्थदोषस्त्वेकविध एव।

इस प्रकार दोषों को कह कर अब उनके आश्रयों को कहते हैं। शब्द एवं अर्थ में रहने वाले दोष क्रमशः पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश और महावाक्य इन पांच स्थानों में रहते हैं। और अर्थ दोष केवल अर्थ में समझना चाहिए। अर्थात् शब्दनिष्ठ दोष पूर्वोक्त पांच स्थानों में रहते हैं तथा अर्थ दोष केवल एकमात्र अर्थ में ही रहते हैं।

विशेष—दोष विचारक भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न दोष गिनाये हैं। कहीं-कहीं नाम में थोड़ा अन्तर है; कहीं किसी दोष का अन्तर्भाव दूसरे में कर दिया गया है और कहीं उपभेद कर दिये गये हैं। पर चन्द्रालोक में प्रायः मम्मटाचार्य का ही अनुसरण किया गया है॥ ३९ ॥

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम्।
निवारयति यस्तेषां दोषाङ्कुशमुशन्ति तम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—यः स्वान्ते आपतितं विशृङ्खलं प्रसरन्तं दोषं त्रेधा निवारयति। तं दोषाङ्कुशम् उशन्ति (काव्यमर्मज्ञाः) ।

व्याख्या—अथेदानीमुक्तदोषाणामपवादं वक्तुं दोषाङ्कुशलक्षणमभिधत्ते—दोषमिति । यः स्वान्ते = मानसे आपतितम् = अनुभूतम्, विशृङ्खलं विगता = शृङ्खला यस्य स विशृङ्खलः प्रतिबन्धरहितः तं शृङ्खलाशून्यतया अप्रतिबन्धम्, प्रसरन्तं = व्याप्नुवन्तं विकसन्तम् दोषं = दोषत्वेन निश्चितम्, त्रेधा = प्रकारत्रयेण निवारयति = दूरीकरोति तं दोषाङ्कुशं = दोषाणां निवारकम् उशन्ति = वाञ्छन्ति काव्यमर्मज्ञा बुधाः । भेदत्रयवता अनेन च दोषाङ्कुशेन दोषा गुणा निर्दोषाश्च भवन्तीति भावः ।

दोषाङ्कुश उसे कहते हैं जो मन में उत्पन्न और बेधड़क बढ़ने वाले दोष को तीन प्रकार से निवारण करे। दोषों का अङ्कुश=निवारक यह इसका यौगिक अर्थ है ॥ ४० ॥

दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥ ४१ ॥

अन्वयः—असौ दोषे गुणत्वं तनुते, दोषत्वं वा निरस्यति, अथवा भवन्तं अत्याज्यतां नयति ।

व्याख्या—दोषाङ्कुशभेदत्रयमाह—दोष इति । असौ = एषः दोषाङ्कुशः, क्वचिद् दोषे=ग्राम्यादिदोषे गुणत्वं=गुणतां तनुते = विस्तारयति, दोषं गुणे परिणमयतीत्यर्थः । (इति प्रथमः प्रकारः) । क्वचित् दोषे सत्यपि तद्गतं दोषत्वं = दूषणत्वं, विद्याविरुद्धादिकं निरस्यति = दूरीकरोति, केवलं दोषत्वमेव निवारयति न किमपि गुणत्वमानयतीत्यर्थः (द्वितीयः प्रकारः) । अथवा = यद्वा क्वचित् भवन्तम् = वर्तमानम् आपतन्तमपि निरर्थकत्वादिदोषं = दूषणम्, अत्याज्यताम् = उपादेयताम् नयति = प्रापयतीति (तृतीयः प्रकारः) ।

वह दोष में गुण का आरोप करता है, दोष को निर्दोष बना देता है, और आये हुए दोषों को उपादेय बना देता है।

विशेष—दोषाङ्कुश के तीन भेद बताये गये हैं। जिनमें (१) कहीं दोष गुण हो जाता है। (२) कहीं दोष नहीं रह जाता है तथा (३) कहीं दोष ऐसा अङ्ग बन जाता है कि उसे हटाना ही दोष हो जाता है, वह अपरिहार्य अंग बन जाता है। इस प्रकार ग्राम्यादि दोष हास्य रस में गुण बन जाते हैं। विद्याविरुद्ध आदि दोष कवियों के संकेत से निर्दोष बन जाते हैं। और निरर्थकादि दोष श्लेषादि अलङ्कारों में ग्राह्य हो जाते हैं। ४१

मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः ।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—मुखं श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः चन्द्रश्रियं धत्ते। अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणत्वं गतम्।

व्याख्या—तत्र प्रथमस्य ग्राम्यदोषस्य गुणताया उदाहरणं यथा—मुखमिति। मुखं = वृद्धवदनम्, श्वेतश्मश्रूण्येव = कपोलचिबुकोत्पन्नधवलकेशा एव कराः = किरणाः तेषामङ्कुराः प्ररोहाः तैः श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः, चन्द्रश्रियं = शशिशोभां धत्ते = बिभर्ति। अत्र हास्यरसोद्देशे = हास्यरसप्रतिपादने सति ग्राम्यत्वं=ग्राम्यत्व-दोषः, गुणतां = गुणत्वं गतं = प्राप्तम्।

अत्र श्वेतश्मश्रुकरेत्यादिवर्णनस्य ग्राम्यत्वेऽपि विदूषकोक्तौ हास्यरसपोषकत्वा-दस्य गुणत्वमिति प्रथमो भेदः।

ग्राम्य दोष हास्य रस में गुण बन जाता है। इसका उदाहरण 'मुखं चन्द्र०' यह पद्य है—सफेद दाढ़ी-मूँछों के बाल रूपी किरणों से वृद्ध मनुष्य का मुख चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहा है। सफेद दाढ़ी-मूँछों के केशों को चन्द्रमा के किरण के समान बतलाना ग्रामीण मनुष्यों की कल्पना है, अतः यहां ग्राम्य दोष है, क्योंकि हास्य रस की पुष्टि ग्राम्य-दोष द्वारा अधिक होती है। अतः यहां ग्राम्यदोष हास्य रस के अनुकूल होने के कारण गुण बन जाता है॥ ४२॥

तव दुग्धाब्धि-संभूतेः कथं जाता कलङ्किता।
कवीनां समयाद्विद्याविरुद्धोऽदोषतां गतः॥ ४३॥

अन्वयः—दुग्धाब्धिसम्भूतेः तव कलङ्किता कथं जाता। विद्याविरुद्धः कवीनां समयात् अदोषतां गतः।

व्याख्या—द्वितीयं दोषाङ्कुशप्रकारमुदाहरति—तवेति। हे चन्द्र! दुग्धाब्धि= क्षीरसागरः सम्भूतिः = उत्पत्तिस्थानं यस्य स तस्य दुग्धाब्धिसम्भूतेः = क्षीर-सागरसमुत्पन्नस्य तव = भवतः, कलङ्किता = कलङ्कत्वं कथं = कुतो जाता = प्राप्ता। अत्र विद्याविरुद्धः = विद्याविरुद्धो दोषः कवीनां = कवयितॄणां समयात् = सम्प्रदायात्, अदोषतां = दोषमुक्ततां गतः = जातः।

इदमस्य तात्पर्यम्—क्षीरसागरसमुत्पन्नश्चन्द्रो निष्कलङ्कः, अत्रिनेत्रसमुत्पन्नस्तु सकलङ्क इति पौराणिकानां प्रसिद्धिः। परं कविसंप्रदाये द्वयोरैकत्वारोपा-दुभयत्रापि कलङ्कित्वमेव वर्तते। एवं चन्द्रे कलङ्कित्ववर्णनं पुराणविद्याविरुद्धमपि कविसमयमहिम्ना न दोषत्वं भजते। अतोऽत्र विद्याविरुद्धो दोषो न दोषाय।

विद्या विरुद्ध दोष कवियों के संकेतित वर्णन में दोषाभाव को प्राप्त हो जाता है। इसका उदाहरण—'तव दुग्धाब्धि०' यह पद्य है। हे चन्द्रमा, क्षीरसागर से उत्पन्न होने पर भी तेरे में कलङ्क कहां से आ गया, क्योंकि पुराणों के अनुसार क्षीरसागर में उत्पन्न चन्द्रमा

निष्कलङ्क है। इस पुराण प्रसिद्धि के विरुद्ध वर्णन करना, विद्याविरुद्ध दोष होता है किन्तु कवि सम्प्रदाय में चन्द्रमा सकलङ्क माना जाता है। अतः उक्तवर्णन पुराण विरुद्ध होत हुआ भी कविसमयानुसार दोष नहीं होता। इस लिए यह दोष यहां दोषाभाव रूप परिण हो जाता है ॥ ४३ ॥

दधार गौरी हृदये देवं हि मकराङ्कितम्।
अत्र श्लेपोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—गौरी हि मकराङ्कितं देवं हृदये दधार। अत्र श्लेषोदयात् निरर्थं हि इति नैव त्याज्यम्।

व्याख्या—अधुना दोषाङ्कुरस्य तृतीयं भेदमुदाहरति—दधारेति। गौरी= गौरवर्णा नायिका हि=वै मकराङ्कितं=मीनलाञ्छितं देवं=देवतां कन्दर्पं हृदये= स्वान्ते दधार=दधौ। अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे श्लेषोदयात्=श्लेषालङ्कारस प्राकट्यात् निरर्थकं=निरर्थकत्वदोषजुष्टं हीति पदं नैव=नहि कदापि त्याज्यं= परिहर्तव्यम्। तद्विना श्लेषानुदयात्। अत्र नायिकापक्षे मकराङ्कितपदमादायैवार्थ निर्वाहात् हिपदस्यं निरर्थकत्वेऽपि शिवेन सह श्लेषनिर्वाहाय तदुपादानस्याव श्यकत्वात्। अत्र गौरी=पार्वती हिमकरेण=चन्द्रमसा अङ्कितं देवं शिवं हृदं दधार इत्यर्थे उपयोगि अपरिहार्यम् अपि गुणस्तु अस्त्येव।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य दोषनिरूपणनामके
द्वितीये मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता।

यहां श्लेष अलङ्कार के कारण पार्वती तथा गौराङ्गी नायिका इन दो पक्षों में पृथ पृथक् अर्थ होता है। इस में बीज ही पद है, नायिका पक्ष में गौरी=गौरवर्णा नायिका ने अप हृदय में मकराङ्कित देव (कामदेव) को धारण किया। पार्वती पक्ष में गौरी=पार्वती हिमकर=चन्द्रमा से अङ्कित देव महादेव-शिव को धारण किया। यहां नायिका पक्ष में ही निरर्थक दोप से दुष्ट होने पर भी उसके बिना पार्वती पक्ष में हिमकर अर्थ निकलने के का श्लेपालङ्कार नहीं हो सकता। अतः यहां निरर्थक दोष आत्याज्य माना गया है।

विशेष—दोषाङ्कुर के तीसरे भेद का यहां पूर्वार्द्ध में उदाहरण है और उत्तरार्ध उसकी व्याख्या की गयी है। निरर्थकत्व दोप में चरण पूर्ति के निमित्त हि आदि निरर्थ शब्द नहीं रखने चाहिए, किन्तु यहां हि श्लेष अलङ्कार का आधार होने के कारण अपरि अङ्ग है। प्रकरण न मालूम पड़ने पर यहां हि निरर्थक है, पर पार्वती पक्ष में अर्थ कर समय तो हि सार्थक है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक शब्दों का प्रयोग करने पर दोष नहीं पाते, वे गुण के अविभाज्य अंग बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैक-चतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
द्वितीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः॥ ४५॥

विशेष—यह पद्य जयदेव कवि के परिचय के निमित्त प्रथम अध्याय में अन्त में अङ्कित है और आगे भी नैषधीय चरित के समान सभी अध्यायों की समाप्ति में उल्लिखित है। इसमें केवल तत्तत् अध्यायों की समाप्ति की सूचना मात्र परिवर्तनीय है। तदनुसार प्रथमाध्याय के तृतीय चरण में 'अनेनासावाद्यः' के स्थान पर यहां 'द्वितीयस्तेनासौ' यह परिवर्तन किया गया है, शेष अंश पूर्ववत् है। अतः इसकी व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद भी पूर्ववत् समझना चाहिए॥ ४५॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के द्वितीय मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधानामक व्याख्या समाप्त।

तृतीयो मयूखः

अल्पाक्षरा विचित्रार्थ-ख्यातिरक्षर-संहतिः ।
उपाकान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः ॥ १ ॥

अन्वयः—अल्पाक्षरा विचित्रार्थख्यातिः अक्षरसंहतिः (कथ्यते, उदाहरणं यथा) अयं पुनः उषाकान्तेन अनुगतः शूरः शौरिः ।

व्याख्या—प्रथमेऽध्याये 'निर्दोषा लक्षणवती' इत्यादि काव्यलक्षणानुसृत्य द्वितीयेऽध्याये दोषनिरूपणानन्तरं तृतीयेऽध्याये लक्षणानि निरूपयन् तद्भेदेषु प्रथममक्षरसंहतिमाह—अल्पाक्षरेति । अल्पानि = स्तोकानि, सूत्रसदृशानि अक्षराणि = वर्णाः यस्यां सा अल्पाक्षरा = स्वल्पसंख्यकवर्णा, विचित्रः = चमत्कारपूर्णश्चासौ अर्थश्चेति विचित्रार्थः तस्य ख्यातिः = प्रकाशनं यस्यां सा विचित्रार्थख्यातिः = चेतश्चमत्कृतिमद्वाच्यार्थप्रकाशनम् । अक्षराणां संहतिः यस्यां सा अक्षरसंहतिः = वर्णसंघातः कथ्यते । एवञ्च यत्राल्पाक्षराणां बह्वर्थप्रत्ययाकता स्यात्तत्राक्षरसंहतिर्भवतीति भावः ।

उदाहरति—उषाकान्तेनेति । अयं पुनः = असौ तु उषायाः = बाणासुरकन्यायाः कान्तः = प्रियः तेन उषाकान्तेन = अनिरुद्धेन अनुगतः = अनुयातः शूरस्य = यादवविशेषोद्भवस्यापत्यं पुमान् शौरिः = वासुदेवः श्रीकृष्णः शूरः = वीरः । शूरपदं वीरयादवार्थकतया श्लेषः । उषापरिणयप्रसङ्गे बाणासुरविजेताऽयं श्रीकृष्णो, यादवविशेषो महान् वीरश्चेति भावः । अत्रोषाकान्तेनानुगत इति कथनेन उषापरिणयवृत्तं बाणासुरेति वृत्तम्, शूर इति कथनेन च भगवतः श्रीकृष्णस्य पौरुषम्, अनिरुद्धस्योषालाभश्चेति महती कथा स्वल्पैरेव बह्वर्थैरक्षरैश्चमत्कारजनकतया स्मारितेत्यक्षरसंहति नामेदं काव्यलक्षणम् । सूत्रलक्षणं च वैयाकरणैरिदमुक्तम्—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥'

जहां थोड़े अक्षरों में चमत्कारी अर्थ की प्रतीति हो वहां अक्षर संहति लक्षण होता है । 'उपाकान्तेनानुगतः०' यह श्लोकार्द्ध इसका उदाहरण है । यहां श्लेष से शूर पद का वीर और यादव दोनों अर्थ है । ये यादव वीर श्रीकृष्ण हैं, जिनके पीछे-पीछे उषाकान्त अनिरुद्ध चल रहे हैं । उषा-अनिरुद्ध के विवाह में बाणासुर को जीतने वाले भगवान् श्रीकृष्ण बड़े पराक्रमी हैं । उषाकान्त अनिरुद्ध से अनुगत इस विशेषण से भगवान् श्रीकृष्ण का वह बाणासुर दमन स्मृति पथ में आ जाता है । अतः यहां थोड़े अक्षरों में बहुत बड़ी चमत्कारिणी भगवान् श्रीकृष्ण की कथा का स्मरण हो जाने से अक्षर संहति लक्षण है ।

विशेष—यहां अक्षर संहति की परिभाषा पूर्वार्द्ध में दी गयी है और उत्तरार्द्ध में उदाहरण। उदाहरण में अनिरुद्ध की जगह उषाकान्त कह कर कवि ने एक ही पद से पाठकों और श्रोताओं को उषा और अनिरुद्ध की कथा को याद दिला दिया।

राजा बलि का पुत्र और शिव का परम भक्त बाणासुर शोणितपुर में राज्य करता था। उसकी कन्या उषा स्वप्न में अनिरुद्ध को देख विह्वल हो उठी। उसकी दयनीय दशा देखकर चित्रकला में परम प्रवीण बाण के मन्त्री की पुत्री तथा उषा की सखी चित्रलेखा ने देव, दानव, मानवों का चित्र उषा के सामने उपस्थित कर दिया। उसमें श्रीकृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को देख उषा प्रसन्न हो उठी। बाद चित्रलेखा ने द्वारिका से अनिरुद्ध का अपहरण कर उषा के पास महल में पहुँचा दिया। तब से वह उनके साथ विहार करने लगी। यह समाचार जानकर बाणासुर ने अनिरुद्ध को कैद कर लिया। देवर्षिनारद द्वारा यह समाचार जान कर श्रीकृष्ण ने यादवों की सेना के साथ बाणासुर पर आक्रमण कर दिया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने बाणासुर की ओर से आये हुए शिवजी पर विजय प्राप्त की और बाणासुर की सहस्र भुजायें उच्छिन्न कर दी। यह लम्बी कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ६२-६३ अध्यायों में वर्णित है॥ १॥

शोभा ख्यातोऽपि यद्दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते॥ २॥

अन्वयः—यत् ख्यातः अपि दोषः गुणकीर्त्या निषिध्यते (सा) शोभा (नाम लक्षणम्, उदाहरणं लोकाः) मुधा संसारं निन्दन्ति, यत्र कंसारिः पूज्यते।

व्याख्या—शोभालक्षणमाह--शोभेति। ख्यातोऽपि = विदितोऽपि, यद्दोषः = यस्य दोषः गुणकीर्त्या = गुणानां वर्णनेन निषिध्यते = प्रतिषिध्यते सा शोभा = शोभानामलक्षणम्। उदाहरति--मुधेति। यत्र = संसारे कंसारिः = भगवान् श्रीकृष्णः पूज्यते = अर्चितो भवति तं संसारं लोकाः मुधा = व्यर्थमेव निन्दन्ति = बन्धनकरादिभिः पदैः तिरस्कुर्वन्ति।

अत्रानेकदोषदुष्टस्यापि संसारस्य भगवत्पूजाश्रयत्वरूपगुणकीर्तनद्वारा तन्निन्दाया निर्मूलत्वकथनात् शोभानाम लक्षणम्।

जहाँ अत्यन्त प्रसिद्ध भी दोष गुण का वर्णन कर मिटा दिया जाय वहां शोभा नामक लक्षण समझना चाहिए। जैसे जहां कंसारि भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा होती है, लोग उस संसार की व्यर्थ निन्दा किया करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण को पूजा का स्थान संसार निन्दनीय नहीं हो सकता। यहां असारता आदि संसार के प्रसिद्ध दोष भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा से मिटा दिये जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण पूजा स्थान कथन से संसार निर्दोष है, निन्दनीय नहीं॥ २॥

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थनिषेधकृत् ।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ॥ ३ ॥

अन्वयः—चेत् ऊहितार्थनिषेधकृत् विचारः (भवेत्तदा) अभिमानः । (उदाहरणम्) यदि इन्दुः (तदा) कथं तीव्रः, यदि सूर्यः (तर्हि) कथं निशि (प्रकाशते) ।

व्याख्या—अभिमानमाह—चेत् = यदि ऊहितार्थनिषेधकृत्–ऊहितः = उत्प्रेक्षितश्चासौ अर्थश्चेति ऊहितार्थः तस्य निषेधं प्रतिषेधं करोतीति ऊहितार्थनिषेधकृत्= उत्प्रेक्षितार्थप्रतिषेधकर्ता विचारः = अभिप्रायः तदा अभिमानः = अभिमाननामकं लक्षणं भवति । उदाहरति—इन्दुरिति । काचिद् विरहिणी नायिका रात्रौ सन्तापजनकं चन्द्रमवलोक्य मनसि चिन्तयते, यदि=चेत् पुरोदृश्यमानोऽसौ इन्दुः=चन्द्रमाः, तदा कथं = कस्मात् कारणात् तीव्रः = तीक्ष्णः प्रतीयते तीर्णत्वान्नाऽयं चन्द्रः, इन्दोः शीतलधर्मत्वात् । यदि सूर्यः = रविः तदा कथं = केन प्रकारेण निशि = रात्रौ भासते इति शेषः ।

विचार में आई हुई कल्पना का युक्ति पूर्वक खण्डन करना अभिमान है । 'इन्दुर्यदि' इसका उदाहरण है । कोई विरहिणी नायिका सन्तापजनक चन्द्रमा को देखकर अत्यन्त सन्तप्त होकर कहती है कि यदि यह चन्द्रमा है तो इसमें इतना ताप कैसे ? क्योंकि चन्द्रमा शीतल होता है । यदि तापक होने के नाते इसे सूर्य कहें तो यह रात्रि में कैसे प्रकाशमान है । यहां नायिका ने ताप देने के कारण पहले चन्द्रमा में सूर्य की कल्पना की, पुनः रात में उसके प्रकाशित होने के कारण उसका युक्तिसंगत खण्डन किया । अतः इसे अभिमान समझना चाहिए ॥ ३ ॥

हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यैकस्यावधारणम् ।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ॥ ४ ॥

अन्वयः—युक्त्या बहून् पक्षान् त्यक्त्वा एकस्य अवधारणं (यत् क्रियते तत्) हेतुः (लक्षणमुदाहरणं च) अयम् इन्दुः न, दहन् अर्को न (अपितु) सागरात् उत्थितः और्वाग्निः (अस्ति) ।

व्याख्या—हेतुमाह—हेतुरिति । युक्त्या = उपपत्त्या, बहून्=अनेकान्, पक्षान्= सिद्धान्तान् त्यक्त्वा = विहाय युक्त्या एकस्य अवधारणं = निश्चयः हेतुः = हेतुर्नाम लक्षणम् । अत्र युक्त्येति पदं मणिमध्यन्यायेन परित्यागेऽवधारणे च अन्वेति । अनेकपक्षनिरासपूर्वकमेकपक्षावधारणत्वं हेतुत्वम् । उदाहरति—नेन्दुरिति । काचन विरहिणी कामिनी कामोद्दीपकतया सन्तापजकं चन्द्रमसमवलोक्य चिन्तयति । अयं इन्दुः=

चन्द्रः, न=नास्ति, न चाऽयं दहन् = ज्वलन्, अर्कः=सूर्योऽपि अस्ति, अपितु सागरात्= समुद्रात् उत्थितः = उत्पन्नः और्वाग्निः = वडवानलः अस्ति ।

युक्ति से अनेक पक्षों की कल्पना करके पुनः युक्ति से एक ही सिद्धान्त के निश्चय करने को हेतु कहते हैं। 'नेन्दुनार्कः' इसका उदाहरण है। कोई वियोगी की नायिका सन्ताप जनक चन्द्रमा को देखकर विचार् करती है। यह न तो चन्द्रमा है, न ताप कारक सूर्य ही है किन्तु यह समुद्र से उत्पन्न वडवानल है जो मुझे जला रहा है। यहाँ चन्द्रमा और सूर्य रूपी दोनों पक्षों को त्याग कर युक्ति द्वारा एक तीसरे ही सिद्धान्त=वडवानल का निश्चय करने से हेतुलक्षण माना गया है।

विशेष—कई पक्षों का खण्डन कर एक पक्ष का समर्थन करने से चमत्कार पूर्ण अर्थ निकलता है। समुद्र से निकली हुई सभी वस्तुएँ शीतल होनी चाहिए, क्योंकि समुद्र स्वयं शीतल है। केवल वडवानल ही एक ऐसा है जो समुद्र से निकल कर भी पानी तक को जला देता है। चन्द्रमा तथा सूर्य का ताप उतना असह्य नहीं होता, जितना वडवानल का। इसी लोकानुभव के आधार पर विरहिणी नायिका चन्द्रमा को देखकर उसके उद्दीपक होने के कारण ताप का अनुभव कर उस ताप की भयङ्करता अनुभव करती है ॥ ४ ॥

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः ।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरा निपातिताः ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रसिद्धानां कारणानां अनादरः प्रतिषेधः (लक्षणमुदाहरणं च) वीराः युद्धेन न (अपितु) स्पन्देनैव निपातिताः ।

व्याख्या—प्रतिषेधमाह—प्रतिषेध इति। प्रसिद्धानाम् = आपारविदितानाम् कारणानां = हेतूनाम्, अनादरः = अस्वीकारः प्रतिषेधः = प्रतिषेधलक्षणम् । उदाहरति—न युद्धेनेति । वीराः = शूराः, युद्धेन = सङ्ग्रामेण न निपातिताः = न पराजिताः अपितु स्पन्दनेन कामिन्या भ्रुवोः संचालनेनैव ते पातिताः । यद्वा कोऽपि वीरः युद्धेन न, किन्तु भ्रुकुटीचालनमात्रेणैव भटान् निपातितवान् । शत्रु-विजये सर्वलोकप्रसिद्धं युद्धमेव निमित्तमनादृत्य कामिनीभ्रूस्पन्दनरूपमप्रसिद्धं कारणं समादृतमिति प्रतिषेधो नाम लक्षणम् ।

यहां किसी कार्य की सिद्धि में प्रसिद्ध कारणों का अनादर करके अप्रसिद्ध कारण से कार्य सिद्धि का वर्णन किया जाय वहां प्रतिषेध लक्षण माना जाता है, 'न युद्धेन' इसका उदाहरण है। सुन्दरी युवती ने युद्ध से नहीं, अपितु अपने कटाक्षविक्षेप से बड़े-बड़े वीरों को मार गिराया। यहां विजय रूप कार्य सिद्धि में प्रसिद्ध युद्ध रूप कारण का अनादर कर अप्रसिद्ध कामिनी कटाक्षविक्षेप रूप कारण द्वारा वीर निपातन रूप सिद्धि बतलायी गयी है। अतः यहां प्रतिषेध लक्षण है ॥ ५ ॥

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम् ।
ईदृशैश्चरितै राजन् ! सत्यं दोषाकरो भवान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—सत्यं तथा अनृतं नाम्नः निर्वचनं स्यात् (तदा) निरुक्तं (लक्ष-णम् उदाहरणं च) राजन् ! ईदृशैः चरितैः भवान् सत्यं दोषाकरः।

व्याख्या—निरुक्तमाह–निरुक्तमिति। यत्र सत्यं = अवितथम्, वास्तविकं तथा अनृतं = मिथ्या, नाम्नः = संज्ञाशब्दस्य, निर्वचनं = व्युत्पत्त्यर्थं कथनं स्यात्तदा निरुक्तं = निरुक्तं नामलक्षणं भवति। सत्यासत्यतया नाम्नो निर्वचनं निरुक्तत्वम्, तत्र नाम्नो यत् निर्वचनं व्याकरणसाध्यं तत् सत्यम्, यच्च तदसाध्यं व्याकरणविरुद्धं तन्मिथ्या। उदाहरति—ईदृशैरिति। राजन् !=हे नृप ! ईदृशैः एवंविधैः उचितैरनुचितैर्वा चरितैः=आचरणैः, भवान् = त्वम्, सत्यं = यथार्थं दोषाकरः = दोषां = रात्रिं करोति = विदधातीति दोषाकरः = चन्द्रः, दोषाणामाकरः = खनिः दोषाकरः, दोषखनिः, दोषास्पदं वा। अत्र चन्द्रपक्षे दोषा-करः, रात्रिकरः, राजपक्षे दोषाणामाकरः=दोषखनिः इति च सत्यं नामनिर्वचनम् अतोऽत्र निरुक्तम् एवं च पाणिनिव्याकरणसाध्यं सुकरं निर्वचनं सत्यम् अन्यत् णादिप्रभृति व्याकरणान्तरसाध्यं दुष्करं निर्वचनं मिथ्येति भावः।

जहां सत्य तथा असत्य रूप से पदों का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ बतलाया जाय वहां निरुक्त होता है। व्याकरण से निष्पन्न शब्द द्वारा जो अर्थ होता है वह सत्य निरुक्त कहा जाता और जो व्याकरणेतर किसी अन्य प्रकार से अर्थ बताया जाय तो उसे मिथ्या निरुक्त कहते हैं। जैसे—हे राजन् ! चरित से आप दोषाकर=चन्द्रमा तथा दोषों का खजाना हैं। 'दोषां=रात्रिं करोतीति दोषाकरः' इस व्युत्पत्ति से चन्द्रमा अर्थ निकलता है और राज पक्ष में 'दोषाणामाकरः' इस तत्पुरुष से दोषों का खजाना यह भी अर्थ निकलता है। ये दोनों ही अर्थ व्याकरण से सिद्ध हैं। अतः सत्य निरुक्त है।

विशेष—निर्वचन व्युत्पत्ति से निकलने वाला अर्थ है। यह व्युत्पत्ति न लगने पर यदि अर्थ लगाया जाय तो भी शोभा होने से लक्षण है। कविवर कालिदास ने रघुवंश 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' लिखकर राजा का निर्वचन किया है। यह निर्वचन व्याकरण सम्मत न होने से असत्य है, फिर भी चमत्कार पूर्ण अर्थ देता ही है। अतः यहां लक्षण है। इस के उत्तरार्द्ध में दिये गये उदाहरण में सत्य निर्वचन है। दोषाकर के दोनों अर्थ निकलते तथा अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के कार्य करने वाले किसी राजा की साफ–साफ आलोचना मुँह पर करने के लिए दोषाकर शब्द बहुत अच्छा है ॥ ६ ॥

स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने।
चन्द्रांशुसूत्रग्रथितां नभःपुष्पस्रजं वह ॥ ७ ॥

अन्वयः—साध्यसाधने असती चेत् (भवेतां तदा) मिथ्याध्यवसायः (अलं-लक्षणं) स्यात् (उदाहरणम्) चन्द्रांशुसूत्रग्रथितां नभःपुष्पस्रजं वह।

व्याख्या—मिथ्याध्यवसायत्वमाह—स्यादिति—साध्यं च साधनं चेति साध्यासाधने=कार्यकारणे। असती = मिथ्याभूते। साध्य-साधनमिथ्यात्वं मिथ्याध्यवसायत्वमिति भावः। चेत्=यदि भवेतां तदा मिथ्याध्यवसायः नाम लक्षणं स्यात्=भवेत्। उदाहरति—चन्द्रांशुसूत्रेति। चन्द्रस्य=चन्द्रमसः, अंशवः = किरणा एव सूत्राणि=तन्तवः तैः ग्रथितां निर्मितामिति चन्द्रांशुसूत्रग्रथिताम्, नभःपुष्पस्रजं=आकाशकुसुममालां, वह=धारय। अत्र चन्द्रकिरणसूत्रग्रथनं साधनम्, आकाशपुष्पमालासाध्यं कार्यम्। एते द्वे अपि मिथ्याभूते। अतोऽत्र मिथ्याध्यवसायो लक्षणम्।

जहां मिथ्याकल्पित कार्य और कारण द्वारा किसी की सिद्धि का वर्णन किया जाय वहां मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण होता है। जैसे, चन्द्रमा के किरण रूपी सूत्र से गूँथी गई आकाश-पुष्प को धारण करो। यहां चन्द्रमा के किरण रूपी सूत्र कारण हैं और आकाश-पुष्प रूपी माला कार्य है। ये दोनों ही मिथ्या कल्पित हैं। इसलिए यहां मिथ्याध्यवसाय है।

विशेष—किसी कारण का होना अनिवार्य है, पर काव्य में असंभव घटना बताने के लिए कार्य-कारण दोनों कल्पित रखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में चमत्कार आ जाता है, जो लक्षण है। उदाहरण में चन्द्र किरणों को सूत्र कहा गया है, जो असंभव है, पुनः आकाश के पुष्पों को माला कहा गया है, वह भी असंभव है। इस प्रकार कारण-कार्य सूत्र और माला दोनों अस्तित्व विहीन हैं॥ ७॥

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः॥ ८॥

अन्वयः—चेत् ख्यातेषु तुल्यतोक्तये नाम कीर्त्यते (तदा) सिद्धिः (लक्षणम्, उदाहरणं च) इह त्वं बलैः जलधिः, जलैः युवाम् एव ख्यातौ।

व्याख्या—सिद्धिमाह-सिद्धिरिति। चेत् = यदि, ख्यातेषु = प्रसिद्धेषु, तुल्यतोक्तये = समानत्वप्रतिपादनाय, नाम = संज्ञा कीर्त्यते तदा सिद्धिः = सिद्धिनामलक्षणं भवति। उदाहरति—युवामिति। कञ्चित् राजानं प्रति कवेरुक्तिः। हे राजन्! इह = अस्मिन् संसारे, त्वं = भवान् बलैः = सैन्यैः विख्यातः जलधिः = समुद्रश्च जलैः = वारिभिः विख्यातः। एवं युवाम् = भवन्तावुभौ एव ख्यातौ = प्रसिद्धौ। अत्रागाधनीरपूरपूरिततया प्रसिद्धेन जलधिना सह साम्यप्रतिपादनाय तेन सहैव राज्ञः कीर्तनमिति सिद्धिनामलक्षणम्।

बराबरी दिखाने के लिए गुणों से प्रसिद्ध पदार्थ के साथ जहां किसी का वर्णन किया जाय वह सिद्धि नामक लक्षण होता है। जैसे, हे राजन्! इस संसार में जिस तरह जल से जलधि

प्रसिद्ध है उसी तरह आप भी बल से प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि हे राजन् ! आप में और समुद्र में कोई अन्तर नहीं, जैसे समुद्र जल से गम्भीर एवं अथाह है वैसे ही आप भी बल से गम्भीर एवं अथाह हैं।

विशेष—उदाहरण में विख्यात राजा का वर्णन करने के लिए विख्यात समुद्र का नाम लिया गया है। जिस प्रकार जल से जलधि प्रसिद्ध है, उसी प्रकार सेनाओं से राजा प्रसिद्ध है। अतः दोनों तुल्य हैं। दोनों की समृद्धि की तुलना दिखाने के लिए दोनों का नाम लिया गया है॥ ८॥

युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद् विचित्रार्थान्तरान्वयात्।
नवस्त्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षसि यन्मुहुः॥ ९॥

अन्वयः—विचित्रार्थान्तरान्वयात्, विशेषसिद्धिः चेत् युक्तिः (लक्षणमुदाहरणं च) त्वं कोऽपि नवः नीरदः यत् स्वर्णैः मुहुः वर्षसि।

व्याख्या—युक्तिमाह–युक्तिरिति। अन्योऽर्थः अर्थान्तरं विचित्रं च तदर्थान्तरं विचित्रार्थान्तरं तस्य अन्वयः विचित्रार्थान्तरान्वयः तस्मात् विचित्रार्थान्तरान्वयात् = चमत्कृतार्थसम्बन्धात्, विशेषसिद्धिः = विशेषताप्रतिपादनं स्यात्तदा युक्तिर्भवति। चमत्काराधायकविचित्रार्थसम्बन्धेन विशेषार्थसाधनं युक्तित्वम्। उदाहरति–नव इति। हे राजन् ! त्वं कोऽपि नवः = नूतनः, नीरदः = जलदः, मेघोऽसि, यत्त्वं स्वर्णैः = सुवर्णैः सुजलैः सह जलं = सुवर्णदाने सङ्कल्पजलमपि वर्षसि = वितरसि।

अत्रोपमेये वर्णनीये नृपे सुवर्णवृष्टिप्रतिपादनेन प्रसिद्धनीरदापेक्षया नव नीरदरूपविशेषधर्मसिद्धिरित्यत्र युक्तिः।

हे राजन् ! आप लोक-विलक्षण एक नये ही ढंग के मेघ हो, जो बार-बार स्वर्ण की वृष्टि किया करते हो। यहां उपमेय राजा में उपमानभूत मेघ की अपेक्षा चमत्कारी सुवर्ण वृष्टि रूप अर्थान्तर का वर्णन किया है। इसलिए यह युक्ति है।

विशेष—राजन् ! साधारण बादल केवल पानी ही बरसाता है, किन्तु आप केवल पानी ही नहीं उसके साथ-साथ सोना भी बरसाते हैं। जल तो सङ्कल्प के साथ रहता ही है। इस प्रकार विलक्षण अर्थ का सम्बन्ध राजा से करके यह विशेष अर्थ की सिद्धि की गई है। जिस प्रकार बादल बार-बार मूसलाधार पानी बरसाते हैं उसी प्रकार राजा प्रचुर सुवर्ण याचकों को बार-बार देते हैं॥ ९॥

कार्यं फलोपलम्भश्चेद् व्यापाराद् वस्तुतोऽथ वा।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रु वाम्॥ १०॥

अन्वयः—चेत् व्यापारात् अथवा वस्तुतः फलोपलम्भः तदा कार्यम् (लक्षणमुदाहरणं च) असौ शीतांशुः सुभ्रूवां मानच्छेदाय उदेति।

व्याख्या—चेत् = यदि व्यापारात् = कार्यात् अथवा = यद्वा वस्तुतः = स्वत एव फलोपलम्भः = फललाभः, फलप्राप्तिर्भवेत् तदा कार्यं = कार्यं नामलक्षणं भवति। असौ = पुरोदृश्यमानः शीतांशुः = शीतरश्मिः, चन्द्रः सुभ्रुवां = सुन्दरीणां मानच्छेदाय = मानभङ्गाय उदेति = उदयति। अत्र चन्द्रस्य उदयरूपव्यापारवर्णनेन मानवत्यां कामिन्यां मानच्छेदाख्यं फलमुदेति, तस्य कामोद्दीपकत्वादुद्दयिते च, कामे कामिन्यां कामुकेन विना क्षणमपि समयमतिवाहयितुमशक्यत्वात् इति प्रथमो भेदः। मानच्छेदेन च कामुकस्य समीहितफललाभः स्वत एव जायते इति द्वितीयो भेदः।

जहां किसी एक पदार्थ में व्यापार का उसकी चेष्टा का फल अन्यत्र प्रतीत हो उसको कार्य कहते हैं। 'असावुदेति०' इसका उदाहरण है। यह चन्द्रमा कामिनियों के मान का भंग करने के लिये उदित होता है। यहां चन्द्रोदय व्यापार का मानभंग रूप फल कामिनियों में प्रतीत हो रहा है। यह प्रथम भेद का उदाहरण है और चन्द्रमा की मान भंग रूप स्वाभाविक चेष्टा से नायक के कार्य का अपने आप बन जाना द्वितीय भेद का उदाहरण है॥ १०॥

इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः।
स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्व-प्रभृतीव महीभुजः॥ ११॥

अन्वयः—महीभुजः स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृति इव इत्यादिलक्षणं महर्षयः काव्यस्य भूरि (लक्षणम्) आहुः।

व्याख्या—महीभुजः = राज्ञः, स्वर्णवद् भ्राजिष्णुः = देदीप्यमानः भालः = ललाटं यस्य स स्वर्णभ्राजिष्णुभालः तस्य भावः स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वं तत्प्रभृतीव सुवर्णवद्देदीप्यमानं ललाटत्वादि इत्यादिलक्षणं = चिह्नम्, इव = यथा महर्षयः = भरतप्रभृतयो महामुनयः काव्यस्य भूरि = बहु, लक्षणमाहुः = कथयन्ति।

यथा सामुद्रिकशास्त्रे बहूनि राज्यचिह्नानि वर्तन्ते तथैव भरतप्रभृतिभिरलङ्कारिकैरनेकैर्महर्षिभिरपि काव्यस्य बहुविधानि लक्षणानि यत्र तत्र प्रतिपादितानि सन्ति। अत्र तु तानि दिङ्मात्रदर्शितानि।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य लक्षणनिरूपणनामके
द्वितीये मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता।

सुवर्ण के समान देदीप्यमान ललाट का होना आदि जिस प्रकार चक्रवर्ती राजाओं के अनेक चिन्ह सामुद्रिक शास्त्र में कहे गये हैं, उसी तरह काव्य के मर्मज्ञ महर्षियों ने यत्र-तत्र काव्य के अनेक लक्षण कहे हैं, किन्तु यहां उनका दिङ्मात्र प्रदर्शन कर दिया गया है। विस्तार के लिए उनके ग्रन्थ देखने चाहिए ॥ ११ ॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
तृतीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १२ ॥

नोट—इस पद्य की संस्कृत व्याख्या और हिन्दी अनुवाद प्रथम अध्याय के अन्त में अङ्कित है। यहां केवल तृतीय (अध्याय) मात्र परिवर्तित है।

इस प्रकार चन्द्रालोक के तृतीय मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधा नामक व्याख्या समाप्त।

चतुर्थो मयूखः

श्लेषो विघटमानार्थ-घटमानत्ववर्णनम्।
स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः॥ १॥

अन्वयः—विघटमानार्थ-घटमानत्ववर्णनं श्लेषः। स तु सजातीयैः शब्दैः सुखावहः बन्धः (सन्) शाब्दः।

व्याख्या—तृतीये मयूखे लक्षणनिरूपणानन्तरं चतुर्थे मयूखे काव्यलक्षणघटकीभूतानां गुणानां स्वरूपं वक्तुमुपक्रमते—अथ गुणा इति। यथा शरीरे शौर्यादयो गुणा आत्मधर्मत्वेनाभिमताः तथैव काव्ये प्रसादादयोऽपि गुणा अङ्गित्वमाप्तस्य काव्यात्मभूतस्य रसस्य धर्मत्वेनाभिमताः। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे मम्मटाचार्येण—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचला स्थितयो गुणाः॥'

तथात्र रसवृत्तित्वे सति उत्कर्षहेतुत्वं गुणत्वमिति गुणसामान्यलक्षणम्। प्रथमं भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे श्लेषादयो दशगुणाः प्रतिपादिताः। भामह—दण्डि—वामन-रुद्रटादिभिरपि तथैवानुमताः। भोजराजेन सरस्वतीकण्ठाभरणे चतुर्विंशतिगुणा उक्ताः। तेषु नाट्यशास्त्रोक्ता एव दश, इतरे तूदात्तादयः। एते गुणाः शब्दार्थयोरेव धर्माः, किन्तु ममम्मटेन रसस्यैव धर्मा एते त्रय एव प्रोक्ताः। रसगङ्गाधरे पण्डितराजेन आत्मनो निर्गुणत्वात्तत्र गुणानां स्थितिरनुचितेति प्रतिपादितमतः शौर्यादयो गुणा शरीरस्यैव सन्ति नात्मनः। अतो गुणा न रसधर्मा अपितु-शब्दार्थयोरेव धर्माः। तत्र वेदान्तिनैः आत्मानं निर्गुणं मन्यमाना अपि व्यावहारिकमात्मानं सगुणं मत्वा गुणानां रसधर्मत्वमङ्गीकुर्वन्त्येव। अत एव न्याय-वैशेषिकयोः इच्छाद्वेषादय आत्मगुणाः स्वीक्रियन्ते। अपि च गुणानां रसधर्मत्वाभावस्वीकारे गुणालङ्कारयो भेदको हेतुरपि नावशिष्यते, द्वयोरेव काव्योत्कर्षाधायकत्वात्। तेन गुणा रसधर्मा एव। चन्द्रालोकस्य चतुर्थमयूखेऽपि 'अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा' इत्यनेन शौर्यादीनामात्मधर्मत्वमिव गुणानां रसधर्मत्वमपि सूचितम्।

अस्मिन् ग्रन्थे तु अष्टौ प्रतिपादिताः, तेषु प्रथमं श्लेषमाह—श्लेष इति। विघटमानस्य = असंभविनः अर्थस्य = अभिधेयस्य घटमानत्ववर्णनं = संभावित्वप्रतिपादनं श्लेषः = अर्थश्लेषः। अर्थात् यत्र योऽर्थो न घटते तत्र तस्य केन च निमित्तेन यत् घटमानत्ववर्णनं सोऽर्थश्लेष इत्यर्थः। शब्दश्लेषमाह—स तु इति। सः = श्लेषस्तु।

पुनः सजातीयैः = समानाकारैः शब्दैः = वाचकैः, सुखावहः = श्रोतुः आनन्दप्रदः, बन्धः = पदरचना तु शाब्दः = शब्दसम्बन्धीश्लेषः। एवञ्च श्लेषो द्विविधः—शब्दश्लेषः अर्थश्लेषश्च। तथाऽत्र असम्भावितार्थस्य तथाविधयुक्त्युपन्यासद्वारा संभावितत्वेन कथनमर्थश्लेषः बहूनां पदानामेकपदवद्भासमानात्माशब्दश्लेषः।

श्लेष दो प्रकार का होता है—एक शब्द श्लेष और दूसरा अर्थश्लेष। जहां असंभव अर्थ को युक्तिद्वारा संभव करके दिखाया जाय वह अर्थ श्लेष और जहां समानाकार शब्दों द्वारा चमत्कार जनक रमणीय रचना की जाय वहां शब्द श्लेष होता है ॥ १ ॥

उल्लसत्तनुतां नीतेऽनन्ते पुलककण्टकैः।
भीतया मानवत्यैव श्रियाश्लिष्टं हरिं स्तुमः ॥ २ ॥

अन्वयः—अनन्ते पुलककण्टकैः उल्लसत्तनुतां नीते भीतया श्रिया मानवत्या एव आश्लिष्टं हरिम्, स्तुमः।

व्याख्या—श्लेषस्य भेदद्वयमुदाहरति—उल्लसत्तनुतामिति। अनन्ते = शेषाख्ये सर्पराजे पुलकाः = लक्ष्म्या रोमाञ्चा एव कण्टकाः पुलककण्टकाः तैः पुलककण्टकैः उल्लसन्ती = उल्लासशीला चासौ तनुता = कृशता चेति उलसत्तनुता तां उल्लसत्तनुतां = प्रकटीभवत्कृशताम्, नीते = प्रापिते भीतया = स्वरोमाञ्चरूपकण्टकविद्धसर्पात् प्राप्तभयया मानवत्यैव मानिन्यैव श्रिया = लक्ष्म्या आश्लिष्टम् = आलिङ्गितम्, हरिं = भगवन्तं विष्णुं = स्तुमः = प्रणमामः।

एकदा शेषशय्यायामुपविष्टेन भगवता विष्णुना मानाभिमानिन्या लक्ष्म्या मानमपनेतुं बहु प्रायत्यतः परं सा स्वल्पमपि नानुकूल्यं भेजे। किन्तु हरिसान्निध्यादुद्भूतरोमाञ्चरूपकण्टकविद्धशेषसर्पाद् भीता सा मानवत्यपि मानं विहाय स्वयमेव नारायणमालिलिङ्ग।

अत्र मानवत्या लक्ष्म्या आलिङ्गनरूपोऽर्थः सर्वथाऽसम्भवः, पुलकसम्बद्धशेषसर्पवपुः कम्पजन्यभयवर्णनात्मकभीत्युत्पादनद्वारा संभवपदवीमारोपित इत्यर्थश्लेषस्योदाहरणम्।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का उदाहरण यह है—काम क्रीडा की अभिलाषा से गात्र पुलकित हो जाने पर तद्रूप कण्टकों से विद्ध शेषनाग के भय से मानवती लक्ष्मी द्वारा आलिङ्गित भगवान् विष्णु की हम स्तुति करते हैं।

अर्थात् रोमाञ्चरूपी कण्टकों से विद्ध शेषनाग के भय से डरकर मानवती लक्ष्मी ने नारायण का आलिङ्गन किया। मानवती नायिका का स्वयं आलिङ्गन असम्भव है, किन्तु उसे शेषनाग के भय से संभव बतलाया गया है। अतः यहां अर्थश्लेष है। 'तनुतां नीतेऽनन्ते' 'श्रियाश्लिष्टम्' 'पुलककण्टकैः' इत्यादि चमत्कारजनक पद समानता से या सन्धि के कारण एक पद सदृश प्रतीत होते हैं। अतः यह शब्दश्लेष का उदाहरण है ॥ २ ॥

यस्मादन्तः स्थितः सर्वं स्वयमर्थोऽवभासते ।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥ ३ ॥

अन्वयः—सलिलस्य इव सूक्तस्य अन्तः स्थितः सर्वः अर्थः यस्मात् अवभासते स प्रसादः स्मृतः (प्राचीनैराचार्यैः) ।

व्याख्या—सलिलस्य = जलस्य इव=यथा सूक्तस्य=सुभाषितकाव्यस्य अन्तः= अभ्यन्तरे स्थितः – विद्यमानोऽपि सर्वः = सकलः अर्थः – पदार्थः यस्मात् = यतः अवभासते = प्रकाशते स्फुरति सः = प्रसादः स्मृतः – कथितः । तथा च निर्मलस्य सलिलस्य अन्तं स्थितं सकलं वस्तुजातं स्वयं स्पष्टतयाऽवभासते तथैव सूक्तस्य = काव्यस्य अन्तःस्थितः = सर्वोऽपि अर्थः यस्य गुणस्य सद्भावेन झटिति चमत्कार-जनकतया प्रतिभासते स प्रासादाभिधो गुणः । उदाहरणन्तु इदमेव पद्यं पद्यप्रति-पाद्यस्यार्थस्य स्फुटतया स्वयं प्रकाशमानत्वात् ।

जिस प्रकार जल के अन्दर वर्तमान वस्तु बाहर से ही स्पष्टतया प्रतिभासित होती है उसी प्रकार जहाँ काव्यान्तर्गत गूढ अर्थ कठिनता के बिना सरलता से जानी जाय वहाँ प्रसाद गुण होता है । इस श्लोक की भाषा और भाव इतने साफ हैं कि पढ़ते-पढ़ते अर्थ स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकार इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल होने से यही श्लोक उदाहरण भी है ॥ ३ ॥

समताल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथ वा ।
श्यामला कोमला बाला रमणं शरणं गता ॥ ४ ॥

अन्वयः—अल्पसमासत्वं वर्णाद्यैः तुल्यता समता (इति गुणः कथ्यते, उदा-हरति यथा) श्यामला कोमला बाला शरणं रमणं गता ।

व्याख्या—समतामाह—समतेति । अल्पश्चासौ समासश्चेत्यल्पसमासः तस्य भावः अल्पसमासत्वं = दीर्घसमासाभावः, अथवा = यद्वा वर्णाद्यैस्तुल्यता = वर्णादि-संख्या साम्येन पदादितुल्यता वा समता (इति गुणः कथ्यते) ।

भेदद्वयस्योदाहरणमाह—श्यामलेति । श्यामला = यौवनमध्यस्था, कोमला = सुकुमाराङ्गी, बाला = नवोढा, शरणं = रक्षकं रमणं = पतिं, गता = प्राप्ता, कामपीडिता सती मानं परित्यज्य तं स्वयमेव पतिसकाशं गतेति भावः ।

अत्रोदाहरणे सर्वथासमासाभावेन अल्पसमासस्य कथैव का ? यद्युक्तलक्षणानु-सारेण समासाल्पत्वमावश्यकमेव तदा; नेदमुदाहरणं संभवति, अपितु 'क्व सूर्य-

प्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः' इति रघुवंशीयं कालिदासस्य पद्यमुदाहरणत्वेन ज्ञेयम्। यद्वा दीर्घसमासाभावात् प्रथमलक्षणसमन्वयः। श्यामला, कोमला, रमणं, शरणमिति पदचतुष्टये त्र्यक्षरत्वेन बाला गतेति पदद्वये द्व्यक्षरत्वेन पदतुल्यता, 'श्यामला कोमला बाला' इत्यत्र तृतीययोः आकारवर्णसाम्येन, 'रमणं शरणं गतम्' इति चतुर्थपादे च अकारवर्णसाम्येन च तुल्यता ज्ञेया।

समासों का सीमित (कम) प्रयोग अथवा वर्ण आदि की समानता 'समता' नामक गुण कहलाता है। (उदाहरण) श्यामल एवं कोमल तरुणी मार रहित हो शरणस्वरूप अपने पति के पास गई।

प्रकृत उदाहरण में समस्त शब्दों का प्रयोग न होने के कारण समास की अल्पता का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः यह वर्णों की समानता का उदाहरण समझा जाय। 'श्यामला', 'कोमला' 'रमणं' 'शरणं'—इन चारों पदों में तीन अक्षरों की तुल्यता, 'बाला' 'गता'—इन दो पदों में दो अक्षरों की तुल्यता है। तृतीय चरण के श्यामला, कोमला, बाला—इन पदों में आकार की समानता तथा चतुर्थ चरण के 'रमणं' 'शरणं' 'गतं' में अकार का साम्य होने से 'तुल्यता' समझी जाय ॥ ४ ॥

समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना।
स्यादन्तर्विशता येन गात्रमङ्कुरितं सताम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—लसद्घनरसात्मना अन्तर्विशता येन सतां गात्रम् अङ्कुरितं स्यात् (सः) अर्थमहिमा समाधिः (नाम गुणः कथितः)।

व्याख्या—समाधिमाह—समाधिरिति। लसन् = प्रकाशमानः घनः = सान्द्रश्चासौ रसश्चेति लसद्घनरसः स एव आत्मा = स्वरूपं यस्य स तेन लसद्घनरसात्मना प्रकाशमानविपुलरसस्वरूपेण, अन्तर्विशता = बुद्ध्यारूढेन येन = अर्थमहिम्ना. सतां = अलङ्कारमर्मविदां सहृदयानां गात्रं = शरीरं, अङ्कुरितं = रोमाञ्चितं स्यात् = भवेत् स अर्थमहिमा = अर्थचमत्कारः समाधिः = समाधिलक्षणम्। उदाहरणं तु इदमेव पद्यम्। चेतःप्रवेशनरोमाञ्चितगात्रादीनां चमत्कृतार्थव्यञ्जकत्वात्।

जिस चमत्कारी अर्थ के श्रवण से सहृदयों का हृदय गद्गद होकर उनमें आनन्दाङ्कुर का उद्गम होने लगता है, उस अर्थ के चमत्कार को समाधि कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ चमत्कृत सा होने के कारण इसी श्लोक का उदाहरण भी समझना चाहिए ॥ ५ ॥

माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्।
वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्चलं लोचनाञ्चलम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—पुनरुक्तस्य (पदस्य) चारुतावहं वैचित्र्यं माधुर्यं (नाम गुणो भवति उदाहरणम्) वयस्य ! अस्याः चञ्चलं लोचनाञ्चलम् पश्य ।

व्याख्या—माधुर्यमाह—माधुर्यमिति । पुनरुक्तस्य-पुनरुक्तपदस्य चारुतावहं = रमणीयताजनकं यद्वा उक्तस्य = काव्यस्य चारुतावह=द्युतिजनकं वैचित्र्यं=चमकारः माधुर्यं = माधुर्यनाम गुणो भवति । उदाहरणं यथा—वयस्य इति । वयस्य = हे सखे ! अस्याः = एतस्या नायिकायाः, चञ्चलं = चपलं लोचनस्य = नयनस्य अञ्चलं = प्रान्तम्, लोचनाञ्चलं = नेत्रप्रान्तं पश्य, पश्य = अवलोकय, अवलोकय । अत्र पश्य पश्येति पुनरुक्तपदस्य चारुता प्रतीतिर्भवति, वैचित्र्यजनितचमत्कार-प्रदर्शने एव पुनरुक्तपदप्रयोगात् । चञ्चलमित्यंशे वर्गान्त्यवर्णप्रयोगे माधुर्य-रचनानुकूल एव ।

जहाँ शब्दों की पुनरुक्ति होने पर भी रमणीयतापूर्ण वैचित्र्य प्रतीति होती हो वहाँ माधुर्य होता है । इसका उदाहरण यह है कि हे सखे ! इस तरुणी के चञ्चल कटाक्षों को देखो, देखो । यहाँ पश्य और चल की पुनरुक्ति होने पर भी अर्थ में एक प्रकार की विचित्रता तथा सुन्दरता प्रतीत होती है । प्रायः ऐसा देखा गया है कि जहाँ कोई अलौकिकता मालूम पड़ती है वहाँ वाक्य के प्रयोग में शब्द आवृत्त हो जाते हैं, फिर भी चमत्कार तदवस्थ ही रहता है । जैसा कि उक्त उदाहरण में है ॥ ६ ॥

ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य सङ्क्षेपो वाऽतिभूयसः ।
रिपुं हत्वा यशः कृत्वा त्वदसिः कोशमाविशत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अर्थस्य प्रौढिः अभिभूयसः वा अर्थस्य संक्षेपः ओजः (ओजो नाम गुणः, उदाहरणम्) त्वदसिः रिपुं हत्वा यशः (च) कृत्वा कोशम् आविशत् ।

व्याख्या—ओजोगुणमाह—ओज इति । अर्थस्य=वाच्यस्य या प्रौढिः=प्रौढता अतिभूयसः = अतिमहतः वा अर्थस्य संक्षेपः=संकोचः ओजः, ओजो नाम गुणः स्यात् । उदाहरति—रिपुमिति । हे राजन् ! त्वदसिः=तव खड्गः, रिपुं = शत्रुम्, हत्वा = मारयित्वा, यशः = कीर्तिं च कृत्वा = विधाय, कोशं=खड्गपिधानम्, आवि-शत्=प्रविवेश । अत्र रिपुहनने खड्गस्य करणत्वमेव, न कर्तृत्वं तद् द्वारा वर्णनोयेन राज्ञा कर्त्रा रिपूणां हननात् । इत्थं च हननकर्तृकत्वानाश्रयस्य खड्गस्य राजाश्रितत्व-रूपकर्तृत्वेन वर्णनादाद्यमर्थनिष्ठमोजः । अर्थसंक्षेपस्तु अत्रैव स्फुट एव दरीदृश्यते इति शब्दनिष्ठमपि ।

हे राजन्! आपकी तलवार शत्रु को मारकर और यश को फैलाकर म्यान में घुस गयी। यहाँ शत्रु को मारने में राजा कर्ता है और तलवार करण, फिर भी उसको शत्रु के मारने में कर्ता कहा गया है। अतः कर्ता के अनाश्रय खड्ग को उसका आश्रय बताने के कारण अर्थगत ओज हुआ। और शत्रु का मारना, यश का फैलाना आदि विस्तृत कथा भाग को थोड़े में कहने के कारण शब्दगत ओज हुआ ॥ ७ ॥

सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात्।
स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सखम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—पर्यायपरिवर्तनात् अपारुष्यं सौकुमार्यं (लक्षणम्, उदाहरणं च) स मरुत्सखं समालिङ्ग्य कथाशेषतां यातः।

व्याख्या—सौकुमार्यगुणमाह—सौकुमार्यमिति। पर्यायपरिवर्तनात्—पर्यायस्य= पर्यायरूपस्य शब्दान्तरस्य परिवर्तनात् = विनिमयात् अपारुष्यं=परुषवर्णाभावः सौकुमार्यं = सौकुमार्यं नाम गुणः। उदाहरति—स इति। सः = पुरुषः, मरुत्सखं = अग्निम् समालिङ्ग्य = आश्लिष्य, प्रविश्य, कथाशेषतां=वार्तामात्रावशिष्टत्वं यातः = गतः, मृत इति भावः।

अत्राग्नौ प्रविश्य मृत इत्यमङ्गलजनकस्यार्थस्य पर्यायेणाभिधानं सौकुमार्यम्।

अमङ्गलजनक अश्लील पद को हटाकर जहाँ उसी अर्थ का बोधक अन्य शब्द रख दिया जाय वहाँ सौकुमार्य गुण होता है। इसका उदाहरण यह है—वह मनुष्य वायु के मित्र अग्नि में प्रवेशकर कथाशेष हो गया। अर्थात् उसने अपने को अग्नि में जला डाला। यहाँ मरना रूप अमङ्गलजनक वर्णन को तत्पर्यायवाची दूसरे शब्दों से वर्णन किया है। अतः सौकुमार्य है ॥ ८ ॥

उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता।
मानं मुञ्च प्रिये किञ्चिल्लोचनान्तमुदञ्चय ॥ ९ ॥

अन्वयः—वैदग्ध्यम् तु उदारता (गुणः) (इयं) अग्राम्यत्वात् पृथक् मता, (उदाहरणम्) प्रिये ! मानं मुञ्च लोचनान्तं किञ्चित् उदञ्चय।

व्याख्या—उदारतामाह—उदारतेति। विदग्धस्य भावो वैदग्ध्यं = विदग्धता विदग्धजनप्रयोज्या उदारता=उदारतानाम गुणः सा च अग्राम्यत्वात् = ग्राम्यदोषाभावात् पृथक् मता। तथा च तदपेक्षया भिन्नेत्यर्थः। मानं मुञ्चेत्युदाहरणम्—हि प्रिये ! मानं मुञ्च, किञ्चित्=ईषत्, लोचनान्तं=नेत्रप्रान्तम्, उदञ्चय=उन्मीलय अत्र लोचनान्तमुदञ्चय इत्यस्य स्वाभिमुखमवलोकय इत्युक्ते यद्यपि ग्राम्यत्वाभावो विद

परं तत्र उदारता नास्ति, सा तु लोचनान्तमुदञ्चयेत्यत्रैव सहृदय-हृदयसम्वेद्येति ततो भेद आवश्यकः ।

चतुराई से कही गयी बात को उदारता कहते हैं। ग्राम्यत्वाभाव में इसका अन्तर्भाव न होने के कारण पृथक् निर्देश किया गया है। इससे यह न समझना चाहिए कि चातुर्य से न कही जाने वाली बात की जगह ग्राम्यत्वदोष होता है। इसका स्थान अलग ही है, जैसे कि उदाहरण में देखिए। उदारता का यह उदाहरण है कि हे प्रिये ! अब अपने मान-अहङ्कार को छोड़ो और जरा नेत्र प्रान्तों को खोलो। मेरी तरफ देखो, इस बात को नेत्र प्रान्त को खोलो, इस चातुर्य से कहने के कारण यहाँ उदारता है। मेरी तरफ देखो ऐसा कहने पर ग्राम्यदोषाभाव तो होता है, किन्तु उदारता नहीं होती, उदारता तो हे प्रिये ! मान को छोड़ो और नेत्रप्रान्त को खोलो इस अर्थ के कथन से ही होती है। अतः ग्राम्यदोष का अभाव उदारता नहीं हो सकता ।। ९ ।।

शृङ्गारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः ।
अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥ १० ॥

अन्वयः—शृङ्गारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः । पुंसि यथा शौर्यादयः (गुणाः तिष्ठन्ति तथैव काव्येऽपि) अमी दश गुणाः (तिष्ठन्ति) ।

व्याख्या—इत्थं स्वाभिमतान् श्लेषाद्यष्टौ गुणानभिधाय वामनोक्तदशगुणान्तर्गतयोः कान्त्यर्थव्यक्तिगुणयोः अन्तर्भावं दर्शयन् गुणानामष्टत्वमेव स्वसिद्धान्तं दृढीकरोति—शृङ्गारे चेति—शृङ्गारे = शृङ्गाररसे, प्रसादे = प्रसादगुणे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः = कान्तिश्च अर्थव्यक्तिश्च कान्त्यर्थव्यक्ती तयोः सङ्ग्रहः क्रमेण शृङ्गारे=शृङ्गाररसे प्रसादे = प्रसादगुणे च भवति। शृङ्गारे कान्तिः प्रसादे च अर्थव्यक्तिरन्तर्गतेति भावः। गुणसंख्यामुपसंहरति—पुंसि=पुरुषे यथा शौर्यादयो गुणाः तिष्ठन्ति तथैव काव्येऽपि अमी = पूर्वोक्ता दश गुणाः = श्लेषप्रसादादयः तिष्ठन्ति। यथा शौर्य क्रौर्यादयो गुणा नियताः पुरुषधर्माः तथा श्लेषादयो गुणाः काव्यधर्माः तान् विना न काव्यत्वमिति भावः। दश गुणा इति वामनाभिप्रायेण स्वमते तु अष्टावेव श्लेषः, प्रसादः, समता, समाधिः, माधुर्यम्, सौकुमार्यम् उदारता चेति। तथा च सरस्वतीकण्ठाभरणकृताः चतुर्विंशतिगुणा दर्शिताः, दण्डी-वामन-वाग्भट्टजगन्नाथादिभिः दश गुणा अभिहिताः, मम्मट-विश्वनाथप्रभृतिभिस्त्रय एव प्रतिपादिताः। प्रकृतग्रन्थकृता जयदेवेन तु अष्टौ एवोदाहृताः। तत्राष्टस्वेव समेषामन्तर्भावोऽभिमतोऽस्ति ।

अत्र श्लोके दशेति पदं चिन्त्यम् । ग्रन्थकर्तुः जयदेवस्य अष्टानामेव गुणानामभिमतत्वात् तावतामेव च लक्षणोदाहरणपूर्वकमुपन्यस्तत्वात् । अतः संख्यासङ्कलनावसरे 'अष्टौ' इति पदस्यैव समुल्लेखसमुचित आसीत्, न तु दशेत्यस्य तत्र तत्सिद्धान्तानवस्थानात् । एवं च 'अमी दश गुणा काव्ये' इत्यस्य स्थाने 'इत्थमष्टौ गुणाः काव्ये' इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति । मन्ये; मूलग्रन्थलिपिकर्तुः प्रमादादेवायं पाठो लब्धावकाशोऽभवदिति विद्वद्भिर्विचारणीयम् ।

दश गुण मानने वाले वामनाचार्य आदि के मत में जो कान्ति और अर्थव्यक्ति दो गुण हैं, उनका यथाक्रम शृंगाररस और प्रसादगुण में अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् शृंगाररस में कान्तिगुण का और प्रसादगुण में अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ कान्ति और अर्थव्यक्ति की परिभाषा नहीं दी गयी है, क्योंकि ये पारिभाषिक स्वतः स्पष्ट हैं। जिस प्रकार पुरुष में शौर्य आदि गुण वर्तमान रहते हैं उसी प्रकार काव्य में श्लेष, प्रसाद आदि दश गुण रहते हैं। यहाँ वामनाचार्य आदि के मत से दश गुणों का निर्देश किया गया है, किन्तु चन्द्रालोककर्ता जयदेवकवि के मत से तो श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य और उदारता ये आठ ही गुण हैं। इन्हीं में अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे शौर्य, क्रौर्य आदि पुरुष के धर्म हैं, वैसे ही श्लेष आदि गुण काव्य के धर्म माने गये हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि गुण पुरुष की पुरुषता के द्योतक हैं, उनके बिना पुरुष पुरुष नहीं रह जाता वैसे ही गुण काव्य की काव्यता के द्योतक हैं, उनके बिना काव्य, काव्य नहीं रह जाता ॥ १० ॥

तिलकाद्यमिव स्त्रीणां विदग्धहृदयङ्गमम् ।
व्यतिरिक्तमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—स्त्रीणां तिलकाद्यम् इव प्रकृतेः व्यतिरिक्तम् । विदग्धहृदयङ्गमम् गिरां अलङ्कारं भूषणम् ।

व्याख्या—गुणालङ्कारयोर्भेददर्शनाय भूषणरूपमलङ्कारं व्याचष्टे—तिलकाद्यमिति । यथा स्त्रीणां = नारीणाम्, प्रकृतेः = शरीरात्, व्यतिरिक्तं=भिन्नम्, विदग्धहृदयङ्गमम् = विदग्धानां = चतुराणां विदुषां हृदयङ्गमं = हृदयग्राहि, तिलकाद्यं = तिलकादिभूषणं भवति तथैव गिरां = वाचाम्, प्रकृतेः = काव्यात्, व्यतिरिक्तं = भिन्नं, विदग्धहृदयङ्गमम् अलङ्कारं = अनुप्रासोपमादिभूषणं भवतीति शब्दार्थः। तथा च यथा तिलकाद्यलङ्कारः शरीरापेक्षया भिन्नः सन् शरीरशोभाजनको भवति, नतु शरीरधर्मं तथैव अनुप्रासोपमादयोऽलङ्काराः अपीति भावः । इत्थं च काव्य-

धर्मत्वं गुणत्वं काव्यशोभाधायकत्वमिति तयोर्भेदः। मम्मटमते तु रसधर्मत्वं गुणत्वं काव्यधर्मत्वमलङ्कारत्वम्।

जिस प्रकार स्त्रियों के शरीर से भिन्न तिलकादि अलङ्कार उनकी शोभा बढ़ाते हुए सहृदयों के हृदय को आनन्द देते हैं उसी तरह वाणी के शरीरकाव्य से भिन्न अनुप्रास, उपमा आदि की तरह गुण भी सहृदय-हृदयानन्दवर्द्धक हैं। इस प्रकार गुण काव्य के धर्म हैं और अलङ्कार काव्य के उत्कर्षाधायक होते हैं। मूल में अलङ्कार शब्द नपुंसक निर्दिष्ट है॥ ११॥

विचित्रलक्षणो न्यासो निर्वाहः प्रौढिरौचिती।
शास्त्रान्तर-रहस्योक्तिः संग्रहो दिक् प्रदर्शिता॥ १२॥

अन्वयः—न्यासः, निर्वाहः, प्रौढिः, औचिती शास्त्रान्तररहस्योक्तिः, संग्रहः (इति न गुणाः किन्तु) विचित्रलक्षणः (इयं गणना मया) दिक् प्रदर्शिता।

व्याख्या—यथा वामनादिभिर्दशगुणाः प्रोक्ताः, भोजराजेन चतुर्विंशतिः प्रतिपादिताः तथैव तदतिरिक्ता अन्ये न्यासादयोऽपि गुणा भवितुमर्हा न वेति शङ्कामपनुदति—विचित्रेति। न्यासः=निर्वाहः, प्रौढिः=औचिती, शास्त्रान्तररहस्योक्तिः, संग्रह इत्यादयो गुणा न सन्ति किन्तु इमे वैचित्र्यलक्षणाः=वैचित्र्यमात्रज्ञापका एव सन्ति। इत्थं च न्यासादीनामियं गणना मया जयदेवेन दिक् प्रदर्शिता=सङ्केत एव कृतः, एतदतिरिक्ता अपि बहवो वर्तन्ते, ये केवलं वैचित्र्यमेवमापादयन्ति, न गुणत्वेन व्यवह्रियन्ते इति भावः। न्यासस्य स्वरूपमाह—विचित्रलक्षणः=विचित्रं लक्षणं सूत्रं यस्मिन् स तादृशः यः प्रयोगः स न्यासः। विचित्रसूत्रासिद्धप्रयोगे न्यास इति भावः।

न्यास, निर्वाह, प्रौढि, औचिती, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह ये गुण नहीं हैं, किन्तु केवल वैचित्र्यमात्र के बोधक हैं॥ १२॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
चतुर्थस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः॥ १३॥

व्याख्या—अत्र श्लोके तृतीयचरणे केवलं 'चतुर्थस्तेनासौ' मात्रं परिवर्तितम्, अन्यत् सर्वं पूर्ववदेवास्ति । अत्र एतद् व्याख्यानं प्रथममयूखान्ते एव द्रष्टव्यम् ।१३॥

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य गुणनिरूपणनामके
चतुर्थे मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

इस मयूख के तेरहवें श्लोक में केवल तृतीयपाद में 'चतुर्थस्तेनासौ' परिवर्तन कर के चतुर्थमयूख की समाप्ति की गयी है । अतः इसका पूर्ण अनुवाद प्रथम मयूख के अन्त में देखना चाहिए ॥ १३ ॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी द्वारा की
गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधा नामक व्याख्या समाप्त ।

पञ्चमो मयूखः

अथाऽलङ्काराः

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा ।
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः ॥ १ ॥

अथ गुणनिरूपणानन्तरं काव्यलक्षणघटकस्य 'सालङ्काररसानेकवृत्तिः' इत्यंशस्य स्पष्टावगतये क्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—अथेति । अत्रालङ्कारशब्दः अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कार इति करणव्युत्पत्त्या काव्यशोभासम्पादकत्वेन अनुप्रासोपमादीनामलङ्काराणां वाचकः । अलङ्कृतिरलङ्करणं (अलं + कृ + अण्) वा अलङ्कार इति भावप्रधानोऽलङ्कारशब्दस्तु साहित्यशास्त्रापरपर्यायः । तथा च यथा मानवानां शरीरे शरीरसुषमाधायकत्वेन हारादयोऽलङ्कारा उपकारका भवन्ति तथैवानुप्राससोपमादयोऽलङ्कारा अपि काव्यशरीरे चमत्कृतिजनकत्वेन अलं शोभां करोतीति व्युत्पत्त्या तदुपकारका जायन्ते । एवं च यथा शरीरे हारादयोऽलङ्काराः संयोगसम्बन्धेन वर्तन्ते तथैव शब्दार्थशरीरे काव्ये अनुप्रासोपमादयोऽङ्काराः संयोगवृत्त्या वर्तन्ते इति भावः ।

अन्वयः—कवेः प्रसिद्धया वा (कवेः) प्रौढिवशेन वा हारादिवत् शब्दार्थयोः मनोहरः सन्निवेशः अलङ्कारः (भवति) ।

व्याख्या—अलङ्कारसामान्यलक्षणं व्याचष्टे—शब्दार्थयोरिति । कवेः = आलङ्कारिकस्य, प्रसिद्धया = लोकख्यात्या, कवेः प्रौढिवशेन = प्रगल्भकल्पनया वा शब्दार्थयोः = वाच्यवाचकयोः मनोहरः = चेतश्चमत्कारजनकः, सन्निवेशः = उपन्यासः, हारादिवत् = हारादिभूषणवत्, अलङ्कारः = अलङ्कारनामा भवति । शब्दः = वाक्यं, तदर्थः = वाक्यार्थः तत्र कवेरिति पदमुभयान्वयि, तथा च शब्दानां च यो मनोहरश्चमत्कारजनकः सन्निवेशः = संघटनं, स यथाक्रमं शब्दगतः शब्दालङ्कारः अर्थगतश्च अर्थालङ्कारो भवतीति शेष इति भावः ।

प्रथम मयूखों में उक्त दोष, लक्षण तथा गुणों के निरूपण करने के बाद अब अलंकारों का निरूपण करते हैं । 'अलं क्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः' इस करणव्युत्पत्ति के अनुसार जिससे सजाया जाय उसे अलङ्कार कहते हैं । अर्थात् अलंकार शब्द शरीर शोभाजनक हार आदि की तरह काव्य शोभाधायक अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का बोधक है ।

समुचित ढंग से उचित स्थान पर पहने हुए हार आदि जैसे शरीर की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार आलङ्कारिकों की प्रसिद्धि या कल्पना की प्रौढि से होने वाला चमत्कारजनक शब्द और अर्थ का मनोहर सन्निवेश काव्यशरीर को अलंकृत करता हुआ अलंकार संज्ञा को प्राप्त होता है।

अर्थात् अलंकार शब्द की करण व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर को शोभित करने के साधन को अलङ्कार कहते हैं। जिस प्रकार जब हार आदि आभूषण मनोहर रीति से शरीर पर सन्निविष्ट किये जाते हैं उसी प्रकार कवियों में प्रचलित रीति अपनाकर जब शब्द और अर्थ का मनोहर प्रयोग किया जाता है, तब वे काव्य के अलंकार बनते हैं।

विशेष—अलंकारों की सत्ता बाह्य है। जैसे तिलक आदि शरीर से बाहर होते हुए भी उसकी शोभा बढ़ाते हैं वैसे ही अलंकार काव्य के बाह्य होते हुए भी उसकी शोभा बढ़ाते हैं। जैसे शोभा के लिए अलंकारों का होना शरीर के लिए अनिवार्य है वैसे ही काव्य के लिए अलंकारों का होना अनिवार्य वस्तु है।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने साहित्यशास्त्र का नाम अलंकार-शास्त्र रख दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कहीं-कहीं पुष्पिकाओं में अलंकार शब्द के उल्लेख से ग्रन्थकार का अलंकार सम्प्रदायनिष्ठ होना स्पष्ट है। अलंकार संप्रदायवादी लेखक अपने ग्रन्थों में रस का विचार संक्षेप से करते हैं और अलंकारों का विस्तार से। ये लोग अलंकारों को इतना प्रमुख मानते हैं कि काव्य में प्रतीत होने वाले अर्थ को अलंकारों में अन्तर्भूत कर देते हैं।

भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि अलंकार संप्रदाय आचार्यों ने वाणी को गुण और अलंकार रहित होने पर विधवा स्त्री कहा है।

'गुणालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।'

भामह ने तो अपने काव्यालङ्कार में नारी का मुख सुन्दर होते हुए भी अलंकाररहित होने से अच्छा नहीं माना है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास जी ने अपनी रामचन्द्रिका में कहा है कि रस आदि के रहने पर भी काव्य की शोभा अलंकार के बिना नहीं होती—

'अदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरिस सुवित्त।
भूषन विनु नहिं राजई कविता वनिता मित्त॥ १॥

स्वर-व्यञ्जन-सन्दोह-व्यूहा सन्दोहदोहदा।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा॥ २॥

अन्वयः—स्वर-व्यञ्जन-सन्दोह-व्यूहा मन्दोहदोहदा जगज्जाग्रदुत्सेका गौः छेकानुप्रासभासुरा (भवति)।

व्याख्या—प्रथेहशक्रमप्राप्तानामलङ्काराणां मध्ये शब्दालङ्कारस्य प्रथमोपस्थितत्वादादौ शब्दालङ्कारेषु तदन्यतमं छेकानुप्रासमाह—स्वरेति। स्वराः = अकारादयः,

व्यञ्जनानि=ककारादीनि च स्वरव्यञ्जनानि तेषां सन्दोहः=समूहः तस्य व्यूहः= आवर्तनं यस्यां सा स्वरव्यञ्जनसन्दोहव्यूहा, मन्दः=अल्पः ऊहः=तर्कः तस्य दोहदा=जनयित्रीति मन्दोहदोहदा, जगति=लोके जाग्रत्=जागरूकः, प्रचुर-प्रचारः, उत्सेकः=उत्कर्षः यस्याः सा जागज्जाग्रदुत्सेका गौः=वाणी, छेकाः= विदग्धाः तत्कर्तृको योऽनुप्रासः—अनु=एकदा कथनोत्तरं यत्र त एव वर्णाः पुनः प्रकर्षेण आस्यन्ते=स्थाप्यन्ते सोऽनुप्रासः तेन भासुरा=शोभमाना भवति। यद्वा छेकाः=आलयस्थाः पक्षिणः तेषामनुप्रासेन=द्विर्भासितेन भासुरा। अयं च छेकैः=विदग्धैरेवानुप्रयुज्यमानत्वात् छेकानुप्रास इत्युच्यते। तथा च स्वर-स्तोमानां व्यञ्जनस्तोमानामुभयेषां च यत्र सकृत् साम्यं तत्र छेकानुप्रासः।

उदाहरणं तु अयमेव श्लोकः। अत्र हि स्वरव्यञ्जनसन्नित्यत्र, स्वरावृत्तिः, दोहव्यूहेत्यंशे व्यञ्जनावृत्तिः, दोहदोहेत्यंशे उभयावृत्तिरिति लक्षणसमन्वेति।

स्वर और व्यञ्जन के समूह की आवृत्ति से युक्त, एक कालिक ज्ञान उत्पन्न कराने वाली, तथा संसार में प्रसिद्ध उत्कर्षवाली वाणी छेकानुप्रास से सुशोभित होती है। अर्थात् जहाँ अनेक स्वर या अनेक व्यञ्जन का एक बार आवृत्ति की जाय वहाँ छेकानुप्रास होता है। जैसे इसी पद्य में स्वरव्यञ्जनसन् इस अंश में अकार रूप स्वर की आवृत्ति है। दोहव्यूहा—इस अंश में व्यञ्जनों की आवृत्ति है। दोहदोहा यहाँ स्वर और व्यञ्जन दोनों की आवृत्ति है। अतः यहाँ छेकानुप्रास है। यह पद्य स्वयं इस अलंकार का उदाहरण है।

विशेष—यहाँ अनुप्रास की परिभाषा न देकर उसके पहले भेद छेकानुप्रास का कथन इस श्लोक में किया गया है। छेक का अर्थ है विदग्ध। यह विदग्धों द्वारा प्रायः प्रयुक्त होने से विदग्धों का अनुप्रास कहा जाता है। ग्रन्थकार के अनुसार कई स्वरों की आवृत्ति अथवा अनेक व्यञ्जनों की आवृत्ति भी इष्ट है।

अनुका अर्थ है रस के अनुगत, प्र का अर्थ है प्रकृष्ट और आस का अर्थ है स्थापना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जनों की रसानुगामी उत्कृष्ट योजना को अनुप्रास कहते हैं ॥२॥

आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद्वचः।
असन्दानन्दसन्दोह-स्वच्छन्दास्पद-मन्दिरम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—आवृत्तवर्णसम्पूर्णम्, अमन्दानन्दसन्दोहस्वच्छन्दास्पदमन्दिरम्, वचः, वृत्त्यनुप्रासवद्।

व्याख्या—वृत्त्यनुप्रासं व्याचष्टे—आवृत्तेति। आवृत्तश्चासौ वर्णं आवृत्तवर्णः तेन सम्पूर्णं=सम्पूरितम् आवृत्तवर्णसम्पूर्णं=पुनः पुनः पठितेन वर्णेन परिपूरितम्, अमन्दः=बहुलः आनन्दः=हर्षः तस्य सन्दोहः=स्तोमः समूहः तस्य स्वच्छन्दं= स्वतन्त्रम्, अन्योपकरणनिरपेक्षम् आस्पदस्य=वसतेः मन्दिरं गृहम् वचः=वचनं

वृत्त्यनुप्रासवद् = वृत्त्यनुप्रासवचनममन्दानन्दस्य मन्दिरमिति भाव। । भूयो भूय एक-वर्णावृत्तिः वृत्त्यनुप्रास इति तल्लक्षणमिति फलितम् । उदाहरणं तु इदमेव पद्यम् ।

अत्र दकाररूपस्यैकस्य वर्णस्यादितः समाप्तिपर्यन्तमसकृदावर्तनस्य सत्त्वाद् वृत्त्यनुप्रासः ।

जहाँ एक वर्ण या अनेक वर्ण की अनेक बार आवृति हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। जैसे इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में न्द की बार-बार आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ वृत्त्यनुप्रास है।३॥

लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता ।
यत्र स्यान्न पुनः शत्रोर्गर्जितं तज्जितं जितम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता लाटानुप्रासभूमिः । (उदाहरणम्) यत्र शत्रोः गर्जितं पुनः न स्यात् तत् जितं जितम् ।

व्याख्या—शब्दगतं लाटानुप्रासं व्याचष्टे—लाटेति। भिन्नः=पूर्वकथितशब्दापेक्षयाऽन्यः, अभिप्रायः=अर्थाशयः यस्याः सा भिन्नाभिप्राया ईदृशी या पुनरुक्तता=पदानां पौनरुक्त्यम्, एकार्थकशब्दस्य द्विर्भाषितत्वम् । लाटानुप्रासभूमि = लाटानुप्रासस्य स्थानम्, भिन्नाभिप्रायकपुनरुक्तत्वं लाटानुप्रासत्वम् । उदाहरणमाह—यत्रेति। यत्र = यस्मिन् पुनः = भूयः, शत्रोः = रिपोः गर्जितं = गर्जनम् न स्यात् = न भवेत् (एकवारं जितः शत्रुर्न पुनः मस्तकमुत्थापयेत् चिराय मौनी भूत्वा तिष्ठेत्) तत् जितं = स विजयः जितं = यथार्थतया सफलम् ।

अत्र जितं जितमिति पदयोः पौनरुक्त्येऽपि विजयार्थकप्रथमजितशब्दापेक्षया द्वितीयजितशब्दस्य सफलमित्यर्थेनाभिप्रायभेदाल्लाटानुप्रासः । लाटनामकदेशवासिनो विदग्धजना प्राय एवमेव ब्रुवते इति तत्प्रियत्वादयं लाटानुप्रासो व्यपदिश्यते। छेकानुप्रासवृत्त्यनुप्रासयोस्तु वर्णावृतिः लाटानुप्रासे तु पदावृत्तिरिति भेदः ।

जहाँ भिन्न-भिन्न अभिप्राय के प्रकाशक पुनरुक्तपद हों वहाँ लाटानुप्रास हुआ करता है। जैसे जहाँ शत्रु पुनः गरज न सके, वहीं जीतना जीतना है अर्थात् सफल है ।

यहाँ जितं जितं यह पुनरुक्त है, किन्तु प्रथम जित पद का विजय अर्थ है और दूसरे जित पद का सफल अर्थ है। अतः दोनों पदों को भिन्नाभिप्रायक होने के कारण यहाँ लाटानुप्रास है ।

विशेष—लाट=प्राचीन गुजरात प्रान्त के रहने वालों के अत्यन्त प्रिय होने से यह अनुप्रास लाटानुप्रास के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य ग्रन्थों में लाटानुप्रास के पाँच भेद माने गये हैं ॥ ४ ॥

श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा ।
तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—श्लोकस्य अर्धे तदर्धे वा यदि वर्णावृत्तिः ध्रुवा तदा मतिमतां सताम् स्फुटानुप्रासता मता ।

व्याख्या—स्फुटानुप्रासं व्याचष्टे—श्लोकस्येति । श्लोकस्य अर्धे=पूर्वार्धे उत्तरार्धे वा तदर्धे=पादे वा यदि=चेत् वर्णावृत्तिः=वर्णावर्तनम्, ध्रुवा= निश्चिता तदा=तर्हि मतिमतां=बुद्धिमतां सतां=सहृदयानां सज्जनानां काव्य-मर्मज्ञानां स्फुटानुप्रासता=स्फुटानुप्रासत्वम् मता=स्वीकृता, स्फुटानुप्रासत्वेन व्यपदेश इष्ट इत्यर्थः ।

उदाहरणं तु पद्यस्योत्तरार्द्धमेव । अत्र तकार-मकारयोः आवृत्तिः आदितोऽन्त-पर्यन्ता नियतेति स्फुटानुप्रासत्वम् ।

श्लोक के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में अथवा श्लोकार्द्ध के अर्द्धभाग=प्रत्येक-पाद में यदि वर्णों की आवृत्ति हो तो बुद्धिमानों ने उसे स्फुटानुप्रास कहा है । वर्णावृत्ति दो प्रकार से होती है, एक तो आदि से अन्त तक वर्णों की आवृत्ति अथवा चरणों के अन्त में उसी वर्ण का रहना दूसरी आवृत्ति मानी गयी है । जैसे इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में आदि से अन्तपर्यन्त तकार-मकार की आवृत्ति प्रथम भेद का उदाहरण है । पूर्वार्द्ध और पूर्वार्द्धार्द्ध में वा शब्द का तथा उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्धार्द्ध में ताम् पद का साम्य दूसरे भेद का उदाहरण है । इसीलिए यहाँ स्फुटानुप्रास है ।

विशेष—अन्य अनुप्रासों से इसे इस आधार पर भिन्न किया जा सकता है कि इस स्फुटा-नुप्रास में चरणान्त में समान वर्णों का होना जरूरी है तथा अन्य अनुप्रासों में अपने-अपने लक्षणों के अनुसार अन्यत्र । स्फुटानुप्रास को हिन्दी में अन्त्यानुप्रास या तुक कहते हैं । श्लोककस्यार्धे तदर्धे वा यहाँ सप्तमी विभक्ति से यहाँ अर्द्ध का अर्थ अन्तिम भाग है ॥ ५ ॥

उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते ।
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—उपमानोपमेयादौ (यदि वर्णावृत्तिः ध्रुवा नियता) तदा अर्थानुप्रास इष्यते । गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनं खलु चन्दनम् ।

व्याख्या—अर्थानुप्रासमाचष्टे—उपमेयेति । उपमेयं=वर्ण्यम्, उपमानम्= अवर्ण्यम्, उपमेयं च उपमानं चेति उपमेयोपमाने तयोः उपमेयोपमानयोः= वर्ण्याऽवर्ण्ययोः यदि वर्णावृत्तिर्ध्रुवा नियता तदार्थानुप्रासः=अर्थानुप्रासालङ्कार इष्यते । उपमेयोपमानादौ वर्णसाम्येऽर्थानुप्रासालङ्कारो भवतीति भावः । उदाहरणं यथा—गोविन्दस्य=भगवतः श्रीकृष्णस्य चरणयोः=पादपद्मयोः द्वन्द्वं=युगलं तस्य वन्दनं=प्रणाम इति गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम् खलु=हि चन्दनं= भद्रश्रीः । यथा चन्दनं तापशमकमाह्लादजनकं च भवति तथैव गोविन्दचरण-द्वन्द्ववन्दनमपि त्रितापशामकं चित्तशान्तिद्वाराऽऽह्लादजनकं च भवति ।

अत्र चन्दनगोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनयोरुपमानोपमेयभावः स्पष्टः, नकारदकारयोर्वारम्वारमावृत्तिश्च वर्तते इति अर्थानुप्रासस्योदाहरणमिदम् ।

जहाँ उपमेय और उपमान में यदि वर्णसाम्य हो तो वहाँ अर्थानुप्रास होता है। जैसे गोविन्द के पादपद्मद्वय की वन्दना चन्दन के समान शान्तिप्रद है। यहाँ वन्दनरूप उपमेय तथा चन्दन रूप उपमान में न्द का साम्य (आवृत्ति) है। इसलिए यहाँ अर्थानुप्रास अलङ्कार है।

विशेष—चन्दन और श्रीकृष्णचरण दोनों तापशामक हैं। अतः क्रमशः उपमेय और उपमान हो सकते हैं। चन्दन तथा गोविन्द-चरणद्वन्द्व-वन्दन में न् द तथा अ की आवृत्ति होने से अर्थानुप्रास का उदाहरण है।

अन्य अनुप्रासों से इसका भेद यह है कि यह अनुप्रास उपमेय और उपमान में नियत हैं, जबकि अन्य अनुप्रास अन्यत्र होते हैं।

छेकानुप्रास से इस अनुप्रास की भिन्नता इस आधार पर की जाती है कि छेकानुप्रास में कई वर्णों की समता पास-पास अभीष्ट है, किन्तु इस अनुप्रास में चन्दन और गोविन्द के बीच में खलु आदि का व्यवधान है ॥ ६ ॥

पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थसन्निभम् ।
अंशुकान्तं शशी कुर्वन्नम्वरान्तमुपैत्यसौ ॥ ७ ॥

अन्वयः—पुनरुक्तार्थसन्निभं पुनरुक्तप्रतीकाशं (विदुराचार्याः) असौ शशी अम्बरान्तम् अंशुकान्तं कुर्वन् उपैति ।

व्याख्या—पुनरुक्तप्रतीकाशं व्याचष्टे—पुनरुक्तेति । पुनः=भूयः उक्तः अर्थः यस्मिन् वाक्ये तत् पुनरुक्तार्थं पुनरुक्तार्थेन सन्निभं=तुल्यम् इति पुनरुक्तार्थसन्निभम् । प्रकाशते इति प्रकाशः, पुनरुक्तवत् प्रतीकाशः पुनरुक्तप्रतीकाशः तं पुनरुक्तप्रतीकाशम् =पुनरुक्तप्रतीकाशनामालङ्कारं विदुराचार्याः । आपाततो यथार्थः पौनरुक्तेन भासते तत्रायमलङ्कार इति भावः । उदाहरणं यथा अंशुकान्तमिति । असौ= दृश्यमानः शशी=चन्द्रः अम्बरान्तं=आकाशमध्यं अंशुभिः=किरणैः, कान्तं=सुन्दरं कुर्वन्=विदधत् उपैति=आगच्छति ।

अत्र वस्तुतः अंशुकान्त–अम्वरान्तशब्दयोरर्थो भिन्नः, किन्तु अंशुकस्य अन्तः तं अम्बरस्य अन्तः तमित्यर्थकरणे अंशुकान्ताम्बरान्तशब्दयोः वस्त्रान्तरूपैकार्थस्यापाततो भानादत्र पुनरुक्तप्रतीकाशो नामालङ्कारः ।

जहाँ ऐसे शब्द प्रयुक्त हों, जिनका अर्थ पुनः उक्त अर्थ के समान हो वहाँ पुनरुक्तप्रतीकाश नामक अलंकार होता है। जैसे वह चन्द्रमा अपनी किरणों से आकाश के मध्य भाग को कान्त=सुन्दर बनाता हुआ आ रहा है।

यहाँ अंशुक तथा अम्बर ये दोनों शब्द वस्त्र वाचक होने के कारण पुनरुक्तार्थ हैं। अतः यहाँ पुनरुक्त-प्रतीकाश नामक अलंकार है। वस्तुतः अम्बर पद आकाश वाचक है।

विशेष—उदाहरण में अंशुक (वस्त्र) कहने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर यह वास्तविक नहीं है, क्योंकि अंशु और कान्त पृथक्-पृथक् पद हैं जिनका क्रमशः अर्थ है किरण और मनोहर तथा अम्बर का अर्थ है आकाश।

परिभाषा पूर्वार्द्ध में दी गयी है, किन्तु वह वाक्य पूर्ण नहीं है। पुंल्लिग और अलंकार के होने पर अथवा व्युत्पत्ति के अनुसार पुंल्लिग प्रतीकाश शब्द के द्वितीया विभक्ति में होने के कारण विदुः जैसी किसी क्रिया की अपेक्षा है। अगले ८वें श्लोक में विदुः क्रिया है उसके साथ इसका सम्बन्ध कर देने पर प्रातीकाशं द्वितीयान्त की संगति बैठ जाती है। लाटानुप्रास में अन्वय से अर्थ बदलता है, पर पुनरुक्तप्रतीकाश में शब्द ही द्व्यर्थक होता है और समास के कारण या स्वतः समानार्थक होते हैं, वास्तव में नहीं ॥ ७ ॥

आवृत्तवर्णस्तबकं स्तवकन्दाङ्कुरं कवेः।
यमकं प्रथमा धुर्यमाधुर्यवचसो विदुः ॥ ८ ॥

अन्वयः—धुर्यमाधुर्यवचसः प्रथमाः आवृत्तवर्णस्तवकं कवेः स्तवकन्दाङ्कुरं यमकं विदुः।

व्याख्या—यमकालङ्कारमाचष्टे-आवृत्तेति। प्रथमाः=श्रेष्ठाः पूर्वकवयः माधुर्यं= मधुरिमा वचसि=वाण्यां येषां ते माधुर्यवचसः, धुर्याः=धुरीणाश्च ते माधुर्यवचसश्च धुर्यमाधुर्यवचसः, आवृत्तः=पुनरुक्तः वर्णानां=शब्दानां स्तबकः=समूहो यत्र तद् पावृत्तवर्णस्तबकं कवेः=काव्यकर्तुः स्तवः=स्तुतिरूपः यः कन्दः=बीजमारम्भः तस्य अङ्कुरं प्रकाशकं यमकं तदाख्यम् अलङ्कारं विदुः=वदन्ति। यत्र वर्णानां समूहः सर्वथा समः आवर्त्यते तत्र यमकमिति भावः।

उदाहरणं यथा अस्मिन्नेव पद्ये पूर्वार्द्धे स्तबकं स्तवकं उत्तरार्द्धे च माधुर्य-माधुर्यमित्याद्यंशे वर्णसमूहस्य समस्यावृत्तेरिदं यमकम्। र-ल, श-ष, न-ड, ड-ल, विसर्गाविसर्ग-विन्दुकाविन्दुकादीनां सत्यपि साम्यभेदे यमकादावभेदकल्पनं भवति। यथा—

'यमकादौ भवेदैक्यं डलयोरलयोर्बवोः।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सबिन्दुकाबिन्दुकयोः। स्यादभेदऽकल्पनम् ॥'

मधुरभाषी विद्वानों में श्रेष्ठ आलङ्कारिकों ने, कवि की प्रशंसा करने वाले अनेक वर्णों की आवृत्ति के समूह को अलंकार कहते हैं। जैसे इसी पद्य में स्तबक-स्तवक, माधुर्य-माधुर्य इन दोनों जगह वर्ण समूह की आवृत्ति है। इसलिए यहाँ यमक अलंकार है।

इस प्रकार सार्थक और निरर्थक पदों के जोड़ों को यमक कहते हैं।

विशेष—यम शब्द का अर्थ जोड़ा है। जो जोड़े के समान हो उसे यमक कहते हैं। उक्त श्लोक के स्तबक और स्तवक पदों में वर्णसाम्य है, क्योंकि ब और व, र और ल, ड और ल में कोई भेद नहीं माना गया है और बाद वाला दो शब्दों का अंश होने से निरर्थक है। माधुर्य और माधुर्य दूसरा जोड़ा है, जिसमें पहला माधुय शब्द निरर्थक है, क्योंकि वह दो शब्दों का अंश है ॥ ८ ॥

काव्यविस्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते।
तेष्वाद्यमुच्यते श्लोकद्वयी सज्जनरञ्जिका ॥ ९ ॥

अन्वयः—काव्यविस्प्रवरैः खड्गबन्धादि चित्रं लक्ष्यते। तेषु आद्यम्, सज्जनरञ्जिका श्लोकद्वयी उच्यते।

व्याख्या—चित्रालङ्कारं लक्षयति—काव्यविदिति। काव्यविस्प्रवरैः=साहित्यशास्त्रेषु श्रेष्ठैः खड्ग इव बन्धः=रचना यस्मिन् स खड्गबन्धः स आदि यस्य तत् तथाभूतं खड्गबन्धादि, आदिपदेन पद्मबन्धादीनां ग्रहणम्। एतादृशी रचना चित्रं=चित्रालङ्कारो लक्ष्यते=कथ्यते तत्र चित्रकाव्यंखड्गपद्मादि-विविधचित्रभेदादनन्तप्रकारकम् तेषु खड्गबन्धादिषु सज्जनरञ्जिका=सहृदयमनोविनोदिनी श्लोकद्वयी=द्वौ श्लोकौ खड्गबन्धात्मकौ। आद्यं खड्गबन्धाख्यं काव्यमुच्यते। अत्र श्लोकद्वयेन स्थलविशेषनिहिताचरेण खड्गाकारः सम्पद्यते।

काव्य के मर्म को जानने वाले श्रेष्ठ विद्वानों ने खड्गाकार और पद्माकार में सन्निविष्ट काव्य जहाँ हों वहाँ चित्रालङ्कार कहा है। उनमें सज्जनों के मनोरञ्जन के लिए दो श्लोकों में होने वाले पहले को खड्गबन्ध कहते हैं।

विशेष—आदि पद से पद्मबन्ध आदि अनेक चित्रकाव्य बन्धों से तात्पर्य है। ये बन्ध कठिनता से बनते हैं, क्योंकि इनके लिए कुछ वर्णों को निश्चित स्थान पर रखना आवश्यक है ॥ ९ ॥

कामिनीव भवत्खड्गलेखा चारुकरालिका।
काश्मीरसेका रक्ताङ्गी शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता ॥ १० ॥

अन्वयः—(हे राजन्) भवत्खड्गलेखा कामिनी इव चारुकरालिका काश्मीरसेका रक्ताङ्गी शत्रुकण्ठान्तिकाश्रिता (वर्तते)।

व्याख्या—हे राजन्! भवत्खड्गलेखा=त्वदसिः, कामिनी इव=सुन्दरीव सज्जनरञ्जिका=सहृदयमनोरञ्जिनी अस्ति। करौ च आलिकं च अनयोः समाहारः करालिकं चारु=सुन्दरं करालिकं=हस्तललाटं यस्याः सा चारुकरालिका, काश्मीरस्य =कुङ्कुमस्य सेकेन आरक्तं=रुधिरेण समन्तात् लोहितम् अङ्गं शरीरं यस्याः सा

काश्मीरसेकारक्ताङ्गी यद्वा—काश्मीरस्य सेको यस्यां सा काश्मीरसेका, रक्तं = अनुरक्तम् अङ्गं यस्याः सा रक्ताङ्गी शत्रोः कण्ठस्य = ग्रीवायाः अन्तिकं = निकटं आश्रिता = उपगता वर्तते सेयं श्लोकद्वयी कामिनीव सहृदयानामाह्लादिकामवतु ।

हे राजन् ! सुन्दर हस्त और ललाट वाली, केसर के लेप से युक्त, तथा अनुरागपूर्ण अंग वाली नायिका के समान आपकी सुन्दर, तेज, केसर के लेप की तरह अंगवाली तलवार शत्रुओं के गले के पार्श्वर्ती प्रदेश का अवलम्बन कर रही है (चित्र प्रस्तावना में देखिए) ॥१०॥

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत्र द्वयोः सादृश्यलक्ष्मीः हृदये खेलतोः उच्चैः तन्वङ्गीस्तनयोः इव उल्लसति सा उपमा ।

व्याख्या—अथ क्रमप्राप्तानर्थालङ्कारान् विवक्षुः सर्वेषामर्थालङ्काराणां प्रायः उपमैकपर्यवसायित्वादर्थालङ्कारजननीमुपमां सर्वादौ लक्षयति—उपमेति । यत्र=यस्मिन् अलङ्कारे द्वयोः=उपमेयोपमानयोः सादृशस्य लक्ष्मीः=सादृश्यशोभा हृदये=वक्षःस्थले खेलतोः=क्रीडतोः, विलसतोः समुच्छ्वलतोः उच्चैः=उच्चयोः उन्नततयोः तन्वङ्गीस्तनयोः=सुन्दरीकुचयोः इव=यथा उल्लसति=शोभते सा उपमा=उपमालङ्कारः ।

यथा तन्वङ्गया वचसि उन्नतयोः स्तनयोः मिथः सादृश्यं चमत्कारकारि भवति तथैवोपमानोपमेययोरिति भावः । अत्र एकः स्तनः उपमानं परश्च स्तन उपमेयं, हृदये समुच्छ्वलनं द्वयोः साधारणधर्मं इवेत्युपमावाचकः शब्द इति पूर्णोपमा इयम् । अस्या ग्रन्यादावनेके भेदोपभेदा भवन्ति ।

सुन्दरी नायिका के वक्षःस्थल पर छलकते हुए उभड़े स्तनों की तरह जहाँ उपमान और उपमेय दोनों समानता की शोभा से विकसित हों वहाँ उपमा अलङ्कार होता है ।

विशेष—उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द ये चारों जहाँ शब्द से प्रतिपादित हों वहाँ पूर्णोपमा कही जाती है और जहाँ इनमें किसी एक की कमी रहे वहाँ लुप्तोपमा होती है ।

(क) जिससे उपमा (समानता) बतायी जाय उसे उपमान कहते हैं। जैसे चन्द्रमा के समान मुख है । यहाँ चन्द्र से मुख की समानता बताई जा रही है । अतः चन्द्रमा उपमान है ।

(ख) उपमा के योग्य पदार्थ को उपमेय कहते हैं। जैसे चन्द्र के समान मुख । यहाँ मुख में चन्द्र की समानता बतायी जाती है । अतः मुख उपमेय है ।

(ग) साधारण धर्म उसे कहते हैं, जो उपमान और उपमेय दोनों में एक रूप से रहता हो । जैसे चन्द्रमा के समान मुख मनोहर है । यहाँ मनोहरत्व धर्म उपमान चन्द्र और उपमेय मुख एक दोनों में एक रूप से रहा है । अतः यह साधारण धर्म है ।

(घ) एक दूसरे के साथ समानता बताने वाले इव, यथा आदि शब्द उपमा वाचक कहे जाते हैं। श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों हैं। जैसे सुन्दरी की छाती पर दोनों स्तन एक दूसरे के समान शोभित होते हैं। इसी तरह यहाँ उपमेय और उपमान एक दूसरे के समान शोभित हैं। उपमान उपमेय की अपेक्षा हमेशा श्रेष्ठ माना जाता है। तथा इसे प्रसिद्ध होना चाहिए। उपमा की प्रशस्ति में कहा गया है कि उपमा एक नटी है जो विचित्र भूमि को अपना कर नृत्य करती हुई काव्य के रंगमंच पर रसिकों का मनोरञ्जन करती है।

'उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥'

आगे कहा गया है कि उपमा अलंकारों की शिरोमणि है काव्यलक्ष्मी का सर्वस्व है और कविकुल की माता ही है—

'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥'

इस प्रकार उपमा अनेक अलंकारों का बीज है। कुवलयानन्द ने चन्द्रालोक की उपमा का संशोधन करते हुए लिखा है कि हे कृष्ण तुम्हारी कीर्ति हंसिनी की भांति स्वर्गंगा में स्नान कर रही है—

'हँसीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वगङ्गामवगाहते'॥ ११॥

उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः॥ १२॥

अन्वयः—यत्र एकस्यैव इन्दुः इन्दुः इव इत्यादौ उपमानोपमेयत्वे जागृतः (तत्र) अनन्वयः भवेत्। (उदाहरति)।

व्याख्या—अनन्वयं लक्षयति—उपमानेति। यत्र=यस्मिन् स्थले, एकस्य=वर्ण्यमानस्य पदार्थस्य इन्दुः=चन्द्रः, इन्दुरिव=शशिसमानः इत्यादौ उपमानोपमेयत्वे=उपमानं च उपमेयं च जाग्रतः=भवतः तत्रानन्वयः=अनन्वयनामालङ्कारो भवेत्=स्यात्। जागृत इति पाठे स्फुटं भवतः। अत्रैकस्येन्दोरुपमेयत्वमुपमानत्वं चाऽस्तीत्यनन्वयोऽलङ्कारः।

उदाहरणान्तरं यथा—

'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥'

जहाँ उपमान और उपमेय एक ही हो वहाँ अनन्वयालङ्कार होता है। जैसे चन्द्रमा चन्द्रमा के ही समान हैं। अर्थात् इसके समान दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अथवा आकाश आकाश के समान है, सागर सागर के समान है, राम और रावण का युद्ध राम और रावण के ही युद्ध के समान है।

विशेष—उपमेय ही उपमान होने पर अनन्वय अलंकार होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि उपमेय अतुल्य है। इसमें उपमान भिन्न न होने से यह जरूरी नहीं है कि प्रसिद्ध ही हो।

न अन्वयः = उपमानान्तरेण सह सम्बन्धः यस्य स अनन्वयः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका किसी अन्य उपमान से सम्बन्ध न हो वह अनन्वय है, यह अर्थ निकलता है, जो परिभाषा का बोध करा देता है। यहाँ साधारण धर्म लुप्त है। यदि कुवलयानन्द के अनुसार 'इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्' कर दें तो अनन्वय पूर्ण हो जायेगा॥ १२॥

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता।
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि॥ १३॥

अन्वयः—चेत् द्वयोः पर्यायेण तत् स्यात् (तदा) उपमेयोपमा मता (उदाहरति, हे राजन्) त्वयि धर्मः अर्थ इव अर्थः (अपि) धर्म इव पूर्णश्रीः (अस्ति)।

व्याख्या—उपमेयोपमां व्याचष्टे—पर्यायेणेति। चेत् = यदि द्वयोः = भिन्नयोः पदार्थयोः पर्यायेण = क्रमेण तत् = उपमानत्वमुपमेयत्वं च स्यात्तदा उपमेयोपमा मता, उपमेयोपमाख्यः अलङ्कारो मतः। उपमेयेन उपमा उपमेयोपमा अर्थात् प्रथमवाक्ये यदुपमेयं तदेव द्वितीयवाक्ये उपमानं स्यात्तत्रायमलङ्कारः। अत्रापि उपमावत् पूर्णादिभेदा ऊह्याः। उदाहरति—धर्म इति। हे राजन्! त्वयि = भवति धर्मः = श्रुति-स्मृतिविहितधर्मः अर्थ इव पूर्णश्रीः = शोभा यस्य स तादृशोऽस्ति, अर्थोऽपि धर्म इव पूर्णश्रीरस्ति धर्मार्थावुभावपि त्वयि पूर्णौ इति भावः। अत्र प्रथमवाक्ये धर्म उपमेयमर्थश्चोपमानं द्वितीये वाक्ये च स एव धर्मः। उपमानमर्थश्चोपमेयमित्युपमेयोपमाननामालङ्कारः। वस्तुतस्तु वर्णनीयस्य राज्ञोऽर्थधर्मौ सदृशान्तररहितावित्येव कवितात्पर्यम्।

जहाँ प्रथम वाक्यस्थ उपमान अथवा उपमेय द्वितीय वाक्य में क्रम से उपमेय अथवा उपमान बना दिया जाय तो वहाँ उपमेयोपमालङ्कार होता है। जैसे हे राजन्! आपका धर्म अर्थ की तरह पूरा है और अर्थ धर्म की तरह पूर्ण है। अर्थात् आप में धर्म और अर्थ दोनों पूर्णरूप से विद्यमान हैं।

यहाँ प्रथम वाक्यस्थ उपमेय धर्म पद दूसरे वाक्य में उपमान बना दिया गया है। अतः यहाँ उपमेयोपमा अलंकार हुआ।

विशेष—उदाहरण में दो उपमायें हैं। पहली उपमा में धर्म उपमेय है और अर्थ उपमान। इन दोनों ने दूसरी उपमा में अपना क्रम पलट दिया। अर्थात् उपमेय उपमान हो गया और उपमान उपमेय। अनन्वय से उपमेयोपमा में अन्तर है कि पहले अनन्वय में वर्णनीय वस्तु एक होती है और उसे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया जाता है। जब कि उपमेयोपमा में वर्णनीय वस्तुएँ दो होती हैं और परस्पर वे एक दूसरे के बराबर तथा तीसरे आदि अन्य

वस्तुओं से श्रेष्ठ बताई जाती हैं। उपमा के समान यह उपमेयोपमा पूर्ण और लुप्त हो सकती हैं॥ १३॥

विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात्प्रतीपोपमा तदा॥ १४॥

अन्वयः—यत्र विख्यातस्य उपमानस्य उपमेयता स्यात् तदा (तत्र) इन्दुर्मुखमित्यादौ प्रतीपोपमा स्यात्।

व्याख्या—यत्र विख्यातस्य = प्रसिद्धस्य उपमानस्य = उपमानतया विदितस्य उपमेयता = प्रस्तुतत्वम् स्यात् = भवेत् तदा = तर्हि तत्र इन्दुः = चन्द्रः, मुखं= वदनम् इव इत्यादौ प्रतीपोपमा नामालङ्कारः स्यात्। उदाहरणं यथा विहितस्येति पदोपादानेऽप्रसिद्धोपादानस्योपमेयतायां नऽयमलङ्कारः प्रसिद्धोपमानसम्बन्ध्युपमेयत्व-वर्णनं प्रतीपोपमानत्वम्।

लोके तावत् सर्वातिशायि सौन्दर्यमिन्दौ एव वर्तते इति मुखापेक्षया तस्यै-वायमुपमानत्वं प्रसिद्धमस्ति। इह तु तद्वैपरीत्येन इन्दोरुपमेयत्वं मुखस्य चोपमानत्वं वर्णितमिति प्रतीपोपमोदाहरणमिदम्।

उपमानरूप से प्रसिद्ध पदार्थ को यदि उपमेय वना दिया जाय तो प्रतिपोपमा अलङ्कार होता है। जैसे मुख चन्द्रमा के समान है। यहाँ चन्द्रमा हमेशा उपमानरूप से प्रसिद्ध है। यह कहीं उपमेयत्वेन प्रसिद्ध नहीं है, वही यहाँ उपमेय बना दिया गया है। इसलिए यहाँ प्रतिपोपमा है।

विशेष—परिभाषा के अनुसार उपमान का प्रसिद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रतीपोपमा के लिए उपमान कविकल्पित या अप्रसिद्ध नहीं होना चाहिए। उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा को उपमेय बना दिया गया हैं। प्रतीप का अर्थ उलटा है। इस अलङ्कार में उपमान और उपमेय उलट दिये गये हैं। इसका ठीक उलटा उपमा अलङ्कार है। मुख सबसे बढ़कर सुन्दर है। यह देखने के लिए इस अलंकार का प्रयोग किया गया है। उपमेयोपमा में भी प्रतीपोपमा हो सकती है, किन्तु वहाँ उस प्रतीपोपमा का एक उपमा के बाद आना जरूरी है जबकि प्रतीपोपमा में ऐसा नहीं होता॥ १४॥

उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः॥ १५॥

अन्वयः—उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा। त्वन्नेत्रयुगलं नीलाम्बु-जन्मनोः लीलां धत्ते।

व्याख्या—ललितोपमामाह—उपमान इति। उपमाने तु = अप्रस्तुते तु लीलादिपदाढ्ये = लीलादिपदयुक्ते सति ललितोपमा = ललितोपमा नामालङ्कारो

भवति। उदाहरणं यथा—त्वन्नेत्रेति। तव नेत्रं त्वन्नेत्रं तस्य युगलं त्वन्नेत्रयुगलं = तव नयनयुग्मम्, अम्बुजः जन्म ययोस्ते अम्बुजन्मनी नीले = कृष्णे च ते अम्बुजन्मनी = कमले चेति नीलाम्बुजन्मनी तयोः नीलाम्बुजन्मनोः = नीलकमलयोः लीलां = शोभां विलासं धत्ते = धारयति। कामिनीनयने नीलकमललोले इति भावः। अत्रोपमानस्य नीलकमलस्य सादृश्यं उपमेये नेत्रे लीलां धत्ते इत्यादिना लीलापदेनैव प्रदर्शितमिति ललितोपमेयम्। इदमेवात्र लालित्यं यदेकस्मिन् अन्यगतलीलारोपः। नेत्रयुगले नीलोत्पलगतलीलापदार्थारोपो भवति।

जहाँ उपमान पद के साथ लीलादि पद प्रयुक्त हो, वहाँ ललितोपमा अलंकार होता है। जैसे तेरे दोनों नेत्र नीलकमल की शोभा धारण करते हैं। यहाँ उपमान पद नील कमल के साथ लीलापद का भी प्रयोग किया गया है। जिसका तात्पर्य है कि कामिनी के नेत्र लीला कमल के समान सुन्दर है।

विशेष—मूल के लीलादि पद से तात्पर्य है कि लीला या उसके पर्यायवाची शोभा आदि शब्द ललितोपमा में जिसकी लीला उपमेय धारण करता है वह उपमान होता है और उपमान लीला का उपमेय में आरोप होता है जिससे वह लीला उपमेय में प्रतीत होती है। उदाहरण में कमल का विलास नेत्र युगल में प्रतीत होता है॥ १५॥

अनेकस्यार्थयुग्मस्य सादृश्यं स्तबकोपमा।
श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा॥ १६॥

अन्वयः—अनेकस्य अर्थयुग्मस्य सादृश्यं स्तबकोपमा (उदाहरति) यथा भृङ्गः तामरसं विष्णोः चरणौ श्रितः अस्मि।

व्याख्या—यत्र अनेकस्य = एकाधिकस्य अर्थयुग्मस्य = अर्थयुगलस्य सादृश्यं = साधर्म्यं तत्र स्तबकोपमा = स्तबकेन उपमा स्तबकोपमा = स्तबकोपमानामालङ्कारो भवति। अनेकयोरुपमानोपमेययोः साधर्म्ये स्तबकोपमेति भावः। उदाहरति—श्रितोऽस्मीति। भृङ्गः = भ्रमरः षट्पदः तामरसं = कमलं यथा तथा अहं विष्णोः = भगवतो नारायणस्य चरणौ = पादपद्मौ श्रितः = आश्रितः अस्मि = भवामि। अत्रास्मदपदमुपमेयं भृगं पदं चोपमानम्, एवं चरणयुग्ममुपमेयं तामरसं च तस्योपमानम्, इत्युपमानोपमेयद्वयमादायैवात्रोपमेति स्तबकोपमा। अनेके उपमानोपमेययुगले यत्र स्तः तत्रायमलङ्कारः।

जहाँ अनेक उपमानोपमेय द्वन्द्व की समानता वर्णित हो वहाँ स्तबकोपमा अलंकार होता है। जैसे जिस प्रकार भौंरा कमल का आश्रय लेता है वैसे ही मैं भगवान् विष्णु के चरणों का आश्रय लेता हूँ। यहाँ अहं पद का उपमान भृंग है और चरण का उपमान तामरस है। यहाँ इस प्रकार के उपमानोपमेय द्वन्द्व से ही उपमा होती है। इसलिए इसे स्तबकोपमा कहते हैं॥ १६॥

स्यात्सम्पूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता।
पद्मानीव विनिद्राणि नेत्राण्यासन्नहर्मुखे॥ १७॥

अन्वयः—यत्र द्वयोः अपि विधेयता स्यात् (तत्र) सम्पूर्णोपमा (उदाहरति) अहर्मुखे पद्मानि इव नेत्राणि विनिद्राणि आसन्।

व्याख्या—सम्पूर्णोपमां व्याचष्टे—स्यादिति। यत्र = यस्मिन् स्थाने द्वयोः = उपमेयस्य उपमानस्य च अपि विधेयता = वर्ण्यता स्यात् = भवेत् तत्र सम्पूर्णोपमा = सम्पूर्णोपमा नामालङ्कारो भवति। यत्र द्वयोरुपमानोपमेययोरपि विधेयता सा असाधारणधर्मान्वयिता तत्र सेति भावः। उदाहरति यथा अहर्मुखे=प्रातःकाले पद्मानि = कमलानि इव = यथा नेत्राणि = लोचनानि विनिद्राणि = निद्रारहितानि विकसितानि आसन् = बभूवुः। अत्र प्रातःकालवर्णने कमलानां विकासः नेत्राणामुन्निद्रत्वमिति द्वयमपि प्रस्तुतमेव। तेनात्र सम्पूर्णोपमा।

जहां उपमान एवं उपमेय दोनों ही वर्ण्य हों वहाँ सम्पूर्णोपमा हुआ करती है। जैसे प्रातःकाल में कमलों के समान मनुष्यों के नेत्र भी विकसित = निद्रारहित हो गये। यहाँ प्रभात काल में कमलों का खिलना तथा मनुष्यों के नेत्रों को खुलना इन दोनों का ही वर्णन प्रासंगिक है। इसलिए सम्पूर्णोपमा है।

विशेष—यहां मूल का विधेयता पद पर ध्यान देने योग्य है। उपमान और उपमेय में प्रथम अप्रस्तुत रहता है। दिन के समय यदि हम कहें कि मुख चन्द्रमा के समान हैं तो उपमा होगी, क्योंकि मुख सामने है और चन्द्रमा नहीं, वह बाहर से लाया गया है। रात में चाँद के निकलने पर यदि उक्त उपमा का प्रयोग किया जाय तो तुलना के लिये उपमेय और उपमान दोनों सामने रहेंगे। इस प्रकार विधेय=वर्णन योग्य वर्णन योग्य हो जायेंगे। इस उदाहरण में प्रातःकाल जिसका वर्णन है वह कमल खिलता और निद्रारहित हो ना रहता दोनों वर्णनों का विधेयता होने से सम्पूर्णोपमा है॥ १७॥

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥ १८॥

अन्वयः—यत्र उपमानचित्रेण उपमेयमयी भित्तिः सर्वथा उपरज्यते तत्र रूपकं भवति इष्यते।

व्याख्या—रूपकमाह—यत्रेति। यत्र = यस्मिन् स्थाने उपमानमेव चित्रमुपमानचित्रं तेन उपमानचित्रेण = अप्रस्तुतालेख्येन उपमेयमयी = उपमानरूपेत्युपमेयमयी भित्तिः = कुड्यम्, सर्वथा = सर्वप्रकारेण, उपरज्यते = उपरक्ता भवति। तत्र = तत्र स्थले रूपकं = रूपकालङ्कारः इष्यते = मन्यते। यत्रोपमानोपमेययोरभेदारोपः तत्र रूपकमित्यर्थः। उदाहरणं तु इदमेव। उपमानमेव चित्रमिति

मयूरव्यंसकादयश्चेति समासेन समस्ताभेदरूपकोदाहरणे उपमाने चित्रतादात्म्यस्य उपमेयमप्येव भित्तिरिति स्वार्थमयता असमस्ताभेदरूपकोदाहरणे उपमेये भित्ति-तादात्म्यस्य चारोपात् लक्षणसंगतिः। एवं यत्रोपमानोपमेययोर्भेदो न प्रतीयते तत्रेदमिति भावः।

काव्यप्रकाशे साहित्यदर्पणे चास्याष्टौ भेदाः सरस्वतीकण्ठाभरणे च पञ्चदशभेदाः कुवलयानन्दे च षट् भेदाः चन्द्रालोके च सोपाधिकरूपकं, सादृश्यरूपकं, आभास-रूपकं रूपितरूपकं चेति चत्वारो भेदा अभिमताः।

जहाँ उपमानरूप चित्र से उपमेय रूप चित्र सर्वथा मिला हुआ रहे (उपमान उपमेय में एकता प्रतीत होती हो) वहाँ रूपकालङ्कार होता है। जैसे इसी श्लोक में उपमानमेव चित्रम् उपमानचित्रं तेन यहाँ उपमान में चित्र का आरोप और इसी तरह उपमेयरूपा उपमेयमयी यहाँ उपमेय में भित्ति का आरोप करने पर इन दोनों में एकता प्रतीत होती है। इसलिए यहाँ रूपकालङ्कार होता है।

विशेष—उपमान के द्वारा उपमेय को आत्मसात् कर लिये जाने पर रूपकालंकार होता है। यह श्लोक रूपक की परिभाषा बताने के साथ-साथ उदाहरण भी है। यहाँ उपमेय शब्द का उपमान भित्ति है और उपमेय ही भित्ति है। इस तरह दोनों में भेद नहीं है। भित्ति ने उपमेय की सत्ता अपने में विलीन कर ली है। यही स्थिति उपमानशब्द और उसके उपमानचित्र दीवाल को व्याप्त कर लेता है और दोनों में भेद नहीं रहता। उसी प्रकार जहाँ उपमेय को उपमान ढक लेता हैं वहाँ रूपक होता है। यह या अभेद वास्तविक नहीं होता कविकल्पना सादृश्य के आधार पर अभेद दिखाया जाता है। अलंकार बनाने के लिए इसमें सौन्दर्य होना आवश्यक है।

रूपक और निदर्शना में अन्तर यह है कि रूपक में आरोप शब्द होता है और निदर्शना में अर्थ। इसी प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति में अन्तर यह है कि अतिशयोक्ति में उपमेय को हटाकर उपमान बना देते हैं जबकि रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का वर्णन होता है। 'मुखचन्द्र को देखो' में मुख और चन्द्र दोनों क्रमशः उपमेय और उपमान हैं तथा अर्थ मुख ही चन्द्र है उसे देखो इसके विपरीत अतिशयोक्ति में मुख का वर्णन करते समय कहेंगे 'चन्द्र देखो' इस वाक्य में प्रसंग से चन्द्र का अर्थ मुख लगेगा। अपह्नुति में उपमेय छिपाया जाता है, रूपक में नहीं, यही इन दोनों में भेद है।

रूपक शब्द में सामान्यतः रूपयतीति रूपक यह व्युत्पत्ति का अर्थ लगाया जाता है कि उपमा और उपमेय में अभेद का आरोप कर उन्हें एक करने वाला रूपक होता है। कुवल-यानन्द के व्याख्याता आशाधर भट्ट ने रूपक शब्द की व्युत्पत्ति की है कि जो लक्षण उप-मेय और उपमान को समान रूपवाला बना देती है वह जिस अलंकार में होती है—वह रूपक है—रूपवत् करोति रूपयति वा रूपको लक्षणाविशेषः सोऽस्मिन्नस्तीति रूप-कमलङ्कारः ॥ १८ ॥

समानधर्मयुक्साध्यारोपात्सोपाधिरूपकम्।
उत्सिक्त-क्षितिभृल्लक्ष्य-पक्षच्छेदपुरन्दरः ॥ १९ ॥

अन्वयः—समानधर्मयुक् साध्यारोपात् सोपाधिरूपकम् (उदाहरति) उत्सिक्त-क्षितिभृल्लक्ष्यपक्षच्छेदपुरन्दरः ।

व्याख्या—सोपाधिरूपकं व्याचष्टे—समानेति । समानश्चासौ धर्मश्चेति समानधर्मः युज्यतेऽनेनेति युक् समानधर्मस्य युगि समानधर्मयुक् तेन समानधर्मयोगेन साध्यः यः आरोपः प्रकृतारोपः तस्मात् समानधर्मयुक् साध्यारोपात्, सोपाधिकं = उपाधिना सहितं सोपाधिकम् सोपाधिकनामालङ्कारः । उदाहरणं यथा उत्सिक्तेति । कश्चित् कविः राजानं स्तौति—उत्सिक्ताः = उन्नताः, त्यक्तमर्यादाश्च ये क्षितिभृतः = समानपर्वता एव (राजान एव) तेषां लक्ष्यभूताः = शरव्यभूताः पक्षा एव पतत्राः पक्षा = सहायकाः तेषां छेदने पुरन्दर इव भवान् राजते । यथेन्द्रः समुन्नतपर्वतपक्षच्छेदने समर्थः तथैव भवानपि त्यक्तमर्यादानामुन्मत्तानां राज्ञां पक्षे सहायकभावेन स्थिता ये राजानः तानुन्मूलयितुः समर्थ इति भावः ।

अत्रोत्सिक्तत्वादिधर्मः पर्वते यथा वर्तते तथैव राजन्यपीति समानधर्मयोगेन राजनि पुरन्दरत्वारोपः । यद्वा पर्वते राजत्वारोपः तथात्रोत्सिक्तादि-समानधर्म-सम्बन्धेन राजनि पुरन्दरत्वारोपः सिद्धो भवतीति सोपाधिकरूपकम् ।

जहाँ साधरण धर्म के सम्बन्ध से प्रकृत आरोप सिद्ध हो वहाँ सोपाधिरूपक होता है । जैसे यह राजा ऊँचे-ऊँचे पर्वत रूपी राजाओं के सहायकों के उच्छेदन में समर्थ है । अर्थात् जिस प्रकार इन्द्र पर्वतों के पक्ष=पाँख काटने में समर्थ हैं वैसे ही यह राजा भी मदोन्मत्त शत्रुभूत राजाओं के सहायकों क उच्छेदन में समर्थ है ।

यहाँ उत्सिक्त (उन्मत, उन्मत्त) साधारण धर्म क्षितिभृत् पर्वत और शत्रुभूत राजा इन दोनों में रहने के कारण वर्णनीय राजा में इन्द्र का आरोप साध्य है । इसलिये यहाँ सोपाधिक रूपक है ।

विशेष—उदाहरण में घमण्डी साधारण धर्म है जो विरोधी राजाओं तथा पहाड़ों दोनों में पाया जाता है । इसी समानता के कारण इन्द्र से राजा का अभेद दिखाना संभव हो सका है । अतः यहाँ सोपाधिक रूपक सम्पन्न हो गया है ।

रूपक और सोपाधिक रूपक में अन्तर यह है कि साधारण धर्म के बाद रूपक आने पर सोपाधिक रूपक होता है । जबकि रूपक में उपमेय के बाद उपमान आता है ॥ १९ ॥

पृथक्कथितसादृश्यं दृश्यं सादृश्यरूपकम् ।
उल्लसत्पञ्चशाखस्ते राजते भुजभूरुहः ॥ २० ॥

अन्वयः—पृथक्कथितसादृश्यं दृश्यं सादृश्यरूपकम् (उदाहरणं यथा) उल्लसत्पञ्चशाखः ते भुजरुहः राजते ।

व्याख्या—सादृश्यरूपकमाचष्टे—पृथगिति। पृथक् = पृथक्पदेन कथितं = वर्णितं सादृश्यं = समानता यत्र तत् पृथक्कृतसादृश्यम् हृद्यं=रमणीयं, सादृश्यरूपकम् सदृशोर्भावः सादृश्यं सादृश्यं चेति तद् रूपकमिति सादृश्यरूपकम्=सादृश्यरूपकनामालङ्कारो भवति। यत्रारोप्यधर्माणां शब्दतो ग्रहणं तत्रेदम्। इदमेव च समस्तवस्तुविषयं सावयवं=साङ्गं रूपकमुच्यते।

उदाहरति—उल्लसदिति—हे राजन्! उल्लसन्त्यः=शोभमानाः पञ्च पञ्चसंख्याकाः शाखाः = अङ्गुलिरूपाः यस्मिन् स उल्लसत्पञ्चशाखः ते = तव भुज एव = बाहुरेव भूरुहः=वृक्षः इति भुजभूरुहः, राजते = शोभते।

अत्र भुजे तरुत्वारोपात्तरमेव पञ्चाङ्गुलिषु शाखात्वारोपणरूपसादृश्यस्य पृथगुक्तेः सादृश्यरूपकम्।

जहाँ उपमान तथा उपमेय इन दोनों का सादृश्य भिन्न-भिन्न पदों से कहा जाय वहाँ सादृश्य रूपक होता है। जैसे पाँच अँगुलिरूप शाखाओं से युक्त आपका यह हाथरूपी वृक्ष शोभा दे रहा है। यहाँ वृक्ष और शाखा का सादृश्य अलग-अलग पदों से बतलाया गया है। अतः यहाँ सादृश्य रूपक है।

विशेष—अन्य आचार्य इसे समस्तवस्तुविषयसावयव रूपक, साङ्गरूपक आदि कहते हैं।

यहाँ सादृश्य का कथन उल्लसत्पञ्चशाख पद से किया गया है, जो पृथक् है तथा भुज में भूरुह का आरोप सम्भव है। इसके विपरीत सोपाधिक रूपक में सादृश्य का कथन उपमान के पूर्व उसी पद में होता है। और सादृश्य के आधार पर उपमान की उपमानता सम्भव होती है। यही दोनों में अन्तर है ॥ २० ॥

स्यादङ्गयष्टिरित्येवंविधमाभासरूपकम् ।
अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—अङ्गयष्टिः इत्येवंविधम् आभासरूपकं स्यात्। अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम्।

व्याख्या—आभासरूपकरूपितरूपके व्याचष्टे—यदिति। अङ्गयष्टिः = अङ्गमेव शरीरमेव यष्टिः=यष्टिका इत्यङ्गयष्टिः इत्येवंविधं = इति प्रकारकम् आभासरूपकं= आभासरूपनामालङ्कारो भवति।

अत्राङ्गे योऽसौ यष्टित्वारोपः स न चेतश्चमत्कारमावहति केवललम्बायमानयष्टिधर्मस्यारोपात्, तस्य चात्राचारुतया रूपकस्याभास एव वर्तते, इतीदमाभासरूपकम्।

रूपितरूपकं तु अङ्गमेव यष्टिः अङ्गयष्टिः, धनुरेव वल्ली धनुर्वल्ली अङ्गयष्टिरेव धनुर्वल्ली इति अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादि रूपितरूपकम् ।

तच्च रूपकं रूपकान्तरसहिष्णु तदसहिष्णु चेति भेदाद् द्विविधम् । आद्यं यथात्रैव अङ्गयष्टिधनुर्वल्लीत्यादौ प्रथममङ्गे यष्टित्वारोपः, तदनु च तत्र धनुर्वल्लीत्वारोपः द्वितीयं यथा 'कुचकलश-कोकयुगलमित्यादौ एकरूपकस्यैव रम्यत्वात् ।

यदि इसी तरह अंग में छड़ी का आरोप किया जाय तो आभासरूपक होता है। इस प्रकार का आरोप चमत्कारजनक नहीं होता है, केवल शरीर की लम्बाई को देखकर उसमें लम्बायमान यष्टि का आरोप किया गया है। इसीलिए यहाँ रूपक केवल आभास मात्र है। इसीलिए इसे आभासरूपक कहते हैं। जहाँ आरोपित का आरोप किया जाय वहाँ रूपितरूपक होता है। जैसे 'अङ्गयष्टि-धनुर्वल्ली' यहाँ प्रथम अंग में यष्टि का आरोप और धनु में वल्ली का आरोप कर पुनः आरोपित अङ्गयष्टि में धनुर्वल्ली का आरोप किया गया है। अतः यहाँ रूपितरूपक हुआ।

विशेष—यहाँ परिभाषा न देकर उदाहरणों तथा पारिभाषिक नामों से ही समझने के लिए छोड़ दिया गया है। यहाँ आभास पद छाया के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस रूपक में उपमान का आभास उपमेय में होता है वहाँ आभासरूपक होता है। अङ्गयष्टि में उपमान यष्टि का पतलापन उपमेय अङ्ग में भी आभासित होने के कारण यहाँ आभास रूपक है।

यह कहना गलत है कि हेत्वाभास के समान यह रूपकाभास है। यदि रूपक नहीं है या केवल आभास मात्र होने से चमत्कार पूर्ण नहीं है, कहें तो भी उचित नहीं होगा, क्योंकि वैसी स्थिति में इसकी गणना अलंकार के अन्तर्गत नहीं सम्भव है ॥ २१ ॥

परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति ।
कान्तेन पृष्टा रहसि मौनमेवोत्तरं ददौ ॥ २२ ॥

अन्वयः—यस्मिन् अनयोः अभेदः पर्यवस्यति (तत्र) परिणामः (भवति, उदाहरति) रहसि कान्तेन पृष्टा उत्तरं मौनम् एव ददौ ।

व्याख्या—परिणाममाचष्टे—परिणाम इति । यस्मिन् अलङ्कारे, काव्ये वा अनयोः=उपमानोपमेययोः अभेदः—ऐक्यम् पर्यवस्यति=क्रियान्वये संभवति आरोप्यस्य आरोपविषयात्मनैव क्रियायामन्वयो जायते तत्र परिणामः=परिमाणालङ्कारो भवति ।

उदाहरति—कान्तेनेति । रहसि=एकान्ते कान्तेन=प्रियेण पृष्टा=जिज्ञासिता नायिका उत्तरं=प्रत्युत्तरं मौनमेव=शब्दराहित्यमेव ददौ=प्रदत्तवती । अत्रोत्तरे मौनत्वारोपः, मौनं च दानक्रियायां नान्वेति तस्योत्तरपदाभिन्नतयैव दानक्रियायामन्वयः । अतोऽत्र परिणामालङ्कारः ।

जहाँ उपमान और उपमेय का अभेदेन अन्वय हो वहाँ परिणामलङ्कार होता है। जैसे नायक से एकान्त में पूछे जाने पर नायिका ने मौन ही उत्तर दिया। यहाँ उत्तर में मौन का आरोप किया गया है। मौन वस्तु शब्दप्रतिपाद्य न होने से दान क्रिया में उसका अन्वय सम्भव नहीं। इसलिए उत्तर पद के साथ उसका अभेद भाव कर दान क्रिया में अन्वय करने से यहाँ परिणाम अलंकार हुआ।

विशेष—परिणाम अलंकार में उपमान और उपमेय को अभिन्न कर उपमेय द्वारा उपमान का उपयोग किया जाता है। उपमान और उपमेय के अभेद मात्र में रूपक का तात्पर्य रहता है। परिभाषा में पर्यवस्यति पद महत्त्वपूर्ण है, इसके कारण रूपक और परिणाम का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उपमेय और उपमान में भेद न होना और उस अभेद का क्रिया से सम्बन्ध होना इस अलंकार के लिए जरूरी है।

उदाहरण में उत्तर उपमेय और मौन उपमान है। यदि उत्तर मौन उत्तर ही मौन कहा जाता तो रूपक होता पर ददौ क्रिया के कारण उपमान मौन का अर्थ क्रिया के साथ तभी बैठेगा जब उपमेय उत्तर की मदद ली जाय या दोनों के अभेद के कारण क्रिया का अन्वय ठीक मान लिया जाय। उत्तर दिया जाता है, मौन नहीं पर चूँकि उत्तर और मौन एक ही वस्तु है (दोनों में अभेद है) अतः उत्तर मौन दिया जा सकता है। यों उपमान और उपमेय की एकता क्रिया की मदद से सम्भव होने के कारण परिणाम अलंकार है ॥२२॥

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता।
स्त्रीभिः कामः प्रियैश्चन्द्रः कालः शत्रुभिरैक्षि सः ॥ २३ ॥

अन्वयः—बहुभिः (कृतात्) बहुधा एकस्य उल्लेखात् उल्लेखिता मता। (उदाहरति) सः स्त्रीभिः कामः, प्रियैः चन्द्रः, शत्रुभिः कालः (च) ऐक्षि।

व्याख्या—बहुभिः=अनेकैः कृतात् बहुधा=अनेकैः प्रकारैः एकस्य=उपमेयस्य उल्लेखात्=निर्देशात् उल्लेखिता=उल्लिखिता नामालङ्कारः मता=इष्टा। अत्रालङ्कारो द्विधा, अनेकैरनेकधोल्लेखः एकः, एकेनानेकधोल्लेखे चापरः, उदाहरति यथा सः=वर्णनीयो राजा स्त्रीभिः=सुन्दरीभिः नारीभिः, कामः=साक्षात् मदन इति सुन्दरत्वात् प्रियैः=सुहृज्जनैः चन्द्रः=आह्लादकत्वात् शशाङ्कः शत्रुभिः=अरिभिः कालः=साक्षात् यमः भयंकरत्वात् ऐक्षि=दृष्टः। अत्रैकस्य राज्ञः स्त्री-प्रिय-शत्रुभिः कामत्व-चन्द्रत्व-कालत्वरूपानेकप्रकारकतयोल्लेखात् प्रथमः उल्लेखालङ्कारः। एकेन बहुधोल्लेखे द्वितीयभेदे तु—गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने। इत्युदाहरणं ज्ञेयम्। अत्रैक एव नृपतिः वचसि गुरुः=साक्षाद् बृहस्पतिः, कीर्तौ=यशसि अर्जुनः धवलः पार्थो वा शरासने=बाणसञ्चालने भीष्मः=भयंकरः भीष्मपितामहो वा। अत्रैककर्तृकानेकप्रकारस्योल्लेखात् द्वितीयोल्लेखालङ्कारस्येदमुदाहरणम्।

यदि एक वस्तु का अनेकों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन किया जाय तो उल्लेखालङ्कार होता है। जैसे—वर्णनीय राजा के सामने आने पर युवतियों ने उसके लोकोत्तर सौन्दर्य के कारण कामदेव की तरह, बन्धुओं ने आनन्द देने के कारण चन्द्रमा की तरह और शत्रुओं ने भय देने के कारण काल (मृत्यु) की तरह देखा। यहाँ राजा रूप एक ही वस्तु का अनेकों ने अनेक प्रकार से देखा। अतः यहाँ उल्लेखालङ्कार है।

विशेष—अन्य आर्यों ने इसे उल्लिताकार न कहकर उल्लेखालङ्कार कहा है। और इसके दो भेद किये हैं (१) जहाँ अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप से एक व्यक्ति का वर्णन करें, वहाँ उल्लेखालंकार का प्रथम भेद होता है। (२) या एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप से एक व्यक्ति का ही वर्णन करें तो वहाँ उल्लेखालङ्कार का दूसरा भेद होता है। प्रथम भेद का उदाहरण ऊपर निर्दिष्ट है, दूसरे भेद का उदाहरण यह है। 'गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने।' यह राजा बोलने में बृहस्पति के समान यश में बिलकुल निर्मल और बाण सन्धान में भीष्मपितामह के समान है। यहाँ एक व्यक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन किया गया है।

रूपक और परिणाम अलंकारों से इसमें अन्तर यही है कि उन दोनों में एक उपमान होता है। और उल्लेखालङ्कार में कई उपमान होते हैं ॥ २३ ॥

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अतथ्यम् आरोपयितुं तथ्यापास्ति अपह्नुतिः (भवति, उदाहरति) अयं सुधांशुः न, तर्हि किं व्योमगङ्गासरोरुहम्।

व्याख्या—अपह्नुतिं व्याचष्टे—अतथ्यमिति। अतथ्यम्=असत्यम्, आरोपयितुं= आरोपणार्थं तथ्यस्य सत्यस्य वस्तुनः, अपास्तिः=निषेधः इति तथ्यापह्नुतिः अपह्नुतिनामालङ्कारः। तथा च अतथ्यवस्त्वारोपनिमित्तिकतथ्यवस्तुनिषेधोऽपह्नुतिः। उदाहरणं यथा—नायमिति। चन्द्रं विलोक्य कश्चिद् ब्रूते—अयं पुरोदृश्यमानः पदार्थः सुधांशुः=चन्द्रो न, तर्हि किं=किमस्ति ? व्योमगङ्गाया आकाशगङ्गायाः सरोरुहं=कमलमस्ति। अत्र चन्द्रे अतथ्यं सरोरुहत्वरूपं वस्तु आरोपयितुं तथ्यस्य चन्द्रत्वरूपस्य वस्तुनो निषेधः कृतः। चन्द्रे मन्दाकिनी कमलत्वारोपफलकः तदीयधर्मस्य चन्द्रत्वरूपस्यापह्नवः। तथा च चन्द्रेऽतथ्यसरोरुहत्वारोपाय तथ्यस्य चन्द्रनिषेधादपह्नुत्यलङ्कारः सम्पन्नः।

जहाँ असत्य वस्तु का आरोप करने के लिए सत्य वस्तु का निषेध किया जाय, वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है। जैसे चन्द्रमा को देखकर कोई कहता है कि यह चन्द्रमा नहीं है, किन्तु आकाश गंगा में खिला हुआ कमल है। यहाँ सत्य वस्तु चन्द्रमा में असत्य वस्तु आकाश गंगा कमल का आरोप करने के लिए उसका निषेध किया गया है। इसलिये यहाँ अपह्नुति अलङ्कार हुआ।

विशेष—उपमेय सत्य होता है। उसका निषेध कर असत्य उपमान का आरोपणं करने से अपह्नुति अलंकार होता है। उदाहरण में चन्द्रमा का वर्णन है जो सत्य है, पर उसे निषिद्ध कर असत्य आकाश गंगा कमल का उसमें आरोप किया है।

अपह्नुति अलंकार में वस्तु का निषेध कवि कल्पित होता है, वास्तविक नहीं।

दण्डी, जयदेव और अप्पय-दीक्षित अपह्नुति को सादृश्य मूलक नहीं मानते, पर अन्य आचार्य इसे सादृश्य मूलक मानते हैं।

अपह्नुति का रूपक, परिणाम तथा उल्लेख अलंकारों से अन्तर यह है कि यहाँ उपमेय में उपमान का आरोप कर सत्य को छिपाया जाता है, किन्तु अन्य अलंकारों में नहीं।

अपह्नुति से मिलता-जुलता अलङ्कार व्याजोक्ति है, जिसमें उपमेय का कथन किया ही नहीं जाता, उसे छिपाने के लिये उपमान का नाम लिया जाता है, जबकि अपह्नुति में उप-मेय का नाम लेकर उसका निषेध किया जाता है ॥ २४ ॥

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते (तत्र) पर्यस्तापह्नुतिः (भवति, उदाहरणं यथा) अयं सुधांशुः न तर्हि किं प्रेयसीमुखं सुधांशुः (अस्ति)।

व्याख्या—यत्र=धर्मिणि धर्ममात्रं=केवलो धर्मं एव निषिध्यते=निह्नूयते तत्र पर्यस्तापह्नुतिः=पर्यस्तापह्नुत्यलङ्कारो भवति। धर्मिणि धर्मं निषिध्य तद्धर्म-स्यान्यत्रारोपः पर्यस्तापह्नुतिरिति भावः।

उदाहरति—नायमिति। अयं=पुरोदृश्यमानः सुधांशुः=शशी न, तर्हि किं= किमस्ति ? प्रेयसीमुखं=कान्तावदनं, सुधांशुः=चन्द्रोऽस्ति।

अत्र प्रकृतधर्मिणि सुधांशो सुधांशुत्वरूपधर्मं निषिध्य तद्धर्मस्य अन्यत्र प्रेयसी-मुखे सुधांशुत्वधर्मस्यारोपः। तद्धर्मस्य अन्यत्र धर्मण्यारोपाय प्रकृतधर्मिणि धर्म-निषेधात् पर्यस्तापह्नुतिरिति भावः।

जहाँ धर्मी के रहते हुए भी केवल उसके धर्ममात्र का निषेध किया जाय वहाँ पर्यस्ता-पह्नुति अलंकार होता है। जैसे—चन्द्रमा नहीं है, किन्तु प्रियतमा का मुख ही चन्द्रमा है। यहाँ वास्तविक चन्द्रमा में चन्द्रत्व निषेधपूर्वक उसका प्रियतमा के मुख में आरोप किया। अतः यहाँ पर्यस्तापह्नुति अलंकार है।

विशेष—जिस गुण से नाम पड़ता है उसे धर्म कहते हैं और जिसमें वह पाया जाता है उसे धर्मी कहते हैं। मनुष्यत्वगुण से मनुष्य नाम पड़ता है। अतः मनुष्यत्व और मनुष्य धर्म एवं धर्मी हैं। यहाँ सुधांशु के सुधांशुत्व का सामने दिख रहे चन्द्र से निषेध कर उस सुधां-शुत्व को अन्यत्र प्रेयसी मुख में दिखलाया गया है। अतः यहाँ पर्यस्तापह्नुति अलंकार है। पर्यस्त का अर्थ होता है हटाकर विपरीत में आरोपित करना। जहाँ धर्मी से धर्म हटाकर

विपरीत=उपमान में स्थापित किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। इसीलिए यह लक्षण स्पष्ट है—पर्यस्ता विपरीतधर्मा च सत्ता अपह्नुतिः च। मम्मटाचार्य—पण्डितराज जगन्नाथ ने पर्यस्तापह्नुति को अपह्नुति न मानकर रूपक माना है। अपह्नुति से इसका अन्तर यह है कि इसमें धर्मी का निषेधकर केवल धर्म का निषेध किया जाता है, जबकि अपह्नुति धर्मी का ही निषेध किया जाता है ॥ २५ ॥

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिर्णये।
शरीरं तव सोत्कम्पं ज्वरः किं न सखि स्मरः ॥ २६ ॥

अन्वयः—अन्यस्य शङ्कया तथ्यनिर्णये भ्रान्तापह्नुतिः (भवति, उदाहरणं यथा) तव शरीरं सोत्कम्पं किं ज्वरः ! न, स्मरः (अस्ति)।

व्याख्या—अन्यस्य=वस्त्वन्तरस्य उपमानस्य शङ्कया=सन्देहेन तथ्यनिर्णये=तथ्यस्य=तथ्यभूतस्य वस्त्वन्तरस्य निश्चये सति भ्रान्तस्य=भ्रमस्य अपह्नुतिः=अपास्तिः भ्रान्तापह्नुतिः=भ्रान्तपह्नुतिनामालङ्कारः। तथा च तत्त्वकथनहेतुकभ्रान्तिविषयनिषेधो भ्रान्तापह्नुतिः वस्त्वन्तरभ्रान्तिनिवारकत्वं भ्रान्तापह्नुतित्वमित्यर्थः।

उदाहरति—शरीमिति। नायिकायाः शरीरे तापमुपलभ्य स्मरादन्यतो ज्वरेऽपि तत्सम्भवात् भ्रान्त्या तं तज्जन्यमेव मन्यमाना ऋजुबुद्धिमती काचित् सखी तां पृच्छति—सखि! तव शरीरे=ते वपुषि सोत्कम्पं यथा स्यात्तथा सवेपथुः, अतस्ते ज्वरः=शीतज्वरः वर्तते किम् ? नायिकोत्तरयति आलि ! न ज्वरः=ज्वराख्यरोगो नास्ति, किन्तु स्मरः=कामो वर्तते।

अत्र सख्या नायिकायाः शरीरे सोत्कम्पं ज्वररोगः सन्दिग्धः, नायिकया च सखि! स्मर इति तत्त्वोक्त्या भ्रान्तिवारणं कृतमिति भ्रान्तापह्नुतिः।

एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की शंका उत्पन्न कर यदि वास्तविक वस्तु का निर्णय किया जाय तो उसे भ्रान्तापह्नुति कहते हैं। जैसे नायिका का काँपना देखकर कोई सखी उससे पूछती है कि क्या, तुझे जाड़ा देकर ज्वर आया है ? इस पर उसका यह उत्तर है कि नहीं, सखि! यह ज्वर नहीं है, किन्तु काम की करामात है।

यहाँ नायिका रूप एक पदार्थ में शीत ज्वर रूप अपर पदार्थ का संशय कर कामज्वर रूप वास्तविक वस्तु का निर्णय किया गया है। ज्वर का सन्देह दूर करने के लिए नायिका ने सखी से असली बात कह दी। इसलिए यहाँ भ्रान्तापह्नुति अलङ्कार है।

विशेष—अपह्नुति में सत्य छिपाकर असत्य की स्थापना की जाती है, किन्तु भ्रान्तापह्नुति में सत्य का उद्घाटन कर असत्य की शंका दूर की जाती है। इस तरह दोनों अलंकारों में विपरीतता है।

भ्रान्तस्य अपह्नुतिः, भ्रातापह्नुतिः इस विग्रह से भ्रान्त वस्तु=उपमान को छिपाना भ्रान्तापह्नुति अलंकार है।

आचार्य दण्डी ने इसे अपह्नुतिभेद न मानकर इसे तत्त्वाख्यानोपमा माना है ॥ २६ ॥

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किं न हि नूपुरः ॥ २७ ॥

अन्वयः—अन्यस्य शङ्कया तथ्यनिह्नवे छेकापह्नुतिः (भवति, उदाहरणं यथा) जल्पन् मत्पदे लग्नः किं कान्तः न (अपितु) नूपुरः ।

व्याख्या—अन्यस्य=अन्यपुरुषस्य शङ्कया=भीत्या तथ्यस्य=सत्यस्य निह्नवे = निराकरणे सति छेकापह्नुतिः—छेकः = विदग्धः तत्कृतापह्नुतिः छेकापह्नुतिः = छेकापह्नुतिनामालङ्कारो भवति । परभीतिहेतुकस्वतथ्यगोपनत्वं छेकापह्नुतित्वम् । काचन नायिका स्वां नर्मसखीं प्रति स्वरहस्यं ब्रूते—प्रजल्पन् = चाटुभाषणं कुर्वन् मत्पदे = मम चरणे लग्नः = पतितः इति । एवं वृत्तान्तं काचिदन्या श्रुत्वा पृच्छति-किं कान्तः पतितः ? तस्या भयेन सा स्वरहस्यगोपनाय प्रतिब्रूते, कान्तो नहि, किन्तु नूपुरः = मञ्जीरः पादकटको मत्पदे लग्नः ।

अत्रान्यभीत्या स्वकान्तपादपतनवृत्तान्तनिह्नवः । अर्थात् नायिकया नर्मसखीं प्रति प्रजल्पन् मत्पदे लग्न इति स्वनायकवृत्ते निगद्यमाने सति तदाकर्ण्य कान्तः किमिति शङ्कमानामन्यां प्रति नूपुर इत्यभिधाय निह्नवः कृत इति छेकापह्नुतिः ।

रहस्य की बात अन्य न जान जाय इस आशंका से जहाँ सत्य को छिपाया जाय वहाँ छेकापह्नुति हुआ करती है। जैसे कोई नायिका अपनी नर्मसखी से कहती है कि रात में खुशामद की बातें करता हुआ वह मेरे पैरों पर गिर गया, इस बात को किसी अन्य स्त्री ने सुनकर कहा—क्या प्रियतम तुम्हारे पैरों पर गिरे ! तब उसने उत्तर दिया कि प्रियतम नहीं, नूपुर ।

यहाँ अन्य सखी के भय से नायिका ने अपने पति के वृत्तान्त को छिपा लिया अतः यहाँ छेकापह्नुति है ।

विशेष—छेक का अर्थ चतुर है। उसके द्वारा प्रयुक्त की गयी अपह्नुति छेकापह्नुति होती है। यहाँ चतुर नायिका ने चतुरतापूर्वक तथ्य का गोपन कर अतथ्य की स्थापना की है। अतः छेकापह्नुति है।

भ्रान्तापह्नुति से यह उलटी है, पर अपह्नुति और इसमें भेद नहीं प्रतीत होता। भेद इतना ही किया जा सकता है कि चतुरता से प्रत्युत्पन्न मतित्व से पहले कहे गये विशेषण सिद्ध होते हुए तथ्य का निषेध और अतथ्य की स्थापना छेकापह्नुति है। तथा सामान्य रूप से तथ्य-निषेध और अतथ्य की स्थापना अपह्नुति है।

अप्पय दीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में उदाहरण का भाव बड़ी बारीकी से समझ कर किया है—किसी से कही गयी किसी की गुप्त बात दूसरे के द्वारा सुन ली जाने पर उसे दूसरे अर्थ में घटाकर जहाँ सत्य का गोपन किया जाता है वहाँ छेकापह्नुति होती है।

उदाहरण में नायिका अपनी नर्मसखी या विश्वसनीय सखी से प्रिय के द्वारा मनाने का वृत्तान्त कह रही थी कि सामान्य सखी ने जिससे यह बात छिपानी थी, सुन लिया, सत्य को छिपाकर असत्य स्थापित करने के लिए नायिका ने नूपुर की बात गढ़ दी ।। २७ ।।

कैतवापह्नुतिर्व्यक्ते व्याजाद्यैर्निह्नवे पदैः ।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥ २८ ॥

अन्वयः—व्याजाद्यैः पदैः निह्नवे व्यक्ते कैतवापह्नुतिः (भवति, उदाहरणं यथा) स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् निर्यान्ति ।

व्याख्या—कैतवापह्नुतिं व्याचष्टे—कैतवेति । व्याजाद्यैः=कपटच्छलछद्मादिभिः पदैः = शब्दैः निह्नवे = गोपने व्यक्ते = व्यञ्जया प्रतीते कैतवापह्नुतिः = कैतवापह्नुतिनामालङ्कारो भवति । तथा च कैतवादिपदव्यज्यमानत्वं तत्त्वमिति भावः ।

उदाहरति—निर्यान्तीति । स्मरस्य = कामस्य नाराचाः = बाणाः कान्तायाः= प्रियायाः दृक्पाताः = कटाक्षाः तेषां, कैतवात् = व्याजात् निर्यान्ति = निर्गच्छन्ति । अत्रासत्यत्वाद्विधायिना कैतवपदेन नेमे कान्ताकटाक्षाः, किन्तु स्मरबाणाः सन्तीति कान्ताकटाक्षाणां निह्नवो व्यज्यते इति कैतवापह्नुतिः ।

जहाँ कैतव, छल, व्याज आदि पदों से यथार्थ वस्तु का गोपन किया जाय, वहाँ कैतवापह्नुति नामक अलंकार होता है। जैसे—कामिनी के कटाक्ष के बहाने कामदेव अपने बाणों को बरसा रहा है। यहाँ कैतव पद के द्वारा कान्ता के कटाक्षों का गोपन किया है। इसलिए कैतवापह्नुति अलङ्कार है।

विशेष—उपमेय उपमान को प्रगट करना अपह्नुति है। वही यहाँ भी किया गया है। केवल छल, कैतव आदि पदों का प्रयोग आवश्यक है। यहाँ उपमेय कटाक्ष को कैतव पद से छिपाकर उपमान बाण को प्रगट किया गया है। कुवलयानन्द में हेत्वपह्नुति भेद आया है जो हेतु नामक लक्षण में अन्तर्भूत हो सकता है ।। २८ ।।

उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना ।
त्वन्मुखश्रीकृते नूनं पद्मैर्वैरायते शशी ॥ २९ ॥

अन्वयः—यत्र निह्नुतिं विना हेत्वादिः उन्नीयते (तत्र) उत्प्रेक्षा (भवति, उदहरणं यथा) शशी त्वन्मुखश्रीकृते नूनं पद्मैः वैरायते ।

व्याख्या—उत्प्रेक्षालङ्कारं व्याचष्टे—उत्प्रेक्षेति । यत्र = यस्मिन् स्थले निह्नुतिं = निषेधं गोपनं विना = ऋते हेत्वादिः = हेतु-फल-स्वरूपादिः उन्नीयते= उत्कटकोटिकसंशयविषयी क्रियते तत्र उत्=उर्ध्वदिग्गामिनी प्रेक्षा = दृष्टिः आकाशदिश्येव तिष्ठतीति व्युत्पत्त्या अन्वर्थैव उत्प्रेक्षा = उत्प्रेक्षानामालङ्कारो भवति । अयं भावः—यथा कश्चिज्जनः कमपि पदार्थं सम्भावयति तदा प्रायः तस्य दृष्टिः आका-

शदिषि एव तिष्ठतीति व्युत्पत्तिरस्या अन्वर्था । उदाहरति—शशी=चन्द्रः त्वन्मुखस्य =त्वदीयाननस्य श्रीकृते=लावण्यावाप्तये नूनं हि पद्मैः=कमलैः वैरायते=वैरं करोति ।

सा च हेतु-फल-स्वरूपभेदात् त्रिविधा । अत्र चन्द्रपद्मयोः विरोधः स्वाभाविकः, न मुखकान्तिलिप्साहेतुकः, तथापि तद्धेतुकत्वेन संभावनात् हेतूत्प्रेक्षा, अनयोः विरोधेऽफलस्यापि कान्तावदनकान्तिप्राप्तेः फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा, एवं वस्तुतो वैरकर्तृत्वेऽपि शशिनि पद्मसंकोचत्वनिमित्तेन वैरकर्तृतादात्म्योत्प्रेक्षणात् स्वरूपोत्प्रेक्षा ।

निषेध के बिना ही जहाँ कारण, फल और स्वरूप (वस्तु) में अतिशय संशय किया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। जैसे तेरे मुख की शोभा प्राप्त करने के लिए चन्द्रमा कमलों से शत्रुता करता है।

विशेष—इव, यथा, वा आदि पदों की सत्ता में अगूढ़ा (वाच्या) उत्प्रेक्षा होती है और इव, यथा आदि पदों के न होने पर गूढ़ा (प्रतीयमाना) उत्प्रेक्षा होती है। हेतु, फल और वस्तुगत दोनों ही उत्प्रेक्षा होती है। अतः इसके छ भेद होते हैं। जैसे—
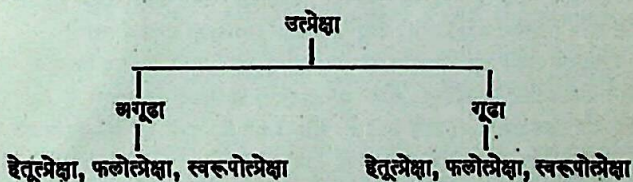
यहाँ चन्द्रमा और कमल का वैर स्वतः सिद्ध रहते हुए भी पद्मगत कान्तामुख शोभा प्राप्ति कारण के लिए उसे कहा। अतः यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। कान्तामुख-शोभा-प्राप्ति चन्द्रमा के वैर का फल न रहते हुए भी उसे फल कहना फलोत्प्रेक्षा है। चन्द्रोदय होने पर अपने आप ही पद्म संकुचित हो जाते हैं, उसी से चन्द्रमा को वैर कर्तृरूपत्व प्रतिपादित है। इसलिए वस्तूत्प्रेक्षा भी है। अगूढोत्प्रेक्षा का उदाहरण 'त्वन्मुखश्रीकृते' यही पद्य है। आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उपेक्षा व्यञ्जक शब्दों का इस प्रकार उल्लेख किया है।

'मन्ये, शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽतादृशः ॥' २ । २३४

अर्थात्—मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् और इव शब्द उत्प्रेक्षा के व्यञ्जक हैं। उक्त उदाहरण में नूनम् शब्द आने से अगूढा=वाच्या उत्प्रेक्षा है, उसे हटा देने पर गूढा हो जायेगी।

उत्प्रेक्षा का अर्थ उन्नयन (ऊपर ले जाना) है, जिसका स्वाभाविक अर्थ सम्भावना है। मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश में जो सम्भावना की परिभाषा दी है वह अधिक स्पष्ट

है। इसके अनुसार उपमेय में उपमान की सम्भवना की जाने पर उत्प्रेक्षा होती है। और यहाँ की परिभाषा के अनुसार हेतु, फल या स्वरूप की सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा होती है। उक्त-उदाहरण में हेतु की सम्भावना की गई है। चन्द्रमा के निकलने पर कमलों का विकास संकोच के रूप में बदल जाता है जिससे चन्द्रमा और कमल का वैर सिद्ध है। कान्ति की प्राप्ति के लिए यह वैर होगा यह सम्भावना की जाने से हेतूत्प्रेक्षा है।

उक्त उदाहरण से यह भाव निकाला जा सकता है कि चन्द्रमा ने कमलों से कलह कर उनमें विद्यमान कान्तामुख कान्ति छीन ली। वैसी स्थिति में कान्तिप्राप्ति वैर का फल ह गा, सम्भावना करने पर फलोत्प्रेक्षा हो जायेगी। चन्द्रमा के आते हो स्वभाविक रूप से कमल सिकुड़ जाता है। इस बात=वस्तु के आधार पर चन्द्रमा और कमल का वैर दिखलाया गया है। अतः वस्तूत्प्रेक्षा का भी यह उदाहरण हो सकता है।

इव उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों का वाचक है। जहाँ समान अर्थ निकले वहाँ उपमा और जहाँ मानों अर्थ निकले वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। उपमा में उपमान के प्रसिद्ध होने से समर्थ के लिए किसी विशेषण, उपवाक्य और वाक्य आदि की आवश्यकता नहीं होती। इसके विप्ररीत उत्प्रेक्षा के कवि कल्पित होने से विशेषण आदि की जरूरत पड़ती है। 'मुखं चन्द्र इव' उपमा का उदाहरण है, क्योंकि इसमें सम्भावना के लिए अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ा गया है। इसके विपरीत 'मुखमपरः चन्द्र इव' कहने पर उत्प्रेक्षा होगी क्योंकि अपर विशेषण कविकल्पना जन्य है। और सम्भावना प्रगट करता है।

उत्प्रेक्षा में उपमेय से उपमान की सम्भावना की जाती है, पर रूपक में उपमेय को उपमान ढक लेता है। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के मध्य यह अन्तर है कि उत्प्रेक्षा में उपमेय और उपमान दोनों दिये जाते हैं और पहले में दूसरे की सम्भावना की जाती है। जबकि अतिशयोक्ति में उपमान उपमेय को निगल जाता है। और स्वयं दोनों का कर्ता है। उसमें उसका प्रयोग ही नहीं होता। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा में उपमेय को देखकर उसकी प्रतीति की ओर ध्यान आकृष्ट न होकर उपमान की प्रतीति की ओर होता है। जबकि सन्देह में दोनों की ओर आकृष्ट होता है। अपह्नुति में निषेध होता है और उत्प्रेक्षा में नहीं, यही दोनों में अन्तर है ॥ २९ ॥

इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते।
त्वत्कीर्तिर्विभ्रमभ्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते (बुधाः, उदाहरति) विभ्रमभ्रान्ता त्वत्कीर्तिः स्वर्गनिम्नगां विवेश।

व्याख्या—गूढोत्प्रेक्षामाचष्टे—इवेति। इवादिकपदाभावे = इव-मन्ये-शङ्के-ध्रुवं-प्रायो-नूनमित्यादीनामुत्प्रेक्षावाचकानां पदानामभावे = अनुपातत्त्वे सति यत्र निह्नुतिं विना हेत्वादिसन्नीयते तत्र गूढोत्प्रेक्षा (प्रतीयमाना) भवति।

उदाहरति—त्वत्कीर्तिरिति। विभ्रमभ्रान्ता = सर्वलोकभ्रमणपरिश्रान्ता

त्वत्कीर्तिः = भवद्यशः स्वर्गनिम्नगां = स्वर्नदीं मन्दाकिनीं विवेश = प्रविष्टा, अत्रोत्प्रेक्षाद्योतकमिवादिपदं नास्तीति गूढोत्प्रेक्षा। सकलभुवनभ्रमणश्रान्तकीर्तेगङ्गावगाहनत्वमुत्प्रेक्षितम्। असन्नपि कीर्तेः श्रमः श्रमहेतूत्प्रेक्षित इति हेतूत्प्रेक्षा। कीर्तौ प्रवेशकर्तृतादात्म्योत्प्रेक्षणात् स्वरूपोत्प्रेक्षा। गङ्गावगाहनस्याफलस्यापि फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा।

इवादिप्रयोगे उपमापि सम्भवतीति तयोर्भेदः स्वयमूहनीयः।

जहाँ इव, मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः और नून आदि पदों के रहने पर भी हेतु, फल, स्वरूप गत संभावना की जाये वहाँ गूढोत्प्रेक्षा होती है। जैसे—हे राजन्! आपकी कीर्ति समस्त भुवनं में भ्रमण करने से श्रान्त होकर स्वर्ग गंगा में स्नान करने के निमित्त प्रविष्ट हुई। अर्थात् आप की कीर्ति स्वर्ग लोक तक पहुँच गयी। और जैसे अत्यन्त भ्रमण से थका हुआ प्राणी अपनी थकावट को दूर करने की दृष्टि से नदी का आश्रय लेता है वैसे ही समस्त भुवनों के भ्रमण से थकी आपकी कीर्ति मानो अपनी थकावट दूर करने के लिए आकाश गंगा में प्रवेश किया।

विशेष—यहाँ उत्प्रेक्षा का वाचक इव आदि कोई पद नहीं है। अतः गूढोत्प्रेक्षा है। कीर्ति निर्जीव पदार्थ है। अतः उसमें श्रम की सम्भावना न होने पर भी आकाश गंगा के स्नान को श्रम का कारण कहा। अतः हेतूत्प्रेक्षा है। कीर्ति में प्रवेशनकर्तृतादात्म्य को उत्प्रेक्षा करने से स्वरूपोत्प्रेक्षा है। गंगा में स्नान करना कीर्ति का फल न होते हुए भी उसे फल बताना फलोत्प्रेक्षा है।

भाव यह है कि आपकी कीर्ति स्वर्ग लोक में फैल गयी। जिस प्रकार थका आदमी स्नान कर थकावट मिटाता है वैसे ही चारों ओर भ्रमण से थककर आपकी कीर्ति ने आकाश गंगा में प्रवेश किया॥ ३०॥

स्यात्स्मृति-भ्रान्तिसन्देहैस्तदेवालङ्कृतित्रयम्।
पङ्कजं पश्यतस्तस्याः मुखं मे गाहते मनः॥ ३१॥
अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेद पङ्कजम्।
पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः॥ ३२॥

अन्वयः—स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहैः तदेव अलङ्कृतित्रयं स्यात्। (क्रमश उदाहरति) तस्याः मुखं पङ्कजं पश्यतः मे मनः गाहते। अयं प्रमत्तमधुपः त्वन्मुखं पङ्कजं वेद। पङ्कजं वा सुधांशुः वा (इति) निर्णयः अस्माकं तु न।

व्याख्या—स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहालङ्कारानाह—स्यादिति। स्मृतिश्च भ्रान्तिश्च सन्देहश्चेति स्मृतिभ्रान्तिसन्देहाः, तैः व्यवहर्तव्या हेतुभूतैः तदेव = स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहमिदमेव अलङ्कृतिकं = अलङ्कारत्रितयम् स्यात् = भवेत्।

क्रमेण एतान् उदाहरन् आदौ स्मृतिनामालङ्कारमुदाहरति—पङ्कजमिति—पङ्कजं = कमलं पश्यतः = अवलोकयतः मे मनः गाहते = पूर्वानुभूतायाः प्रियायाः मुखं प्रविशति, स्मरति। अत्र प्रियामुखसदृशपङ्कजावलोकनजन्यप्रियामुखस्मृतेः स्मृतिमदलङ्कारः।

भ्रान्तिमदलङ्कारो यथा—अयं = पुरोदृश्यमानः प्रमत्तमधुपः = उन्मत्तभ्रमरः त्वन्मुखं = त्वदीयाननम् पङ्कजं = कमलं वेद = जानाति। अत्र कमलमुखावलोकनजन्या प्रियाया मुखे तद्विपरीतता कमलप्रतीतिरूपा भ्रान्तिः।

सन्देहालङ्कारो यथा कान्तामुखं वीक्ष्य तत्कान्तो वदति यदिदं कान्तावदनं पङ्कजं = कमलं वा सुधांशुः = चन्द्रो वेति नास्माकं निर्णयः। अत्र कान्तानां वदने पङ्कजं सुधांशुः वेत्युभयकोटिकसंशयावगाहिज्ञानात् सन्देहालङ्कारः।

जहाँ किसी वस्तु के देखने पर तत्सदृश पूर्व परिचित वस्त्वाकार का स्मरण हो जाय वहाँ स्मृति भ्रम होने पर भ्रान्ति और सन्देह होने पर सन्देह इस तरह उक्त तीन अलंकार होते हैं। जैसे कमल को देखने पर मुझे अपनी प्रियतमा का मुख याद आता है। यहाँ कमलरूप वस्तु को देखकर तत्सदृशवस्त्वन्तर अपनी प्रियतमा को मुख की स्मृति होने से स्मृतिमान् अलंकार हुआ।

यह मदमत्त भ्रमर तेरे मुख को ही कमल जान रहा है। यहाँ मुख और कमल में अत्यन्त सादृश्य है। इसलिए भ्रमर को मुख में कमल की भ्रान्ति हो रही है। अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है।

कोई एक नायक अपनी प्रियतमा के मुख को देखकर कहता है—यह प्रियतमा का मुख कमल है या चन्द्रमा, इसका निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। यहाँ कमल और चन्द्रमा का सन्देह होने के कारण सन्देहालंकार है।

विशेष—उत्प्रेक्षा में संभावना होने से निश्चित ज्ञान नहीं होता, जबकि भ्रान्ति में निश्चित ज्ञान होता है, भले ही वह उलटा हो।

भ्रान्ति में भ्रम स्पष्ट होता है, जबकि अतिशयोक्ति में भ्रमवश अप्रस्तुत उपमान का वर्णन नहीं होता।

भ्रान्ति में अप्रस्तुत उपमान का ज्ञान होता है जबकि रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का।

भ्रान्ति में भ्रम के कारण किसी का ज्ञान नहीं होता जबकि मीलित में दो वस्तुओं के सदृश होने पर एक परिलक्षित नहीं होती।

कोटिद्वय अवलम्बी ज्ञान को सन्देह कहते हैं। उदाहरण में कमल और चन्द्रमा दो कोटियाँ (पक्ष हैं) और दोनों का ज्ञान हो रहा है, निश्चय नहीं हो पा रहा है कि कौन ज्ञान ठीक है और कौन गलत, या दोनों ही ठीक हैं। समान वस्तुओं के होने पर ही सन्देह हो सकता है॥ ३१-३२॥

मीलितं बहुसादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते ।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ॥ ३३ ॥

अन्वयः—बहुसादृश्यात् चेत् भेदवत् न लक्ष्यते (तदा) मीलितं (भवति, उदाहरति) सहजारुणे चरणे लाक्षाया रसो न अलाक्षि ।

व्याख्या—मीलितमाह—मीलितमिति । बहुसादृश्यात् = अत्यन्तसाम्यात् चेत् = यदि भेदवत् = उपमानं न लक्ष्यते = पृथक्तया न प्रतीयते तदा मीलितं = मीलितनामालङ्कारो भवति । उदाहरति—रस इति । सहजारुणे = स्वभावत एव रक्ते कान्तायाश्चरणे लाक्षायाः = अलक्तस्य रसः = रञ्जनं नालक्षि = न दृष्टः । अत्र लाक्षागतारुणिमगुणमपेक्ष्य तदुत्कृष्टेन सहजेन चरणगतारुणिम्ना उपमानम् तस्य लाक्षारसस्य भेदानध्यवसायात् मीलितालङ्कारः ।

अत्यन्त सादृश्य के कारण जहाँ उपमान की पृथक् प्रतीति न होती हो वहाँ मीलित अलंकार होता है । जैसे—प्रिया के स्वाभाविक अतिरक्त चरण में लाक्षरस की रक्तिमा पृथक् प्रतीत नहीं होती । यहाँ उपमेयभूत चरणों की रक्तिमा और उपमानभूत लाक्षारस की रक्तिमा दोनों अत्यन्त सदृश है । इसलिए पृथक्तया प्रतीति नहीं होती । इस कारण यहाँ मीलित अलङ्कार है ।

विशेष—भेद का निश्चय न होना मीलित है । मीलित का शाब्दिक अर्थ विलीनता है । चरण स्वाभाविक रूप से लाल है । अतः महावर का रंग उसमें विलीन हो गया । उपमेय में उपमान की विलीनता होने पर यह अलङ्कार होता है ।

चरण की लालिमा उपमेय और लाक्षारस की अरुणिमा उपमान है । उपमेय के प्रबल होने से उपमान का विलय हो गया ।

मीलित और व्याजोक्ति दोनों में कोई वस्तु छिप जाती है, किन्तु मीलित में समान रंग के कारण छिपती है और व्याजोक्ति में मिथ्या के द्वारा केवल कारण छिपाया जाता है । मीलित और अपह्नुति दोनों में गोपन होता है; पर पहले में—रंग समान होने के कारण गोपन स्वाभाविक होता है । और दूसरे में प्रयत्नपूर्वक होने से कृत्रिम । मीलित में उपमेय की उत्कृष्टता दिखाई जाती है जबकि अपह्नुति में समानमात्र ।

मीलित और सामान्य अलंकार लगभग एक-से हैं । पहले में उपमेय में उपमान के विलीन होने से एक उपमेय ही परिलक्षित होता है, जब कि दूसरे में उपमेय और उपमान दोनों स्पष्ट दीखते हैं । किन्तु भेद का पता नहीं चलता । इसके अतिरिक्त मीलित में उपमेय उपमान से उत्कृष्टतर सिद्धतर होता है जबकि सामान्य में दोनों समान हैं । मीलित में भेदवाली वस्तु या व्यक्ति उपमान का पता नहीं चलता जबकि सामान्य में विभेदक धर्म दिखता ही नहीं ॥ ३३ ॥

सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सादृश्यात् यदि भेद एव न लक्ष्यते (तर्हि) सामान्यम् (भवति, उदाहरति) पद्माकरप्रविष्टानां सुभ्रुवां मुखं न अलक्षि ।

व्याख्या—सामान्यं व्याचष्टे—सामान्यमिति । सादृश्यात् = साम्यात् यदि = चेत् भेदः = विभेदको धर्मः न एव लक्ष्यते=दृश्यते तर्हि सामान्यं = सामान्यालङ्कारो भवति । तथा च यत्रोपमानोपमेययोः परमसाधर्म्येण कोऽपि विशेष एव न लक्ष्यते तत्र तदिति फलितार्थः ।

उदाहरति—पद्माकरेति । पद्माकरप्रविष्टानां=कमलनिवहस्थितानां सुभ्रुवां = सुन्दरीणां मुखं = वदनं नालक्षि = न दृष्टम् । अत्र कमलकामिनीमुखयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदो न प्रतीयते । मिलितालङ्कारे उपमेयेन सहोपमानस्य भिन्नस्वरूपानवभासरूपं मीलनं क्रियते । अत्र तु भिन्नस्वरूपावभासेऽपि व्यावर्तकधर्मविशेषो नोपलक्ष्यते इत्यनयोर्भेदः ।

समानता के कारण जहाँ भेद प्रतीति ही न होती हो वहाँ सामान्य अलङ्कार होता है। जैसे कमलों में प्रविष्ट कान्ताओं का मुख नहीं पहचाना गया। यहाँ कमल और कान्ता मुख इन दोनों की भिन्न-भिन्न प्रतीति समानता के कारण नहीं होती। इसलिए यहाँ सामान्य अलंकार हुआ।

विशेष—सादृश्य की अधिकता से उपमेय और उपमान के अलग-अलग दिखने पर भी दोनों में क्या भिन्नता है इसका पता न लगना सामान्यालंकार है। सामान्य का अर्थ है समान होना जिससे परिभाषा अपने आप निकल आती है। उदाहरण के अनुसार स्नान के लिए तालाब में घुसी हुई सुन्दरियों का मुख कमलों के बीच अलग-अलग दिखने पर भी भेद का पता न चल पाया। यहाँ कमल और मुख इन दोनों में अति-सादृश्य के कारण दोनों में भेद नहीं मालूम पड़ा।

मीलित अलंकार में एकता के कारण उपमान के स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। यहाँ तो दोनों वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। अभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है। यह इन दोनों में भेद है॥ ३४॥

हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम् ।
लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च॥ ३५॥

अन्वयः—कुतः अपि हेतोः वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिः उन्मीलितं मतम् (प्राज्ञैः, उदाहरति) चन्द्रे उदिते पद्मानि च मुखानि च लक्षितानि ।

व्याख्या—उन्मीलितं व्याचष्टे—हेतोरिति । कुतोऽपि = कस्मादपि हेतोः = वैशिष्ट्यात् विलक्षणत्वात् स्फूर्तिः = उपमानोपमेययोः भेदज्ञानम्, उन्मीलितं मतम्= उन्मीलिताख्योऽलङ्कारः । उपमानादुपमेयोत्कर्षज्ञानाधायकहेतुकथनं चन्द्रोदये

कमलेषु सङ्कोचमञ्चत्सु सत्सु तदित्यर्थः। 'इमानि मुखानि, इमानि कमलानि' इति भेदोऽवगतः। उदाहरति—लक्षितानीति। चन्द्रे = शशिनि उदिते = आविर्भूते सति पद्मानि = कमलानि च मुखानि = वदनानि च लक्षितानि = भिन्नत्वेन दृष्टानि।

अति सदृश उपमान और उपमेय में किसी कारण से भेद प्रतीति हो जाय तो वहाँ उन्मीलित अलङ्कार होता है। जैसे चन्द्रोदय हो जाने पर कमल और मुख का भेद मालूम हो गया। अर्थात् चन्द्रमा के उदय हो जाने पर जब कमल संकुचित हो जाते हैं उस समय दोनों का भेद-ज्ञान स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसलिए यहाँ उन्मीलितालङ्कार है।

विशेष—उन्मीलित का अर्थ है उन्मीलन जो विलीनता का उलटा है। उदाहरण में चन्द्रोदय विशेष हेतु है जिससे पद्म और मुख जो अलग-अलग होते हुए भी समान दीखते थे, अब अलग-अलग दिखने लगे। चन्द्रोदय के कारण कमल सिकुड़ गये, पर मुख नहीं, जिससे दोनों में फरक मालूम हो गया।

इस अलंकार में उपमान की अपेक्षा उपमेय की श्रेष्ठता दिखाई जाती हैं, जिसमें उपमेय मुख की उपमान कमल की अपेक्षा श्रेष्ठता दिखाई गयी है, क्योंकि मुख सदा विकसित रहता है, पर कमल केवल सूर्य के उदय होने पर उदाहरण के अनुसार यह सामान्य अलङ्कार का विलोम है, पर परिभाषा के अनुसार यह मीलित और सामान्य दोनों अलंकारों का विलोम है।

कुवलयानन्द में इस अलंकार के स्थान पर दो अलंकार उन्मीलित तथा विशेषक बताये गये हैं। और उक्त उदाहरण विशेषक का दिया गया है। दोनों में नाम मात्र का अन्तर है।

हेतु शब्द विशेष परिस्थिति या संयोग के लिए आता है। यहाँ वैशिष्ट्यात् का अर्थ उपमेय की विशेषता होने पर भी लग सकता है॥ ३५॥

> अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम्।
> अस्ति किञ्चिद्यदनया मां विलोक्य स्मितं मनाक्॥ ३६॥

अन्वयः—कार्यादेः कारणाद्यवधारणं च अनुमानं (भवति, उदाहरति) यत् अनया मां विलोक्य मनाक् स्मितम् यत् किञ्चित् अस्ति।

व्याख्या—कार्यादेः=निमित्तात् कारणाद्यवधारणम्=कारणादीनामवधारणम् = निश्चयः, ज्ञानम् यत्र कार्येण कारणप्रतीतिः तत्र अनुमानं = अनुमानालङ्कारो भवति, यत् = यस्माद्धेतोः अनया = नायिकया मां विलोक्य मनाक् = ईषत् स्मितं हसितम्, तत् किञ्चित् = किमपि अस्ति। अस्या मनसि मद्विषयको भावो वर्तते इत्यर्थः।

अत्रास्मितरूपकार्येण तस्या अन्तःस्थितोऽभिलाषः कारणमनुमीयते इत्यनुमानालङ्कारः।

जहाँ कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जाय वहाँ अनुमान अलंकार होता है। जैसे यह नायिका मुझे देखकर हँसी। इसलिए इसके मनमें कोई बात अवश्य है। यहाँ हास्यरूप कार्य देखकर नायिका के हृद्‌गत कारण विशेष का अनुमान लगाया जाता है। अतः यहाँ अनुमान अलंकार है।

विशेष—जिस प्रकार नायिका मन्दहास रूप कार्य से उसके अन्तर्गत किसी कारण की प्रतीति अनुमान का लक्षण है उसी प्रकार अनुमान अलंकार का विषय है। उदाहरण में मुस्कराई कार्य है जिसका कारण अवश्य होना चाहिए कहकर अनुमान लगाया जा रहा है। यह कुछ हार्दिक प्रेम का द्योतक है। अनुमीयते इदं कार्यादि इत्यनुमानम् इस व्युत्पत्ति से अनुमान शब्द परिभाषा का बोध कराने वाला है। रुद्रट ने यह अलंकार कहा, पर भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने अपने ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं किया है ॥ ३६ ॥

अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्त्ता सरसीरुहाम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—(यत्र) पदार्थान्तरवर्णनम् स्वयम् सिध्येत् (तत्र) अर्थापत्तिः (भवति, उदाहरणं यथा) स इन्दुः त्वन्मुखेन जितः, सरसीरुहां का वार्ता।

व्याख्या—अर्थापत्तिं व्याचष्टे—अर्थापत्तिरिति। सः = सर्वलोकप्रसिद्धः उत्कृष्ट- इन्दुः त्वन्मुखेन जितः सरसीरुहां = कमलानां जयस्य वार्तैव का? सौन्दर्यं जगति सर्वोत्कृष्टे चन्द्रे जिते तज्जितात्यभयकृष्टानां पद्मानां जयस्तु अर्थवदेव सिद्ध इति भावः। अत्रेन्दुजयं वर्णयन् कमलविजयरूपं पदार्थान्तरवर्णनं स्वयं सिध्यति, तज्जेतुः चन्द्रस्य पराजयवर्णनादित्यर्थालङ्कारः। यथा पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति कथने देवदत्तस्य रात्रिभोजनमर्थादेव सिध्यति पीनत्वाऽन्यथानुपपत्तेः।

एक पदार्थ के वर्णन करने में जहाँ दूसरे पदार्थ का वर्णन अपने आप ही सिद्ध हो जाय वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है। जैसे हे प्रिये! तेरे मुख द्वारा जब चन्द्रमा ही जीत लिया गया तब कमलों पर विजय की बात ही क्या रह गयी, क्योंकि कमल-विजेता चन्द्रमा के जीत लेने पर कमलों पर विजय प्राप्ति अपने आप सिद्ध हो गयी। यहाँ चन्द्र विजय के दूसरे पदार्थ कमल विजय का वर्णन स्वतः सिद्ध हुआ। इसलिए अर्थापत्ति अलंकार है।

विशेष—यहाँ अर्थ का अर्थ वस्तु आपत्ति का अर्थ आगमन है। जहाँ अपने आप कोई बात आ जाय वहाँ अर्थापत्ति होती है। नाम करीब-करीब अन्वर्थ ही है।

इस उदाहरण में कमल तो बुरी तरह पराजित हुए जिन कमलों का विजेता चन्द्र तक हार गया इस अन्य पदार्थ का वर्णन, एक पदार्थ वह चन्द्रमा तुम्हारे मुख से पराजित हो गया का वर्णन करने पर अपने आप सिद्ध हो गया। अतः अर्थापत्ति है। जब सबसे सुन्दर कमल को मलिन कर देने वाला चन्द्रमा तक हार गया तो कमल तो हार ही जायेंगे। इस प्रकार अर्थापत्ति होती है। इसी को कौमुतिक न्याय, तथा दण्डापूपिक न्याय से सिद्ध होना कहा जाता है ॥ ३७ ॥

स्यात् काव्यलिङ्गं वागर्थो नूतनार्थसमर्पकः।
जितोऽसि मन्दकन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—यत्र नूतनार्थसमर्पकः वागर्थः तत्र काव्यलिङ्गं स्यात्। हे मन्दकन्दर्प (यतः) मच्चित्ते त्रिलोचनः (अस्ति अतः त्वम्) जितोऽसि।

व्याख्या—यत्र नूतनार्थसमर्पकः = नूतनस्य = नवीनस्य अर्थस्य समर्पकः = बोधकः वागर्थः = वाक्यार्थपदार्थान्यतररूपः वाच्य एव वाक्यार्थः पदार्थो वा स्यात् = भवेत् तत्र काव्यलिङ्गम् = काव्यलिङ्गनामालङ्कारः।

उदाहरति—जितोऽसीति। हे मन्दकन्दर्प ! = मतिमन्द कामदेव ! यतः मच्चित्ते = मम मनसि त्रिलोचनः = त्रिनयनः रुद्रः (अस्ति = वर्त्तते अतस्त्वं) जितोऽसि = विजितोऽसि। अत्र मच्चित्ते त्रिलोचनोऽस्तीति वाक्यार्थेन कामदाहक-रुद्रतृतीयनेत्ररूपनवार्थप्रतीतिर्जायते इति वाक्यार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः।

जहाँ नया अर्थ बोध कराने वाला पदार्थ या वाक्यार्थ हो, वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है। जैसे—हे मूढ़ कामदेव ! मेरे मानसमन्दिर में त्रिलोचन भगवान् रुद्र विराजमान हैं। अतः मैंने तुझे जीत लिया है। क्या तुझे यह मालूम नहीं है ? यहाँ मेरे हृदय में त्रिलोचन हैं। इस वाक्य से कामदाहक शङ्कर के तृतीय अग्निमय नेत्र रूपी नये अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। मन्मथ का विजय करना अति कठिन कार्य है। अतः उसके जीतने का उसीके विजेता भगवान् शङ्कर की भक्ति द्वारा समर्थन किया गया है। अतः यहाँ वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग अलङ्कार हुआ।

विशेष—अलंकार का नाम काव्यलिंग अन्वर्थ है। काव्यस्य लिङ्गं=हेतुः इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है काव्य का हेतु।

उदाहरण में मेरे हृदय में त्रिलोचन रुद्र हैं यह वाक्य एक नवीन अर्थ देता है कि कामदेव मेरे हृदय के अन्दर वर्तमान रुद्र के तीसरे नेत्र से भस्मसात् हो जायेगा। जिस हेतु से साध्य का अनुमान किया जाता है उसे नैयायिक लिंग कहते हैं। साध्य वस्तु वह है जिसकी सिद्धि अनुमान आदि प्रमाणों से की जाती है। उदाहरण में 'जितोऽसि मन्दकन्दर्प' इस वाक्य का समर्थन 'मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' इस वाक्य से किया गया है।

काव्यलिंग में काव्य इस बात का द्योतक है कि तर्क शास्त्र के लिंग की अपेक्षा 'तर्कवैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम्' इसका तात्पर्य यह है कि न्यायशास्त्र में साध्यकी सिद्धि के लिए, व्याप्ति, पक्षधर्मता की जो अनिवार्यता बताई गयी है, उसकी आवश्यकता काव्यलिंग अलंकार में नहीं होती। इसका स्पष्टीकरण कुवलयानन्द में किया गया है।

व्याप्तिपक्षधर्मतादि-सापेक्षनैयायिकाभिमत-व्यावर्तनाय काव्यविशेषणम्। काव्यलिंग में हेतु को पञ्चमी, हेतु, यतः आदि शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया गया है।

अनुमान का हेतु ज्ञापक होता है, मुस्कान प्रेम का सूचक या ज्ञापक है, जबकि काव्य-लिंग में हेतु निष्पादक या साधक होता है। कामदेव जीत लिया गया है, इस वाक्य को

सिद्ध करने के लिए हृदय में रुद्र का होना बताया गया है। यही दोनों का उत्तर है। इसके अतिरिक्त अनुमान में यत् आदि के द्वारा कारण बताया जाता है, पर काव्यलिंग में ऐसा नहीं होता।

अन्तर—अर्थान्तर न्यास में हेतु दिया जाता है, पर सिद्ध करने वाला न होकर समर्थन करने वाला होता है, जबकि काव्यलिङ्ग में हेतु निष्पादक होता है।

काव्यलिंग में पदार्थ या वाक्यार्थ ही हेतु होता है, जबकि परिकर में विशेषण रूप पदार्थ या वाक्यार्थ की क्षमता हेतुभूत पदार्थ या वाक्यार्थ व्यञ्जित होता है ॥ ३८ ॥

अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—विशेषणे साभिप्राये (सति) परिकरः अलङ्कारः (भवति, उदाहरति) सुधांशुकलितोत्तंसः शिवः वः तापं हरतु।

व्याख्या—परिकरं व्याचष्टे—अलङ्कार इति। विशेषणे = भेदके साभिप्राये = अभिप्रायेण सहिते सति परिकरः = परिकरालङ्कारो भवति। उदाहरति—सुधांशु इति। सुधांशुना = चन्द्रेण कलितः = कृतः उत्तंसः = शिरोभूषणं येन स सुधांशुकलितोत्तंसः शिवः = शङ्करः वः = युष्माकं तापं = सन्तापं हरतु = दूरी करोतु।

अत्र 'सुधांशुकलितोत्तंसः' इति विशेषणे सुधांशोः शीतरश्मित्वात् तद्वति शिवे सन्तापशमकत्वस्यौचित्यं सूचितं भवतीति विशेषणस्य साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः।

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन से विशेषण का प्रयोग किया जाय वहाँ परिकरालङ्कार होता है। जैसे—चन्द्रशेखर भगवान् शिव आपके सन्ताप को दूर करें। अर्थात् अमृत बरसाने वाले चन्द्र अमृत वर्षा करें।

यहाँ 'सुधांशुकलितोत्तंसः' यह विशेषण भगवान् शङ्कर में तापशान्त करने वाली शक्ति के अस्तित्व को द्योतन करने के अभिप्राय से प्रयुक्त है। इसलिए यहाँ परिकरालङ्कार है।

विशेष—साभिप्राय का अर्थ है प्रसंग में उपकारक। उदाहरण में ताप को दूर करने के लिए शिवका विशेषण चन्द्र के शिरोलङ्कार युक्त दे देने से शिव की क्षमता निर्विवाद हो जाती है। चन्द्रमा अमृतमय होने से शीतल है। अतः तापका नाशक है। परिकरोति, प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः। सः अस्मिन्निति परिकरः इस व्युत्पत्ति से परिकर शब्द का अर्थ प्रासङ्गिक अर्थ के उपकारक विशेषण से युक्त कर लेने पर नाम से परिभाषा का बोध हो सकता है।

इस अलंकार में व्यंग्य वाच्यार्थ का परिकर (उपकारक) होता है। अतः ध्वनि नहीं है। हेतु अलंकार में विशेषण बोधक होता है और परिकर में वही व्यञ्जक। यही दोनों में अन्तर है।

परिकरांकुर में विशेष्य साभिप्राय होता है, जबकि परिकर में विशेषण। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज अनेक साभिप्राय विशेषणों के रहने पर ही परिकर मानते हैं॥ ३९॥

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥ ४०॥

अन्वयः—विशेष्ये तु साभिप्राये (सति) परिकराङ्कुरः भवेत् (उदाहरणं यथा) चतुर्भुजः देवः चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता अस्ति।

व्याख्या—परिकराङ्कुरं व्याचष्टे—साभिप्राय इति। विशेष्ये = वर्णनीये साभिप्राये=विशेषणाभिप्रायेण सहिते सति परिकराङ्कुरः एतन्नामालङ्कारो भवति। उदाहरति—चतुर्णामिति। चतुर्भुजो देवः = भगवान् विष्णुः चतुर्णां पुरुषार्थानां = धर्मार्थकाममोक्षरूपाणां दाता = प्रदाताऽस्ति। अत्र चतुर्भिर्भुजैः चतुर्णां धर्मार्थ-काममोक्षाणां पुरुषार्थानां युगपद्दाने सौकर्यस्वारस्याद् विशेष्यस्य चतुर्भुजपदस्य साभिप्रायता, तेनात्र परिकरालङ्कारः।

इसी तरह जहाँ विशेष्य का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया गया हो, वहाँ परि-कराङ्कुर अलंकार होता है। जैसे चतुर्भुज भगवान् नारायण चारों पुरुषार्थों को देने वाले हैं। यहाँ विशेष्य चतुर्भुज पद का प्रयोग इस अभिप्राय से किया गया है कि चार बाहु वाले वे एक ही समय में अपने चारों हाथों से चारों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को दे सकें। इसलिए यहाँ परिकराङ्कुर अलंकार हुआ।

विशेष—विशेषण के स्थान पर हो विशेष्य के प्रासङ्गिक अर्थ के उपकारक होने पर परिकराङ्कुर अलङ्कार होता है। उदाहरण में चतुर्भुज विष्णु के लिए रूढ़ होने से विशेषण न होकर विशेष्य है, पर चार हाथ वाला यौगिक अर्थ होने से चार पुरुषार्थों में से एक-एक हाथ से अति शीघ्र देने की सामर्थ्य उनमें प्रतीत होती है, जो प्रस्तुत अर्थ का उपकारक है। पर्यायवाची शब्दों में से प्रासंगिक अर्थ के उपकारक शब्द के चयन से यह अलंकार आता है।

इस उदाहरण में यदि चतुर्भुज को विशेषण और देव को विशेष्य मान लें तो परिकर हो जायेगा॥ ४०॥

अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत्कार्यकारणे।
आलिङ्गन्ति समं देव ज्यां शराश्च पराश्च ते॥ ४१॥

अन्वयः—चेत् कार्यकारणे युगपत् स्तः (वर्ण्येते, तदा) अक्रमातिशयोक्तिः (भवति, उदाहरति) देव! ते शराः पराश्च ज्यां समं आलिङ्गन्ति।

व्याख्या—अक्रमातिशयोक्तिं व्याचष्टे—अक्रमेति। चेत् = यदि कार्यकारणे युगपत् = एककालमेव वर्ण्येते तदा अक्रमातिशयोक्तिः एतन्नामालङ्कारो भवति। उदाहरति—आलिङ्गन्तीति। हे देव! ते = तव शराः = बाणाः, पराः=शत्रवश्च

ज्यां = धनुर्गुणम् मौर्वीं भुवं च समं = युगपदेव आलिङ्गन्ति = समाश्रयन्ति। शतपत्रच्छेदनवत् शरारोपण-शत्रुमारण-कार्यकारणयोः समयः सूक्ष्मत्वान्न ज्ञायते।

जहाँ कार्य और कारण एक ही समय में हों उसे अक्रमातिशयोक्ति कहते हैं। जैसे—हे राजन्! आपके बाण और शत्रु एक ही समय में ज्या (प्रत्यञ्चा और भूमि) का आलिङ्गन करते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रत्यञ्चापर आपका बाण चढ़ना और शत्रुओं का भूमि पर गिरना दोनों एक ही समय में होता है। यहाँ शत्रु का मरना कार्य है और प्रत्यञ्चा पर चढ़ना कारण है, इनका एक समय में होना ही अक्रमातिशयोक्ति है।

विशेष—अतिशयिता=प्रसिद्धिमतिक्रान्ता चासौ उक्तिश्चेति अतिशयोक्तिः इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रसिद्धि का उल्लंघन करने वाली उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं। इस प्रकार नाम सार्थक है। प्रसिद्धि का अर्थ सीमित है। कवि प्रसिद्धि का उल्लंघन करने पर दोष हो जायेगा। केवल लोक या शास्त्र की उन प्रसिद्धियों को ही उल्लंघन हो सकता है जो परम्परा से कवियों द्वारा उल्लंघित होती चली आ रही हैं।

यह प्रसिद्ध है कि कारण के बाद ही कार्य होता है, किन्तु यदि कार्य-कारण एक साथ दिखाये जायँ तो वह अक्रमातिशयोक्ति अलंकार होगा। उदाहरण में बाण का धनुष की डोरी का स्पर्श करना कारण और शत्रुओं का भूमि पर गिरना कार्य है, पर दोनों को साथ-साथ दिखाकर चमत्कारिक रूप से हाथ की स्फूर्ति दिखाई गई है। अक्रमातिशयोक्ति में अक्रम पद देकर यह संकेत किया गया है कि इसमें क्रम का अभाव है। यह क्रमाभाव कार्य और कारण में उलटफेर है।

जब उपमान उपमेय को निगल जाता है, तब अतिशयोक्ति होती है। जैसे—'चन्द्र को देखो' इस उदाहरण में मुख की ओर इशारा कर उसे चन्द्र कहा गया है। इस प्रकार उपमेय मुख का उपमान चन्द्र निगल गया है। किन्तु इस ग्रन्थ में अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण नहीं दिया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अतिशय की परिभाषा विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का निगरण (निगल जाना) दी है और अतिशय की उक्ति को अतिशयोक्ति माना है। दण्डी ने अतिशयोक्ति को अलंकारोत्तमा विशेषण से विभूषित किया है। कवि-वर्णन तभी चमत्कारिक होता है जब किसी न किसी रूप से उसमें अतिशयोक्ति का समावेश किया गया हो। सारा काव्य अतिशयोक्ति की नींव खड़ा करता है। यदि काव्यजगत से अतिशयोक्ति हटा दी जाय तो सामान्य भाषा और काव्य भाषा में कोई अन्तर न रह जाय। जहाँ उपमा की प्रशंसा उसके अनेक अलंकारों का मूल होने के कारण की गई है वहाँ, अतिशयोक्ति को काव्य का सर्वस्व कहा गया है॥ ४१॥

अत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे ।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा॥ ४२॥

अन्वयः—तत्पौर्वापर्यव्यतिक्रमे (सति) अत्यन्तातिशयोक्तिः (भवति, उदाहरति) मानः अग्रे गतः पश्चात् सा प्रियेण अनुनीता।

व्याख्या—अत्यन्तातिशयोक्तिं व्याचष्टे—अत्यन्तेति। पूर्वं च अपरं चेति पूर्वापरेतयोर्भावः पौर्वापर्यं तयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यं = पूर्वापरीभावः तस्य व्यतिक्रमः = अतिलङ्घनं तस्मिन् पौर्वापर्यव्यतिक्रमे सति अत्यन्तातिशयोक्तिः = एतन्नामालङ्कारो भवति। तथा च यत्र कार्यकारणयोः प्रसिद्धः पौर्वापर्यव्यतिक्रमस्तत्र सेति फलितार्थः।

उदाहरति—अग्र इति। मानिन्या मानः = कोपः अग्रे = प्रागेव गतः = नायकं प्रति नष्टः पश्चात् = अनन्तरम् सा = नायिका प्रियेण = प्रियतमेन पत्या सुरतार्थम् अनुनीता = प्रार्थिता। अत्र अनुनयो मानापमानादनस्य कारणं मानापनोदनं च कार्यं तु कारणात् पूर्वमेव जातम्। तथा च मानवत्या नायिकाया मानापनोदनकार्यं प्रति कारणस्य तत्प्रियकर्तृकानुनयस्य पश्चाद् भावित्ववर्णनात् कार्यकारणयोः पौर्वापर्यव्यतिक्रमप्रयुक्तात्यन्तातिशयोक्तिः।

पहले कार्य होता है, बाद में कारण, यह सार्वत्रिक नियम है, किन्तु जहाँ कारण के पूर्व ही कार्य का वर्णन किया जाय वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे—मानिनी नायिका का मान पहले गया, पीछे उसके प्रिय पति ने उसे मनाया।

यहाँ प्रिय के द्वारा अनुनय-विनयपूर्वक मानिनी को मनाना कारण है और मानिनी का अभिमान मिट जाना कार्य है। इस प्रकार कार्य के पूर्व कारण का वर्णन होना उचित है, परन्तु यहाँ उसके विपरीत वर्णन किया गया है। अतः अत्यन्तातिशयोक्ति अलङ्कार है।

विशेष—कारण हमेशा कार्य के पहले होता है, किन्तु कभी शीघ्रता आदि से कार्य का होना दिखाने के लिए कारण को कार्य के बाद दिखाते हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्तातिशयोक्ति होती है। कारण का कार्य के बाद होना असंभव होते हुए भी काव्य में चमत्कारी अर्थ पैदा कर देता है।

उदाहरण में कारण और कार्य क्रमशः अनुनय और मानभंग है, पर अनुनय पहले नहीं किया गया, उसके पहले ही मान भंग हो गया। यदि कारण बाद में न दिया जाता तो संयोग से हुआ ऐसा कहा जा सकता था।

अक्रमातिशयोक्ति में क्रम नहीं रहता, कार्य और कारण दोनों साथ-साथ आते हैं जबकि अत्यन्तातिशयोक्ति में क्रम रहता है, पर उलटा होता है॥ ४२॥

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।
यामीति प्रियपृष्टाया वलयोऽभवदूर्मिका॥ ४३॥

अन्वयः—हेतुप्रसक्तिजे कार्ये सति चपलातिशयोक्तिः (भवति, उदाहरति) यामि इति प्रियपृष्टायाः ऊर्मिका वलयः अभवत्।

व्याख्या—चपलातिशयोक्तिमाह—चपलेति। हेतोः=कारणस्य प्रसक्तिः=प्रसङ्गः

उल्लेखमात्रं वा तज्जे = तज्जन्ये हेतुप्रसक्तिजे कार्ये सति चपलातिशयोक्तिः = एतन्नामालङ्कारो भवति। यत्र हेतुज्ञानमात्रेण कार्योत्पत्तिर्जायते तत्र सेति फलितार्थः।

उदाहरति—यामीति। यामि = अहं प्रवासं गच्छामि प्रियेण=पत्या पृष्टायाः= अभिहिताया नायिकाया ऊर्मिका = अङ्गुलीयकम्, वलयः = कङ्कणं, करभूषणम् अभवत् = प्रजायत।

अत्र प्रियप्रवासगमनश्रवणमात्रेण विरहतापसन्तप्ताया नायिकायाः कार्श्योदयाद् अङ्गुलीयकं करकङ्कणं बभूवेति प्रवासप्रस्तावश्रवणमात्रेण कारणेन दौर्बल्यातिशयकार्योत्पत्तेः, अङ्गुलीयकस्य कङ्कणपदप्राप्तिवर्णनाच्चपलातिशयोक्तिः।

कारण के कथनमात्र से जहाँ कार्य उत्पन्न हो, वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है। जैसे किसी नायिका के पूछने पर नायक के इस कथन मात्र से कि मैं विदेश जा रहा हूँ। उसकी अङ्गुलि की अँगूठी हाथ का कड़ा बन गयी। तात्पर्य यह है कि नायक का परदेश जाना सुनने के साथ ही वह सूखकर इतनी दुबली हो गयी कि उसकी अँगूठी कड़े की तरह हाथ में आने लगी।

यह पति के परदेश गमन कारण के कथन मात्र से विरहावस्था से कृशतारूप कार्य की उत्पत्ति वर्णित है। इसलिए चपलातिशयोक्ति अलङ्कार है।

विशेष—कारण से कार्य होता है। कारण के सन्दर्भमात्र आने से नहीं, पर काव्य में कारण के सन्दर्भ मात्र से ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में चपलातिशयोक्ति अलंकार होता है। उदाहरण में कार्य अँगूठी का कंगन बन जाना और इसका कारण प्रिय प्रवास की सूचनामात्र है, अभीप्रिय गया नहीं।

उदाहरण का भाव यह है कि भविष्य के विरह की संभावना मात्र से नायिका इतनी दुबली हो गयी है कि अँगूठी ढीली होकर कंगन की तरह बड़ी पड़ रही है। यह अतिशयोक्ति भी कार्य की शीघ्रता के कथन से चमत्कार लाने के लिये है।

इस अलंकार में कारण और कार्य का क्रम ठीक है, पर कारण का प्रसंग (उल्लेख) आते ही कार्य अतिशीघ्रता से हो जाता है यही बात अन्य अतिशयोक्तियों से भिन्न है ॥ ४३ ॥

सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यात्तदभावेऽपि तद्वचः।
पश्य सौधाग्रसंसक्तं विभाति विधुमण्डलम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तदभावेऽपि तद्वचः सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यात् (उदाहरति) पश्य विधुमण्डलं सौधाग्रसंसक्तं विभाति।

व्याख्या—सम्बन्धातिशयोक्तिमाचष्टे—सम्बन्धेति। तदभावेऽपि—तस्य = सम्बन्धस्य अभावे = विरहे अपि तदयोगेऽपि तस्य = सम्बन्धस्य वचः = वचनमिति तद्वचः सम्बन्धातिशयोक्तिः। तन्नामालङ्कारो भवति। असम्बन्धे सम्बन्धकथनं सम्बन्धातिशयोक्तिः पश्य = विलोकय विधुमण्डलं = चन्द्रमण्डलं, शशिबिम्बं

सौधाग्रे = हर्म्याग्रे ससक्तं = संलग्नं सत् विभाति = शोभते। इति नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः।

अत्र सौधाग्रस्याभ्रङ्कषत्ववर्णने कविना विधुमण्डलस्य सुधानिर्मितगृहशिखर-सम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धस्य कथनात् सम्बन्धातिशयोक्तिः।

असम्बन्ध में सम्बन्ध का कहना सम्बन्धातिशयोक्ति है। जैसे कोई नायक अपनी नायिका से कहता है—देखो, राजभवन की अट्टालिका के अग्रभाग में स्थित चन्द्रमा शोभा दे रहा है।

यहाँ अट्टालिका के अग्रभाग में चन्द्रमा का सम्बन्ध न रहने पर भी उसके साथ सम्बन्ध दिखाने को सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

विशेष—जहाँ सम्बन्ध की गुञ्जाइश नहीं है वहाँ सम्बन्ध कहना गलत होगा, किन्तु वाक्य में चमत्कार लाने के लिए ऐसा वर्णन किया जाता है। ऐसी स्थिति में सम्बन्धाति-शयोक्ति अलङ्कार होता है।

उदाहरण में चन्द्रबिम्ब का राजमहल से सटना कहा गया है, जबकि वह उससे बहुत ऊँचे आकाश में है। यह महल की ऊँचाई को चमत्कारिक रूप से अधिक बताने के लिए चन्द्र का सम्बन्ध उसके अग्रभाग से जोड़ दिया गया है, जबकि सम्बन्ध असंभव है।

यहाँ नायक महल की छत पर उदित हुए चन्द्रमा को देखने का सङ्केत करते हुए नायिका से कहता है कि महल की छत पर उदित चन्द्रमा को देखो। यहाँ पर महल की ऊचाई के वर्णन प्रसंग में कवि ने चन्द्रमा का महल के साथ स्पर्श सम्बन्ध न होने पर भी उसका महल से सम्बन्ध बतलाया इसलिए यहाँ उक्त अलंकार है। सम्बन्ध होने पर सम्बन्ध का वर्णन तो उचित ही है, पर सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध कर देना इस अलंकार की विशेषता है॥ ४४॥

भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते।
अहो अन्यैव लावण्यलीला बालाकुचस्थले॥ ४५॥

अन्वयः—(यत्र) एकस्य एव अन्यता उच्यते चेत् (तदा) भेदकातिशयोक्तिः (उदाहरति) अहो बालाकुचस्थले अन्यैव लावण्य लीला (वर्तते)।

व्याख्या—भेदकातिशयोक्तिमाह—भेदकेति। यत्र एकस्यैव = सजातीय-पदार्थस्य, अन्यता = भिन्नता उच्यते = कथ्यते चेत् = यदि तदा भेदकातिशयोक्तिः। तथाऽत्र असति भेदे लोकप्रसिद्धपदार्थापेक्षया चमत्काराभिधायकं भेदकथनं भेद-कातिशयोक्तिः।

उदाहरति—अहो इति। अहो = आश्चर्यम् बालाकुचस्थले = बालाया कुचमण्डले अन्यैव = अपरैव, लोकप्रसिद्धेतरा लावण्यलीला = सौन्दयशोभा वर्तते, अत्र लोके-ऽन्यासां नायिकानां यज्जातीयं लावण्यं तज्जातीयमेव लावण्यमस्या अपि कुच-

कलशो इति लोकप्रसिद्ध लावण्याभेदेऽपि बालायाः कुचलावण्यस्य भेदकथनात् भेदकातिशयोक्तिः ।

एक ही पदार्थ को भिन्न रूप से वर्णन करना अर्थात् भिन्न न होते हुए भी भिन्न कहना भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे—बाला के कुचमण्डल की लावण्य लीला कुछ और ही है। अर्थात् अलौकिक है। यहाँ कुचमण्डल पर जो लावण्य है वह लोकप्रसिद्ध लावण्य-रूप पदार्थ से भिन्न नहीं है तथापि उसको अलौकिकत्वेन भिन्न वर्णन करना भेदकातिशयोक्ति है।

विशेष—भेद न रहने पर भी भेद दिखाना इस अलंकार की परिभाषा है। उदाहरण में जो बाला के स्तनों पर लावण्य लीला है वह एक ही प्रकार की है, जो लोक प्रसिद्ध है, पर भिन्न न होने पर भी सामान्य रूप से भिन्न दिखाया गया है, ऐसा सम्भव न होने पर भी कवि-जगत् में सम्भव और चमत्कार जनक माना गया है। 'अहो अन्यैव' इस स्थल पर अहो के बाद अ का पूर्व रूप होने से लोप होना चाहिए था, पर पाणिनीय सूत्र ओत् के अनुसार अव्यय ओ को प्रगृह्य संज्ञा की स्थिति आ गयी है। अतः सन्धि नहीं हो पाई है ॥ ४५ ॥

रूपकातिशयोक्तिश्चेद् रूप्यं रूपकमध्यगम् ।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—रूप्यं रूपकमध्यगम्, चेत् (तदा) रूपकातिशयोक्तिः (भवति, उदाहरति) शिताः शराः नीलोत्पलद्वन्द्वात् निःसरन्ति (इति) पश्य ।

व्याख्या—रूपकातिशयोक्तिं व्याचष्टे—रूपकेति । रूप्यं = उपमेयम्, विषयो वा रूपकमध्यगम् उपमानमध्यगं, विषयन्तःस्थितं वा चेत्तदा रूपकातिशयोक्तिः रूपकातिशयोक्त्यलङ्कारः भवति ।

उदाहरति—शिताः = तीक्ष्णा शराः बाणाः नीलोत्पलद्वन्द्वात् = नीलकमल-मिथुनात् निःसरन्ति = निर्गच्छन्ति, नीलकमलसदृशकामिनीनेत्रयुगलात् अपाङ्ग-दृष्ट्यो निर्यान्तीति भावः ।

अत्र नेत्रकटाक्षरूपविषययोः नीलकमलशरविषयित्वरूपेण कार्यकारण भावकथनात् रूपकवाचिनीलोत्पलशरपदाभ्यामेव रूप्यवाचिनेत्रकटाक्षप्रतीतेः रूपकातिशयोक्तिः ।

जहाँ रूप्य (उपमेय) रूपक (उपमान) के मध्य में रहे वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है। अर्थात् यदि उपमेय उपमान के अन्तर्गत आ जाता है तो यह रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे देखो, नीलकमल युगल से पैने बाण निकल रहे हैं। यहाँ रूप्य नेत्र और कटाक्ष कमल और बाणरूपी रूपक के अन्तर्निहित है अतः उक्त अलंकार है।

विशेष—सामान्य रूप से अतिशयोक्ति से जो अर्थ निकाला जाता है वह रूपकातिशयोक्ति ही है। जिसमें उपमान उपमेय को इस तरह निगल जाता है कि वही उप-

मान स्वयं उपमेय का काम करता है। उदाहरण में नीलकमल आँखों के लिए और बाण कटाक्षों के लिए आये हैं। ये दोनों उपमान हैं और उपमेय के अर्थ का भी बोध कराते हैं। इसे सबसे महत्त्वपूर्ण मानकर कुवलयानन्द ने सबसे पहले दिया है। इसके विपरीत यहाँ चन्द्रालोक में यह भेद सबके अन्त में आया है ॥ ४६ ॥

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् ।
कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनं प्रौढोक्तिः (भवति, उदाहरति) कलिन्दजातीररुहाः सरलद्रुमाः श्यामलाः ।

व्याख्या—प्रौढोक्ति व्याचष्टे—प्रौढोक्तिरिति । तदशक्तस्य = तत्र असमर्थस्य तच्छक्तत्वावकल्पनं = तत्र सामर्थ्यवर्णनं प्रौढोक्तिः = प्रौढोक्तिनामालङ्कारो भवति । उदाहरति—कलिन्दजायाः = यमुनायाः तीरे = तटे रोहन्तीति कलिन्दजातीररुहाः = यमुनतटोत्पन्नाः सरलद्रुमाः = सरलाभिधदेवदारुवृक्षाः श्यामलाः = नीलाः भवन्ति । कालिन्दीतटोत्पन्नत्वादेषां श्यामलत्वमित्यर्थः । अत्र यमुनातटरोहस्य नैल्य-जननासामर्थ्येऽपि तत्समर्थत्वप्रतिपादनात् प्रौढोक्तिः । अयमलङ्कारो नालङ्कारान्तरम् अपितु अतिशयोक्तेरेव भेद इति मम्मटाचार्यः ।

जो जिसके असमर्थ है, उसको उसमें समर्थ कहना प्रौढोक्ति है। जैसे यमुना के तट पर उत्पन्न सरल वृक्ष नीले होते हैं। यहाँ यमुना के तट में यह सामर्थ्य नहीं कि वह अपने यहाँ नीले वृक्षों को उत्पन्न कर सके, फिर भी उसके नीले वृक्षों का उत्पादक कहना प्रौढोक्ति है।

विशेष—यमुना स्वयं नीली है, पर उसका किनारा वृक्षों को नीला बनाने में समर्थ नहीं लेकिन वहाँ उगे वृक्षों को नीला बताया है।

रामा टीका के कर्ता ने कहा है कि काव्य प्रकाश के अनुसार यह भिन्न अलंकार न होकर अतिशयोक्ति का ही भेद है, पर काव्य प्रकाश में इसका कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

श्यामल सरल वृक्षों का सम्बन्ध यमुना तट से न होने पर भी उन्हें सम्बद्ध करने के कारण यह उदाहरण सम्बन्धातिशयोक्ति का भी हो सकता है। यद्यपि दोनों अलङ्कारों की परिभाषायें भिन्न हैं ॥ ४७ ॥

सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये ।
सिक्तं स्फटिककुम्भान्तःस्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः ॥ ४८ ॥
मौक्तिकं चेल्लतां सूते तत्पुष्पैस्ते समं यशः ।

अन्वयः—अन्यप्रसिद्धये यदि इत्थं ऊहः स्यात् (तदा) सम्भावना (भवति, उदाहरति) स्फटिककुम्भान्तःस्थितिश्वेतीकृतैः जलैः सिक्तं मौक्तिकं चेत् लतां सूते (तदा) तत्पुष्पैः समं ते यशः (स्यात्) ।

व्याख्या—सम्भावनालङ्कारं निरूपयति—सम्भावनेति। अन्यस्य = भिन्नस्य कार्यस्य प्रसिद्धये = प्रकाशनाय यदि = चेत् इत्थम् = एवम् स्यात्तदाऽन्यत् कार्यं स्यादिति यत्रोहः = तर्कस्तत्र सम्भावना = सम्भावनानामालङ्कारः। यदीत्थं स्यात्तदा एवं स्यादित्यादितर्कबोधकपदत्वं सम्भावनात्वम्।

उदाहरति—सिक्तमिति। स्फटिकस्य कुम्भः = स्फटिकमणिकलशः तस्यान्तः स्थितिः = अवस्थानम् तया श्वेतीकृतैः = शिलीकृतैः जलैः = नीरैः सिक्तं = अभिषिक्तम्, मौक्तिकं = मुक्ता चेत् = यदि लतां = वल्ली सूते = जनयति समुत्पादयति तदा हे राजन्! तत्पुष्पैः = तत्कुसुमैः समं = सदृशं ते = तव यशः = कीर्तिः स्यात्।

स्फटिककलशमध्यस्थितश्वेतजलैरङ्कुरितं मौक्तिकं यदि श्वेतलतां जनयेत् सापि यदि श्वेतं पुष्पमुत्पादयेत् तदा तत्पुष्पसदृशं ते यशः स्यादिति भावः। अत्र यदीत्थं स्यात्तदेवं स्यादित्यूहस्य वर्तमानत्वात् संभावनालङ्कारः।

किसी अन्य कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा यदि हो तो ऐसा हो। इस तरह की कल्पना जहाँ की जाय वहाँ संभावना अलंकार होता है। जैसे एक स्फटिकमणि से बने हुए कलश में रखे हुए श्वेत जल से सींचा गया मोती यदि श्वेतलता को उत्पन्न करे और उस लता में यदि श्वेत पुष्प उत्पन्न हो तो हे राजन्! उन पुष्पों से आपके यश की तुलना हो सके। यहाँ राजा के यश का साम्य दिखाने के लिए कवि ने यदि ऐसा हो तो ऐसा हो यह कल्पना की, इसलिए सम्भावना अलङ्कार है।

विशेष—यहाँ उदाहरण में अन्य कार्य का प्रकाशन जन्म देने के कार्य से भिन्न कीर्ति को उपमान मिल जाना है तथा अगर से तर्क आरम्भ किया गया है और अन्त तक सम्भावना की गई है।

सम्भावना और संभावन का अर्थ एक ही है। कहीं-कहीं संभावन पाठ भी मिलता है। काव्य प्रकाश में अतिशयोक्ति की परिभाषा में 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्, समावेश कर दिया गया है जिसे संभावना अलङ्कार उसी में अन्तर्भूत है। वामन और विश्वनाथ भी संभावना को अतिशयोक्ति से अतिरिक्त नहीं मानते।

अगर से संभव की संभावना की जाती है। मोती बिल्लौर पत्थर का कलश मोती से उत्पन्न लता और उस लता से उत्पन्न फूल सभी सफेद हैं और ऐसा फूल श्वेततम होगा, जिसका आरम्भ से ही श्वेतता से सम्बन्ध रहा है, सफेदी भी ऐसी है जो संभव न होने पर भी काव्य में संभव मानी जाती है। इस तरह उपमान पुष्प अत्यन्त असंभव हो जाता है, पर संभावना के द्वारा उसकी चर्चा की जाती है। कविसम्प्रदाय के अनुसार यश का रंग श्वेत और अयश का काला है॥ ४८॥

वाञ्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्॥ ४९॥

दीपमुद्द्योतयेद्यावत्तावदभ्युदितो रविः ।

अन्वयः—अयत्नेन वाञ्छितात् अधिकप्राप्तिः यत्र तत्र प्रहर्षणम् । (भवति, उदाहरति) पुरुषः यावत् दीपं उद्योतयेत् तावत् रविः अभ्युदितः ।

व्याख्या—अयत्नेन = प्रयत्नं विनैव वाञ्छितात् = अभिलषितात् अधिकस्य = अतिरिक्तस्य प्राप्तिः = अर्जनम्, प्रहर्षणं = प्रहर्षणनामालङ्कारः । उदाहरति—यथा दीपं = प्रदीपं यावत् = यावत्पर्यन्तं कोऽपि उद्योयेत् तावत् = तावत्पर्यन्तं रविः = सूर्यः, अभ्युदितः = उदयं प्राप्तः ।

अत्र दीपप्रकाशमात्रमभिलषतः पुरुषस्य विना प्रयत्नं ततोऽनेककोटिगुणिताधिकसूर्यप्रकाशलाभवर्णनात् प्रहर्षणालङ्कारः ।

जहाँ प्रयत्न किये बिना ही इच्छा से अधिक लाभ हो जाय वहाँ प्रहर्षण अलङ्कार होता है । जैसे कोई प्रकाश के लिये दीप जलाना ही चाहता था कि सूर्य उदित हो गये । यहाँ दीपक के प्रकाश की इच्छा रखने वाले पुरुष को असंख्य कोटि उससे अधिक सूर्य का प्रकाश अपने आप ही प्राप्त हो गया । अतः यहाँ प्रहर्षण अलङ्कार है ।

उदाहरण के अनुसार किसी को दीपक के प्रकाश की आवश्यकता होती है । पर बिना प्रयत्न के उसे दीपक प्रकाश से करोड़ों गुना प्रकाश सूर्योदय के कारण मिल गया । कुवलयानन्द में प्रहर्षण के दो भेद किये हैं—बिना प्रयत्न के ईप्सित वस्तु का मिलना तथा प्राप्ति के उपाय में ही लगे रहने तक प्राप्ति हो जाना ॥ ४९ ॥

इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ ५० ॥
दीपमुद्द्योतयेद्यावत्तावन्निर्वाण एव सः ।

अन्वयः—इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् (भवति, उदाहरति) यावत् (कोऽपि) दीपम् उद्द्योतयेत् तावत् स निर्वाणः एव ।

व्याख्या—विषादनमाचष्टे—इष्यमाणेति । इष्यतेऽसावितीष्यमाणः = ईप्सितः तस्मात् विरुद्धार्थस्य सम्प्राप्तिः = अभीष्टार्थविरुद्धलाभ इत्यर्थः । विषादनम् = विषादननामालङ्कारः । उदाहरति—दीपमिति । यावत् दीपं उद्योतयेत् = वर्तिकामुद्दीप्तां कुर्यात् तावत् एव स दीपः निर्वाण एव = शान्त एव । अत्र दीपमुद्योजयितुमभिलाषुकस्य तद्विरुद्धदीपनिर्वाणरूपार्थप्राप्तेर्विषादनालङ्कारः ।

जहाँ इच्छा के विरुद्ध फल प्राप्ति हो वहाँ विषादन अलङ्कार होता है । जैसे—वह दीपक की ज्योति ज्यों ही तेज करने लगा त्यों ही दीपक शान्त हो गया । यहाँ इच्छा के विरुद्ध फल प्राप्ति होने से उक्त नाम का अलंकार होता है । यहां वांछित बात के विरुद्ध कार्य होने से विषादन अलंकार है ।

विशेष—यह अलंकार प्रहर्षण (हर्षित करने वाला) से उल्टा विषादन (दुःखी करने वाला) अलंकार है जैसा कि परिभाषा और उदाहरण से स्पष्ट है । उदाहरण के अनुसार

दिये की लौ तेज करना अभीष्ट था, पर वह बुझ गया जिससे इच्छा के विपरीत हो गया ॥ ५०-५१½ ॥

क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता ॥ ५१ ॥
सङ्कुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च।
प्राचीनाचलचूडाग्रचुम्बिबिम्बे सुधाकरे ॥ ५२ ॥

अन्वयः—क्रियादिभिः, अनेकस्य, तुल्यता, तुल्ययोगिता (भवति, उदाहरति) सुधाकरे प्राचीनाचलचूडाग्रचूम्बिबिम्बे सति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च सङ्कुचन्ति।

व्याख्या—क्रियादिभिः=क्रियाभिः गुणैश्च, अनेकस्य=प्रस्तुतस्य अप्रस्तुतस्य वा तुल्यता=समानता तुल्ययोगिता नामालङ्कारो भवति। उदाहरति सुधाकरे= चन्द्रे प्राचीनश्चासौ अचलश्चेति प्राचीनाचलः तस्य चूडाग्रं चुम्बतीति प्राचीनाचल-चूडाग्रबिम्बं यस्य तत् तस्मिन् प्राचीनाचलचूडाग्रचुम्बिबिम्बे=उदयाचलमस्तकस्पृक्-चन्द्रबिम्बे सति सरोजानि=कमलानि स्वैरिणीनां व्यभिचारिणीनां वदनानि= मुखानि च सङ्कुचन्ति—मुकुलितानि भवन्ति। चन्द्रोदये कमलानां, गमनभीरूणां स्वैरिणीनां वदनानां च सङ्कोचमञ्चनशालित्वं सुप्रसिद्धमेव। अत्र वर्णनीये चन्द्रोदये प्रस्तुतानां सरोजानां प्रकाशभीरुस्वैरिणीवदनानां च सङ्कोचरूपैकक्रिया-सम्बन्धेन तुल्यताप्रतिपादनात् तुल्ययोगितालङ्कारः।

यहाँ अनेक प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों की एक क्रिया गुण के साथ समानता दिखाई जाय वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है। जैसे चन्द्रमा के उदयाचल शिखर के अग्रभाग को स्पर्श करते ही (चन्द्रोदय होते ही) कमल और व्यभिचारिणी स्त्रियों के मुख-कमल सङ्कुचित हो जाते हैं।

यहाँ चन्द्रोदय के वर्णन प्रसङ्ग में कमलसङ्कोच तथा व्यभिचारिणियों की मुखमलीनता इन दोनों ही वर्णनीय प्रस्तुत पदार्थों का सङ्कोचन रूप कार्य का एक ही क्रिया में अन्वय कर समानता दिखाई गयी है। यहाँ तुल्ययोगिता नाम अलंकार है।

विशेष—यहाँ प्राचीन का अर्थ पुराना नहीं, किन्तु प्राची (पूर्व दिशा) है। इसी प्रकार अनेक का अर्थ दो है ये दो प्रस्तुत ही हो सकते हैं या अप्रस्तुत हैं या अप्रस्तुत। यहाँ दोनों ही उपमेय या उपमान होते हुए भी प्रस्तुत हैं। सङ्कुचन्ति क्रिया की समानता के आधार पर दोनों तुलित हो रहे हैं। अतः तुल्ययोगिता नामक अलंकार है। यहाँ अप्रस्तुत का अर्थ उपमान नहीं लगेगा जैसा कि सम्पूर्णोपमा में हो चुका है और आगे दीपक में भी होगा।

क्रियादि पद में आया आदि पद गुण या विशेषण के लिए आया है। तथा क्रिया के समान होने पर जिन दो पदों में समानता आयेगी वे उस क्रिया के कर्ता कर्म या करण

होंगे। इस अलंकार का लक्ष्य उपमा दिखाना है। सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार मित्र और शत्रु के प्रति समान व्यवहार तुल्ययोगिता है काव्यादर्श के अनुसार उत्कृष्ट गुण वाले लोगों की समानता तुल्ययोगिता है।

अन्तर—सिद्धि नामक लक्षण और तुल्ययोगिता में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव किया जा सकता है। कम से कम उदाहरण कोई अन्तर नहीं है। काव्यादर्श की परिभाषा के अनुसार तुल्ययोगिता तथा इस ग्रन्थ के अनुसार सिद्धि नामक लक्षण में कोई भेद नहीं, अर्थ समान होता है।

दीपक में एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत की तुलना होती है। तुल्ययोगिता में दोनों या तो अप्रस्तुत होते हैं या प्रस्तुत। यही अन्तर है। सम्पूर्णोपमा और तुल्ययोगिता में दोनों तुल्य दिखाये जाते हैं, पद प्रस्तुत होते हैं। पर तुल्ययोगिता में अन्वय के लिए उपलावाचक शब्द की आवश्यकता नहीं होती, अर्थ समान होता है। सहोक्ति में तुल्य दिखाये जाने वाला पद साथ वाची शब्द के कारण आता है और गौण होता है जबकि तुल्ययोगिता में ऐसे दोनों पद समान महत्त्व के होते हैं जहां दो प्रस्तुतों की तुलना हो वह पहला भेद और जहां दो अप्रस्तुतों की हो वहां दूसरा। इस प्रकार अलंकार के दो भेद किये जा सकते हैं।

चन्द्रमा के निकलने पर प्रकाश हो जाता है, जिससे व्यभिचारिणी स्त्रियां लोकलज्जा के कारण नहीं निकल पातीं और इससे उदास हो जाती हैं। चन्दोदय में कमल का मुरझाना कवि सम्प्रदाय सिद्ध है ॥ ५१–५२ ॥

प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्।
मेधां बुधः सुधामिन्दुर्बिभर्त्ति वसुधां भवान् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकम् मतम् (उदाहरति) बुधः मेधां इन्दुः सुधां भवान् वसुधां बिभर्त्ति।

व्याख्या—दीपकं व्याचष्टे—प्रस्तुतेति। प्रस्तुतानां=प्राकृतानाम्, अप्रस्तुतानां च पदार्थानां क्रियारूपेण गुणरूपेण वा तुल्यत्वे=समानत्वे=दीपकम् नाम अलङ्कारः, मतम् = इष्टम्। प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्रियादिरूपैकधर्मकथनम् यत्र तत्रेदमिति तात्पर्यम् प्रकृतमप्रकृतमपि अर्थं प्रकाशयतीति दीपकम्।

उदाहरति—मेधामिति। बुधः = विद्वान्, मेधां = धारणावतीं धियं इन्दुः = चन्द्रः, सुधाम् = अमृतम्, भवान्=त्वम्, वसुधां = पृथ्वीं, बिभर्त्ति = धारयति। अत्र वर्णनीयत्वाद् राजा प्रस्तुतः, बुधः इन्दुश्चेत्युभौ अप्रस्तुतौ, बिभर्त्तीति धारणरूपा क्रिया प्रस्तुतप्रस्तुतयोर्मध्ये स्थिता सती उभयविधमप्यर्थं दीपयतीति दीपकालङ्कारः।

जहां प्रस्तुत प्राकरणिक और अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) इन दोनों प्रकार के पदार्थों में इन दोनों प्रकार के पदार्थों के गुण और क्रिया के साथ समानता दिखाई जाय वहां दीपक अलंकार होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक घर के अन्दर और

बाहर के पदार्थों का भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार यह अलंकार प्राकृत अर्थ के साथ-साथ अप्राकृति अर्थ को भी प्रकाशित करता है।

जैसे—जिस प्रकार विद्वान् पुरुष बुद्धि को और चन्द्रमा अमृत को धारण करता है उसी प्रकार आप इस पृथिवी को धारण करते हैं। यहां बुध और चन्द्रमा का वर्णन अप्राकरणिक है और राजा का वर्णन प्रामाणिक है। धारण रूप क्रिया देहली दीप्रक की भांति प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों पदार्थों के साथ समान सम्बन्ध रखती है। इसलिए यह दीपक अलंकार है।

विशेष—सम्पूर्णोपमा और तुल्ययोगिता की तरह ही इस अलंकार में भी अप्रस्तुत का अर्थ अविद्यमान है न कि उपमान।

दीपक नाम सार्थक है। जिस प्रकार महल की छत पर रखा दीपक नीचे की गली और छोटे मकानों को भी प्रकाशित करता है, महल को तो प्रकाशित करता ही है। उसी प्रकार प्रस्तुत में स्थित धर्म अप्रस्तुत का भी हितकर होता है। यह दीपक की व्युत्पत्ति दीपयतीति दीपपकं मात्र निकल जाता है। अलङ्कार के अर्थ में दीपक शब्द हमेशा नपुंसक लिंग होता है। अतः दिये का वाचक नहीं है।

बिभर्ति क्रिया का अन्वय भवान् के साथ होगा, पर देहली दीपक न्याय से वह बुध और इन्दु के साथ भी लग सकता है। इस प्रकार क्रिया एक होने पर समानता हो जाती है और प्रस्तुत भवान् का धर्म धारण करनेवाला होगा। अप्रस्तुत (बुध और इन्दु) का भी हितकर हो जाते हैं। इसीप्रकार दीपक और तुल्ययोगिता अलङ्कार में भी अन्तर है ॥ ५३ ॥

आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम् ।
दीप्त्याग्निर्भाति भातीन्दुः कान्त्या भाति रविस्त्विषा ॥ ५४ ॥

अन्वयः—दीपकपदे आवृत्ते आवृत्तिदीपकं (भवति, उदाहरति) अग्निः दीप्त्या भाति, इन्दुः कान्त्या भाति, रविः च त्विषा भाति।

व्याख्या—आवृत्तिदीपकं व्याचष्टे—आवृत्त इति। अत्र दीपकपदे पद्यते =ज्ञायतेऽर्थो येनेति कर्मं व्युत्पत्त्या पदशब्देनार्थस्यापि ग्रहणं भवति, तेन पदस्थानीये पदे अर्थे, उभयरूपे वा आवृत्ते=असकृत्पठिते सति आवृतिदीपकम्=आवृतिदीपकनामालङ्कारो भवति। एतेन पदावृत्तिदीपकमर्थावृत्तिदीपकं पदार्थोभयावृत्तिदीपकं चेति त्रयो भेदा दीपकालङ्कारस्य भवन्ति। यथोक्तमाचार्यदण्डिना—

'अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि ।
दीपकस्थानमेवेष्टमलङ्कारत्रयं बुधाः ॥'

जहां गुण अथवा क्रियावाचक दीपक पद या इसके अर्थ की आवृत्ति की जाय वहां आवृत्ति दीपक होता है। जैसे आग ज्वाला से शोभती है, चन्द्रमा और सूर्य कान्ती से शोभते हैं। यहां भाति क्रिया की तथा उसके अर्थ की आवृत्ति की गयी। अग्निका वर्णन प्रकृत

है, चन्द्रमा और सूर्य का वर्णन अप्राकृत है। इन दोनों का एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से आवृत्ति दीपक अलङ्कार है।

विशेष—यहां परिभाषा में दीपक अलङ्कार का कारण जो पद होता है वह तुल्य बनाये जा रहे सभी पदों के साथ अन्वित होता है पर केवल एक बार आता है। यदि उसे हर पद के साथ अन्वित कर दिया जाय तो आवृत्ति दीपक नामक अलङ्कार हो जायेगा। आवृत्ति और दीपक दोनों शब्दों के होने से परिभाषा अपने आप जानी जा सकती है। साधारण शब्द की आवृत्ति वाला दीपक अलङ्कार आवृत्ति दीपक अलङ्कार है।

कुछ आचार्यों के मत से दीपक अलङ्कार के तीन भेद होते हैं। एक अर्थावृत्ति, दूसरा पदावृत्ति और तीसरा उभयावृत्ति। यह दिया उदाहरण तीसरे भेद का है, पर अन्य दोनों के लिए भी माना जा सकता है। इसलिए पद शब्द की व्युत्पत्ति यह करनी पड़ेगी कि पद्यते=ज्ञायतेऽर्थो येन स दीपकः' इसका यौगिक अर्थ होगा कि जिसके द्वारा जाना जा सकता है।

उदाहरण में प्रयुक्त अग्नि, इन्दु और रवि इनमें कौन पद प्रस्तुत है और कौन अप्रस्तुत यह स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि प्रकरण नहीं दिया गया है। पर इतना स्पष्ट अवश्य है कि अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा में से एक प्रस्तुत और शेष अप्रस्तुत हैं, क्योंकि दोनों एक ही समय में नहीं चमकते। आग रात और दिन के मध्य भाग में चन्द्रमा रात में और सूर्य दिन में चमकता है।

उदाहरण में भांति साधारण धर्म है जो आग, सूर्य तथा चन्द्रमा तीनों के साथ लग रहा है, पर एक ही बार न आकर, प्रत्येक पद के साथ में आने से आवृत्ति दीपक का कारण बन जाता है। इनमें सबसे पहले वर्णन अग्नि का हुआ है। अतः इसे प्रस्तुत माना जा सकता है। अन्यथा क्रम तेजस्वी होने पर उसका वर्णन पहले कर देने से दोष हो सकता था ॥ ५४ ॥

वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।
तापेन भ्राजते सूर्यः शूरश्चापेन राजते ॥ ५५ ॥

अन्वयः—वाक्योः अर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता (उदाहरति) सूर्यः तापेन भ्राजते, शूरः (च) चापेन (राजते)।

व्याख्या—प्रतिवस्तूपमां व्याचष्टे—वाक्ययोरिति। वाक्ययोः=उपमेयवाक्यस्य उपमानवाक्यस्य च अर्थस्य=वाच्यस्य सामान्ये=समानतायाम् (सति) प्रतिवस्तूपमा=प्रतिवस्तूपमानामालंकारः। मता=इष्टा, विद्वद्भिरालङ्कारिकैः। प्रतिवस्तु—प्रतिवाक्यार्थमुपमासमानधर्मोऽयमिति व्युत्पत्तेः यत्रोपमेयोपमानवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथक् पदेन निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। उदाहरति—तापेनेति। सूर्यः=दिवाकर तापेन=तेजसा भ्राजते=शोभते, शूरः=वीरश्च चापेन=धनुषा

राजते=शोभते। अत्र भ्राजते-राजते इत्येक एव धर्मः उपमानोपमेय वाक्ययोर्भिन्नपदाभ्यां निर्दिष्ट इति प्रतिवस्तूमालङ्कारः।

उपमानबोधक और उपमेयबोधक वाक्यों में एक क्रिया रूप साधारण धर्म का पृथक निर्देश करने पर प्रतिवस्तूमा होती है। जैसे—सूर्य ताप से शोभता है और शूर धनुष से शोभता है। यहां दोनों वाक्यों का धर्म समान है। और भ्राजते तथा राजते शब्दों द्वारा शोभन रूप सामान्य धर्म का पृथक् निर्देश किया गया है। अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

विशेष—दो वाक्यों से तात्पर्य है कि उपमान और उपमेय के वाक्य पृथक्-पृथक् हों। अर्थ की समानता से तात्पर्य है कि गुण की समानता उपमान, उपमेय, कारण, कर्म कर्ता में अर्थ या पद का भेद हो सकता है। यह वाक्यों की अर्थ समानता का आधार शोभित होता है, जो भ्राजते और राजते दोनों में समान रूप से है। प्रति वस्तु एवं उपमा का अर्थ क्रमशः प्रत्येक वाक्यार्थ और समानता लेने पर नाम सार्थक हो सकता है। एक ही अर्थ को दूसरे शब्द से कह देना वस्तु के प्रति वस्तुता होती है। दण्डी आदि आचार्यों ने अर्थावृत्ति नाम से जो आवृत्ति दीपक का भेद किया है वह प्रतिवस्तूमा है।

यहां शूर उपमेय है और सूर्य उपमान हैं, जिनके साथ क्रमशः समानार्थवाची राजते और भ्राजते पद आये हैं। 'उपमीयते इयम् अथवा उपमीयतेऽनया' इन व्युत्पत्तियों से प्रतिवस्तूपमा पद का उपमेय और उपमान दोनों हो सकता है जिससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि एक वाक्य में उपमेय होगा और दूसरे वाक्य में उपमान।

अन्तर—दृष्टान्त में सामान्य धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर प्रतिवस्तूपमा में नहीं। अतिसूक्ष्महोने से पण्डितराज ने दोनों में अन्तर नहीं माना है।

निदर्शना एक वाक्य में हो सकती है, पर वस्तूपमा नहीं। यदि निदर्शना दो वाक्यों में होती है तो जबतक दूसरा वाक्य न कहा जाय तबतक अर्थ पूर्ण नहीं होता, जबकि प्रतिवस्तूमा में प्रत्येक वाक्य अपने में पूर्ण हो जाता है। निदर्शना में साधारण धर्म नहीं रहता जबकि प्रतिवस्तूपमा में रहता है।

उपमा एक वाक्य में हो सकती है, पर प्रतिवस्तूपमा नहीं, उपमा यदि दो वाक्यों में होती है तो, वे परस्पर स्वतन्त्र नहीं होते, जबकि प्रतिवस्तूपमा में प्रत्येक वाक्य अपने में स्वतन्त्र होता है। उपमा में उपमावाचक शब्द या तो विग्रह से निकलता है या प्रतिपदोक्त होता है, पर प्रतिवस्तूपमा में होता ही नहीं। केवल व्यञ्जनावृत्ति से समानता विदित होती है। उपमा में साधारण धर्म एक पद से व्यक्त किया जाता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में दो भिन्न-भिन्न पद आते हैं। उपमा में दो पदार्थों की समानता होती है। किन्तु प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्यार्थों की। आवृत्ति दीपक में दीपक पद आवृत्त होता है, पर प्रतिवस्तूपमा में उसका पर्यायवाची शब्द दिया जाता है।

अर्थान्तर न्यास में सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य का समर्थन होता है। जबकि प्रतिवस्तूपमा में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य धर्म आसानी से नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वहां

समर्थन में वह विलीन हो जाता है, जबकि प्रतिवस्तूपमा में वह भिन्न पदों का प्रयोग होने पर भी अर्थ निकालते ही स्पष्ट हो जाता है। अर्थान्तरन्यास में उपमेय अंग और उपमान अंगी होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में दोनों भिन्न होते हैं ॥ ५५ ॥

चेद् विम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः ।
स्यान्मल्लप्रतिमल्लत्वे संग्रामोद्दामहुङ्कृतिः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—बिम्बप्रतिबिम्बत्वं चेत् (तदा) दृष्टान्तः अलङ्कृतिः (भवति, उदाहरति) अत्र मल्लप्रतिमल्लत्वे (सति) सङ्ग्रामोद्दामहुंकृतिः स्यात् ।

व्याख्या—दृष्टान्तं लक्षयति—चेदिति । बिम्बश्च प्रतिबिम्बश्च बिम्बप्रतिबिम्बौ तयोर्भावः बिम्बप्रतिबिम्बत्वं चेत् = यदि स्यात्तदा दृष्टान्तः = दृष्टान्तनामा अलङ्कृतिः = अलङ्कारः स्यात् । दृष्टम् = अवगतम् अन्तं = समर्थनीये समर्थस्य पदस्य स्वरूपं = सादृश्यं यस्मिन् स दृष्टान्तः यद्वा दृष्टोऽवगतः अन्तो निश्चय यत्र वेति दृष्टान्तः । तथा च यत्रापमानापमेयवाक्येयोः भिन्नौ एव धर्मौ बिम्बप्रतिभावेन निर्दिष्टो, तत्र दृष्टान्त इत्यथ. ।

एवञ्च प्रकृत वाक्यार्थानुकूलोपपानोपमेयसधारणधर्माणां बिम्बप्रतिबिम्बत्वे दृष्टान्तत्वमिति तत्सामान्यलक्षणम् ।

उदाहरति—स्यादिति । मल्लः = भटश्च प्रतिमल्लः = प्रतिभटश्चेति मल्लप्रतिमल्लौ तयोर्भावः मल्लप्रतिमल्लत्वं तस्मिन् सति सङ्ग्रामे = रणे उद्दामहुंकृतिः उद्दाम्नी = निरर्गला हुङ्कृतिः = तर्जनं चेति उद्दामहुंकृतिः स्यात् = भवेत् ।

अत्र पूर्ववाक्यार्थोत्तरवाक्यार्थयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावादुदाहरणमप्येतदेव पद्यम् । दृष्टान्तसहितस्य, बिम्बप्रतिबिम्बत्वस्य हुङ्कृतिसहितस्य मल्लप्रतिमल्लस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावादत्र दृष्टान्तालङ्कारः ।

जहाँ वाक्यों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव हो वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है। जैसे—परस्पर-स्पर्धी दो योद्धाओं के होने पर ही समरभूमि में घोर हुङ्कार होने लगता है, उसी प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने पर ही दृष्टान्त अलंकार होता है। इस पद्य में मल्ल-प्रतिमल्लत्व और दृष्टान्त हुंकृति का परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है, इसलिए दृष्टान्तालङ्कार है।

विशेष—जिस तरह दर्पण में वस्तु के समान ही परछाईं होती है उसी तरह जहाँ एक वाक्य के समान दूसरा वाक्य हो वहाँ उन वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव माना जाता है।

परिभाषा श्लोक के पूर्वार्द्ध में है. जो उत्तरार्द्ध के साथ सम्बद्ध हो उदाहरण बनती है। अर्थ की दृष्टि से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। यदि वही विभक्ति आदि नीचे प्रयुक्त होती तो शब्दों की दृष्टि से भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब हो जाता। कदाचित् स्थान-सङ्कोच से इस पद्य में दिये साधारण उदाहरण से सन्तुष्ट न होकर आगे पुनः उदाहरण दिया गया है।

उदाहरण में बिम्ब-प्रतिबिम्बत्व और मल्ल-प्रतिमल्लत्व, अलंकृति और हुंकृति पृथक्-पृथक् जोड़े होते हुए भी अलग-अलग दो जोड़े हैं, जिनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

जिन दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, उनमें एक उपमेय का वर्णन करता है और दूसरा उपमान का। यहाँ पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान का वाक्यार्थ है। दो भिन्न धर्म जब समान होने के कारण एक-जैसे प्रतीत हों और उन्हें अलग-अलग दिया जाय तब बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। उदाहरण में अलंकृतित्व और हुंकृतित्व दो भिन्न धर्म हैं, जो समान स्वरूप और श्रेष्ठ अर्थ के द्योतक होने से तुल्य प्रतीत होते हैं, जो पृथक्-पृथक् दिये गये हैं।

उदाहरणेन दृष्टः सुष्ठु अवलोकितः अन्तः निश्चयो यस्य स दृष्टान्तः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाक्य के अर्थ का निश्चय जहाँ उदाहरण के द्वारा भलीभाँति कर लिया जाय वहाँ दृष्टान्त होता है। ऐसा अर्थ समझ लेने पर नाम अन्वर्थ हो जाने से परिभाषा याद करने में सरलता होगी।

अन्तर—उपमा में समान धर्म एक होता है और उसे एक बार कहा जाता है। जबकि दृष्टान्त में दो धर्म होते हैं और वे समान नहीं होते केवल समान प्रतीत होते हैं। और अलग-अलग आते हैं। उपमा में उपमान वाचक शब्द आता है पर दृष्टान्त में नहीं।

निदर्शना एक वाक्य में हो सकती है, यदि दो वाक्यों में होती है तो वे दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं, जबकि दृष्टान्त हमेशा दो वाक्यों में होता है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में भी पार्थक्य है।

अर्थान्तर न्यास में सामान्य से विशेष की और विशेष से सामान्य की पुष्टि की जाती है। विशेष वाला वाक्य सामान्य वाले वाक्य का अंग सा होता है, पर दृष्टान्त में ऐसा नहीं होता। अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत ही दिया जाता है और प्रस्तुत व्यञ्जनावृत्ति से आता है जबकि दृष्टान्त में दोनों अभिधावृत्ति से दिये जाते हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा में एक धर्म होता है, जबकि दृष्टान्त में दो धर्म। अप्रस्तुत प्रशंसा एक वाक्य में होती है, पर दृष्टान्त के लिए दो वाक्य आवश्यक हैं ॥ ५६ ॥

दृष्टान्तश्चेद्भवन्मूर्तिस्तन्मृष्टा दैवदुर्लिपिः।
जाता चेत्प्राक् प्रभा भानोस्तर्हि याता विभावरी ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अन्तः चेत् भवन्मूर्तिः दृष्टा तत् दैवदुर्लिपिः मृष्टा। चेत् भानोः प्रभा प्राक् जाता तर्हि विभावरी याता।

व्याख्या—दृष्टान्ताहुंकृत्यो लिङ्गभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यास्पष्टतयोदाहरणान्तरमाह—दृष्टान्त इति। कस्यचिद्भगवद्भक्तस्य भगवन्तं प्रत्युक्तिः। हे भगवन्! अन्तः=हृदि चेत्=यदि भवन्मूर्तिः=त्वत्स्वरूपम् दृष्टा=अवलोकिता, अनुभूता वा तत्=तदा दैवदुर्लिपिः=दुर्भाग्यप्रयुक्तो लेखः मृष्टा=नष्टा। चेत्=यदि भानोः=सूर्यस्य प्रभा=तेजः, प्राक्=प्राच्यां दिशि जाता=उत्पन्ना तदा विभावरी=रात्रिः

याता = विनष्टा । सूर्योदये जाते स्वयमेव निशा विनश्यति । अत्र साधारणधर्मादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावः स्पष्टः ।

पूर्व उदाहरण स्पष्ट न होने से यह दूसरा उदाहरण देते हैं । कोई भक्त भगवान् से कहता है कि हे भगवन् ! जिस प्रकार पूर्व दिशा में उदित सूर्य की कान्ति से अँधेरी रात स्वयमेव विनष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आपकी मूर्तिका अन्तःकरण में साक्षात्कार होने पर दुर्दैव नष्ट हो जाता है ।

यहाँ उपमान एवं उपमेय वाक्यों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव अत्यन्त स्पष्ट है, अतः यह दृष्टान्तालंकार का उत्तम उदाहरण है ।

विशेष—यहाँ दृष्टान्त शब्द का सुन्दर प्रयोग है, जो उदाहरण में भी अर्थ देता है और अलंकार का नाम भी संकेतित करता है । उपमेय वाक्य के मूर्तिः अन्तःप्रविष्टा चेत्तद् दैवदुर्लिपिः और मृष्टा पद बिम्ब है तथा इनका प्रतिबिम्ब उपमान वाक्य में क्रमशः प्रभा प्राक् जाता चेत् तर्हि विभावरी और याता पदों के रूप में है, केवल भवत् और भानु शब्दों में अर्थ मात्र की दृष्टि से साम्य है, बाह्य रूप से नहीं ।

दुर्लिपि का पुँछना और विभावरी का जाना ये दोनों दो धर्म हैं, जो मिलते-जुलते होते हुए भी अलग-अलग हैं ॥ ५७ ॥

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ।
या दातुः सौम्यता सेयं सुधांशोरकलङ्कता ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सदृशयोः वाक्यार्थयोः ऐक्यारोपः निदर्शना (भवति, उदाहरति) दातुः सौम्यता सा इयम् सुधांशोः अकलङ्कता ।

व्याख्या—निदर्शनां व्याचष्टे—वाक्यार्थयोरिति । सदृशयोः = समानयोः वाक्यार्थयोः = वाच्यवाचकयोः ऐक्यारोपः = एकतारोपणम्, निदर्शना = निश्चित्य दर्शनं = सादृश्याविष्करणं निदर्शना निदर्शनानामकोऽलङ्कारः भवति । सदृशवाक्यार्थसम्बन्धीय ऐक्यारोपः, उपमेयवाक्यार्थे उपमानवाक्यार्थारोपो निदर्शनेत्यर्थः । दातुः = दानशीलस्य पुरुषस्य या सौम्यता सा एव सुधांशोः = चन्द्रस्य, अकलङ्कता = कलङ्कशून्यता । अत्र दातुः सौम्यतारोपमेव वाक्यार्थस्य चन्द्राकलङ्कत्वरूपोपमानवाक्यार्थस्य च ऐक्यारोपो निदर्शना ।

जहाँ भिन्न दो वाक्यों में समानता के कारण एकता का आरोप किया जाय वहाँ निदर्शना होती है । जैसे दाता की जैसी सौम्यता है वैसे ही चन्द्रमा की अकलंकता है । यहाँ उभय वाक्य गत यत्-तत् शब्द द्वारा एकता का आरोप किया गया है । अतः निदर्शना अलंकार है ।

विशेष—उदाहरण में समान वाक्यार्थ है । दाता की सौम्यता और सुधांशु की अकलंकता । दोनों में या तथा सेयं के प्रयोग से एकता दिखाई गई है । दोनों वाक्य स्वतन्त्र न होकर उद्देश्य-विधेय रूप में आये हैं । इसलिए एक दूसरे के आश्रित हैं । पहला वाक्य उपमेय और दूसरा उपमान है ।

पण्डितराज शाब्दिक अभिन्नता रहने के कारण उक्त स्थिति में रूपक मानते हैं। मम्मट ने निदर्शना का अर्थ दृष्टान्तकरण मानते हुए उसे ही निदर्शना कहा है। नि से निश्चय रूप से और दर्शन से सादृश्य प्रकटन अर्थ भी लिया है।

अन्तर—रूपक में उपमेय और उपमान एक रूप बोले जाते हैं, किन्तु निदर्शना में यत् तथा तत् की सहायता से ऐक्य का आरोप किया जाता है। रूपक में एक वाक्य होता है, जबकि निदर्शना में दो वाक्य होते हैं और वे परस्पर आश्रित भी होते हैं। तथा उपमेय वाक्य उपमान वाक्य का कारण होता है। अर्थान्तरन्यास में स्वतन्त्र दो वाक्य होते हैं, पर निदर्शना में परस्पर परतन्त्र। इसके अतिरिक्त निदर्शना में उपमेय वाला वाक्य उपमान वाले वाक्य का कारण होता है ।। ५८ ।।

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमला ।। ५९ ।।

अन्वयः—चेत् उपमानोपयमेयोः विशेषः व्यतिरेकः (भवति, उदाहरति) सन्तः शैला इव उन्नताः, किन्तु प्रकृतिकोमलाः (भवन्ति)।

व्याख्या—व्यतिरेकं व्याचष्टे—व्यतिरेक इति। चेत् = यदि उपमानोपमेययोः विशेषः वैलक्षण्यं तदा व्यतिरेकालङ्कारः। उपमानादुपमेयस्य आधिक्ये न्यूनतायां वा विवक्षितायां व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः। उदाहरति—शैला इति। सन्तः=साधवः शैलाः = पर्वताः इव उन्नताः = औनत्यं प्राप्ताः, किन्तु प्रकृतिकोमलाः प्रकृत्या = स्वभावेन कोमलाः मृदुलान्तःकरणाः, न पाषाणवत्कठिना भवन्ति।

अत्रौनत्येन शैलसज्जनयोः साम्येऽपि कोमलत्वेनोपमेयभूतानां सज्जनानामाधिक्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकालङ्कारः।

जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिकता हो या न्यूनता प्रदर्शित की जाय वहाँ व्यतिरेकालङ्कार होता है। जैसे सत्पुरुष पर्वत की तरह ऊँचे होते हैं, पर पत्थर की तरह कठिन न होकर कोमल स्वभाव वाले हुआ करते हैं। यहाँ उपमान रूप पर्वत से सज्जनरूप उपमेय की अपेक्षा कोमलता विशेष दिखलाई गई है। अतः व्यतिरेकालङ्कार है।

विशेष—उक्त पद्य में उपमान पर्वत की अपेक्षा उपमेय सज्जन में अधिकता दिखाई गयी है। दोनों ऊँचे होने में समान हैं तथापि सज्जन पर्वतों की अपेक्षा महान् हैं, क्योंकि उनमें कठोरतारूपी दुर्गुण के स्थान पर कोमलतारूपी सद्गुण होता है। उपमान की अधिकता दिखाने पर दूसरा भेद होगा।

अन्तर—मम्मट, विश्वनाथ आदिकों ने निदर्शना के अनेक भेद माने हैं। पण्डितराज के मत से उपमा के जितने भेद हो सकते हैं। वे सभी व्यतिरेक के भी हो सकते हैं।

प्रतीप में उपमान को उपमेय से हीन बताया गया है, जबकि व्यतिरेक में दोनों में अधिक-अधिक का न्यून भाव दिखाया जाता है। व्यतिरेक में साधर्म्य होता है, पर श्रेष्ठता

दिखाने के लिए उपमेय में वैधर्म्य भी दिखाया जाता है। इसके विपरीत प्रतीप में केवल साधर्म्य होता है ॥ ५९ ॥

सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः।
दिगन्तमगमद् यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ ६० ॥

अन्वयः—जनरञ्जनः सहभावः भासते चेत् (तदा) सहोक्तिः (भवति, उदाहरति) यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह दिगन्तम् अगमत्।

व्याख्या—सहोक्तिं व्याचष्टे—सहोक्तिरिति। जनरञ्जनः = सर्वहृदयग्राही, सहभावः = साहित्यं भासते = प्रकटी भवति चेत् तर्हि सहोक्ति–सहार्थकशब्दस्य उक्तिः = कथनं सहोक्तिः-सहोक्तिनामालङ्कारः। यत्र सहृदयहृदयाह्लादकः सहभावः उपमानोपमेयभावकल्पकः तत्र सहोक्तिरिति भावः।

उदाहरणं यथा—दिगन्तमिति—यस्य = राज्ञः कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः = शत्रुभिः सह = साकं दिगन्तं = सर्वासां दिशां पारम् अगमत् = जगाम। राज्ञो भयात् तच्छत्रवो दिगन्तं गता इति भावः। अत्र प्रथमान्ततया कीर्तिपदस्य प्राधान्यात् प्रत्यर्थिपदस्य च तृतीयान्ततया गुणत्वादुभयोरनयोर्युगपद्दिगन्तगमनं रूपक्रियाश्रयित्वेन सहभावात् सहोक्तिरलङ्कारः।

मनोहर रूप से जहाँ दो पदार्थों का सहभाव बताया जाय वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है। जैसे शत्रुओं के साथ-साथ जिस राजा की कीर्ति दिशाओं के अन्त तक पहुँच गई। तात्पर्य है कि शत्रुओं ने भागकर दिगन्त का आश्रय लिया, राजा की कीर्ति भी दिशाओं के अन्ततक उन्हीं के साथ वहाँ तक पहुँच गयी। यहाँ शत्रु और कीर्ति रूप दो पदार्थों का सहभाव दिखाया गया है।

विशेष—सहोक्ति का अर्थ सहभाव करने पर परिभाषा अपने आप निकल आती है। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) पाणिनीय सूत्र के अनुसार जिसके साथ सह, साकं, समं, सार्द्धम् इत्यादि सहार्थक शब्द लगते हैं, वहाँ तृतीया विभक्ति होती है, और वह गौण होता है, जैसे 'पुत्रेण सहागतः पिता' इस वाक्य में पुत्र शब्द से तृतीया विभक्ति हुई है। आगत क्रिया के साथ पिता का सम्बन्ध होता है। अतः उसमें प्रथमा विभक्ति होती है। इस प्रकार जहाँ तृतीया होती है, वहाँ अप्रधान होता है और जिसका सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है, वह प्रधान होता है।

उदाहरण में कीर्ति का दिगन्त में पहुँच जाना मुख्य वर्णन है, साथ-साथ शत्रुओं का भी दिगन्त में पहुँच जाने का वर्णन गौण है। समान होने पर भी उपमान प्रायः गौण होता है। और उपमेय प्रधान होता है, जिसमें प्रायः प्रथमा, तृतीया, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियाँ हुआ करती हैं ॥ ६० ॥

विनोक्तिश्चेद् विना किञ्चित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते।
विद्या हृद्याऽपि सावद्या विना विनयसम्पदम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—चेत् किञ्चित् विना प्रस्तुतं हीनम् उच्यते (तदा) विनोक्तिः (भवति, उदाहारति) सा विद्या हृद्या अपि विनयसम्पदं विना अवद्या ।

व्याख्या—विनोक्तिं व्याचष्टे—विनोक्तिरिति । चेत् = यदि किञ्चित् विना = अन्तरेण प्रस्तुतं = वर्ण्यं प्रकृतम्, हीनं = दुष्टम् उच्यते = कथ्यते चेत्तदा विनोक्तिः = एतन्नामालङ्कारः । उदाहरति—विद्येति । सा = वक्ष्यमाणा विद्या, हृद्या = मनोरमाऽपि, विनयसम्पदं=नम्रतासम्पत्तिं विना=अन्तरेण अवद्या=निन्दनीया भवति । अत्र वर्णनीयविद्याया विनयसम्पदं विना हीनत्वप्रतिपादनात् विनोक्तिरलङ्कारः ।

यदि किसी वस्तु के विना प्रकृत (वर्णनीय) पदार्थ में हीनता की प्रतीति हो तो विनोक्ति अलङ्कार होता है । जैसे वह विद्या मनोहर होकर भी विनय सम्पत्ति के विना निन्दित ही है । यहाँ विद्या में विनय के विना न्यूनता बतलाने के कारण विनोक्ति अलंकार है ।

विशेष—यहाँ विनयसम्पत् के विना विद्या की निन्दनीयता बताई गयी है । अतः उक्त अलंकार है । यह अलंकार विना शब्द पर आधृत होता है । अतः इसका नाम विनोक्ति रखा गया है । विना के पर्यायवाची से भी कोई हानि नहीं होती । अ, वि, न, निर्, अन्तरेण, ऋते, न्यून, हीन, रहित, विकल आदि उपसर्ग तथा अव्यय आदि के साथ भी यह अलंकार सम्भव है । जहाँ विना वाची शब्द के विना भी विना अर्थ निकले वहाँ ध्वनि होती है । पण्डितराज ने विनोक्ति की एक परिभाषा दी है कि सदा सम्बद्ध रहने वाले शब्द जब विना कहने से अलग किये जाते हैं तब विनोक्ति होती है, यह अतिशयोक्ति के निकट है । विनोक्ति अलंकार में विना से संवद्ध शब्द पूरक होता है, जबकि सहोक्ति में सह वाचक किसी शब्द से सहित होना अर्थ प्रगट होता है, न कि पूरक होता है विनोक्ति में विना से संवद्ध पूरक होता है, सहोक्ति में सहवाचक शब्द अर्थप्रत्यायक होता है, पूरक नहीं ॥ ६१ ॥

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ।
अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य परिस्फूर्तिः चेत् (तदा) समासोक्तिः । (भवति, उदाहरति) पश्य, अयं रक्तः चन्द्रमाः ऐन्द्रीमुखं चुम्बति ।

व्याख्या—समासोक्तिं व्याचष्टे—समासोक्तिरिति । प्रस्तुते = वर्णनीये प्रकृते अप्रस्तुतस्य = अप्रकृतस्य, परिस्फूर्तिः = प्रतीतिः, चेत्=यदि, तदा समासोक्तिनामालङ्कारो भवति । समासेन = संक्षेपेणोक्तिरित्यन्वर्थेयं संज्ञा, प्रस्तुतवृत्तान्ते यत्र कार्यसाम्येन, लिङ्गसाम्येन, विशेषणसाम्येन चाप्रस्तुतव्यवहारारोपः क्रियते, तत्र समासोक्तिः ।

उदाहरणं यथा—अयमिति । पश्य = अवलोकय, अयं = एष पुरोदृश्यमानः चन्द्रमाः=शशी ऐन्द्रीमुखं=प्राचीदिग्वदनं चुम्बति = स्पृशति, उदेतीति भावः । अत्र

चन्द्रगतपुंस्त्वेन ऐन्द्रीगतस्त्रीत्वेन रक्तत्वकामुकत्वरूपश्लिष्टविशेषणमहिम्नाऽप्रस्तुत-नायकवृत्तान्तः प्रतीयते। कश्चन नायकोऽनुरक्तः सन् परकामिनीमुखं चुम्बतीत्य-प्रस्तुतव्यवहारप्रतीतिः प्रस्तुतवर्णनेन परिस्फुरतीति समासोक्तिः।

इदमस्य तात्पर्यम्—अस्मिन्नलङ्कारे हि प्रस्तुतार्थोऽभिधाख्यया वृत्या प्रतीयते। विशेषणकार्यलिङ्गादिसाम्येन चाप्रस्तुतवृत्तान्तोऽपि व्यञ्जनया बोध्यते। ततश्च, प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारारोपः क्रियते। अचेतनचन्द्रकर्तृकचुम्बनस्यानुपपन्नत्वात्। एवं चात्र व्यङ्ग्यार्थसत्वेऽपि न ध्वनित्वव्यपदेशः व्यङ्ग्यार्थवाच्यत्वात्।

अत्र चन्द्रमसः पुंल्लिगतया तत्र नायकत्वस्य, ऐन्द्र्याः स्त्रीलिंगतया तत्र नायिकात्वस्य, मुखमित्यस्य प्रारम्भवदनोभयार्थकतया वदनरूपार्थस्य, रक्त इत्यस्य कामुकारुणवर्णोभयार्थकतया कामुकत्वस्य, चुम्बतीत्यस्य स्पर्शमुखवक्त्र-संयोगरूपोभयार्थकतया मुखवक्त्रसंयोगरूपार्थस्य प्रस्तुते वर्ण्यमाने चन्द्रोदयवृत्तान्ते श्लिष्टविशेषणमहिम्ना अप्रस्तुतस्य कामुकत्वस्य व्यवहारसमारोपात् समासोक्ति-रलङ्कारः। अनुरक्तो नायकः कस्याश्चन नायिकाया मुखं चुम्बतीत्येवं रूपाऽप्रस्तुत-व्यवहारप्रतीतिरत्र परिस्फुरतीत्याशयः।

जहाँ प्रस्तुत (प्राकरणिक) विषय से अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) विषय की प्रतीति होती है, वहाँ समासोक्ति होती है। जैसे देखो, यह उदय काल में रक्त (लाल) चन्द्रमा ऐन्द्री (पूर्वदिशा) के मुख का चुम्बन करता है। अर्थात् पूर्व में चन्द्रमा का उदय हो रहा है। यहाँ प्रस्तुत चन्द्रोदय वर्णन से रक्त शब्द का अर्थ अनुरक्त तथा चन्द्रमा पुंल्लिग होने से उसका नायक रूप अर्थ एवं ऐन्द्री स्त्रीलिंग होने से उसका नायिका रूप अर्थ, उपस्थित होकर अनुरक्त नायक नायिका के मुख का चुम्बन करता है। इस अप्राकृत अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिए समासोक्ति अलंकार है।

विशेष—कार्य, लिंग या विशेषण की समता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत अर्थ झलकता है। उदाहरण में रक्त का अर्थ लाल और अनुरक्त दोनों होने से और चुम्बति अर्थ छूना तथा चूमना दोनों से तथामुख का प्रयोग करते हुए पूर्वदिशा को स्त्री लिंग में और चन्द्रमा को पुंल्लिग में यह अप्रस्तुत अर्थ झलकता है कि जैसे अनुरागी नायक नायिका का मुख चुम्बित करता है। प्रस्तुत का वर्णन अभिधा से और अप्रस्तुत का अर्थ व्यञ्जना से निकलता है, पुनः प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप होता है। व्यङ्ग्य अर्थ के वाच्य अर्थ का अङ्ग हो जाने से गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है, ध्वनि नहीं। दोनों अर्थों के अभिन्न होने पर भी प्रस्तुत अर्थ प्रधान होता है।

कार्य, लिंग और विशेषण क्रमशः चुम्बति, चन्द्रमा, ऐन्द्री तथा रक्त है। यदि श्लिष्ट विशेषण रक्त चुम्बति शब्द का प्रयोग न किया जाता तो भी समासोक्ति होती, क्योंकि लिंगादि साम्य तो होता ही है। लिंग के साम्य का अर्थ है नायक और नायिका दोनों के क्रमशः पुंलिंगत्व और स्त्रीलिंगत्व का साम्य।

'इन्द्रस्येयं स्त्रीः ऐन्द्री' ऐसी व्युत्पत्ति करने से ऐन्द्री का अर्थ इन्द्र की पत्नी (पर-नायिका) हो सकता है। इसी प्रकार मुख का अर्थ चन्द्रमा के प्रसंग में आरंभ और नाम के प्रसंग में मुँह लग सकता है। आह्लादं मीमीते निर्मीमीते विग्रह से चन्द्रमाका यौगिक अर्थ आह्लादित करने वाला होने पर नायक की स्पष्ट प्रतीति होती है। अष्टादशभाषाविज्ञ विश्वनाथभट्टाचार्य के साहित्यदर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में समासोक्ति के अनेक भेद प्रदर्शित हैं एवं समासोक्ति पार्थक्य भी वर्णित हैं।

अन्तर—विशेषण के श्लिष्ट न होने पर श्लेष अलंकार होता है। उसके श्लिष्ट न रहने पर भी जब दूसरा अर्थ निकलने लगता है तब समासोक्ति होती है। श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, जबकि समासोक्ति में प्रकृत अर्थ प्रधान होता है, न कि अप्रकृत। रूपक में अप्रस्तुत का कथन अभिधा द्वारा होता है, किन्तु समासोक्ति में वह व्यञ्जना द्वारा व्यक्त किया जाता है। रूपक में प्रकृत को अप्रकृत ढक लेता है जबकि समासोक्ति में प्रकृत अर्थ प्रधान होता है, न कि अप्रकृत। अप्रस्तु प्रशंसा में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, जबकि समासोक्ति में इसके विपरीत प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है ॥ ६२॥

खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथगर्थता।
उच्छलद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—चेत् एकैकं पदानां पृथगर्थता खण्डश्लेषः (स्यात्, उदाहरणं यथा) उच्छलद्भूरिकीलालः वाहिनीपतिः शुशुभे।

व्याख्या—खण्डश्लेषं व्याचष्टे—खण्डश्लेष इति। चेत् = यदि एकैकं = प्रत्येकवाक्यार्थं प्रति पदानां = समस्तपदावयवानां शब्दानां पृथगर्थता = भिन्नार्थकता स्यात्तदा खण्डश्लेषः = खण्डश्लेषालङ्कारो भवति।

उदाहरति—उच्छलतीति। उच्छलन्ति=उद्गच्छन्ति भूरीणि = बहूनि कीलानि = जलानि रुधिराणि वा यस्मिन् स उच्छलद्भूरिकीलालः वाहिनीपतिः = वहिन्याः = नद्याः, सेनायाः वा पतिः स्वामीति वाहिनीपतिः, सरित्पतिश्च शुशुभे = रेजे।

अत्र उच्छलद्भूरिकीलाल इति समस्तपदे कीलालरूपपदखण्डस्य जलरुधिररूपार्थद्वयप्रतिपादकतया वाहिनीपतिरिति समस्तपदे च वाहिनीरूपपदखण्डस्य सेनानदीरूपार्थद्वयप्रतिपादकतया पदानां भिन्नार्थकत्वात् खण्डलेषः।

श्लेषालङ्कारश्च श्लेषो नाम नानार्थशब्दविन्यासः अनेकार्थवाचकपदानामनेकार्थाभिधानं वा। वर्ण-पद-लिंग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनमयोऽष्टधा भवति, स एव पुनः सभङ्गाभङ्गोभयरूपत्वात् त्रिविधः। खण्डश्लेषोऽभङ्गश्लेषश्चेति पदश्लेषस्यैवं द्वौ भेदौ, इत्यादिविचारो ग्रन्थान्तरादवसेयः।

समस्त पद के किसी एक खण्ड का जहाँ अनेक अर्थ किया जाय वहाँ खण्डश्लेष होता है, जैसे उछलते हुए जल कल्लोल से समुद्र शोभित हो रहा है।

विशेष—चन्द्रालोक के निर्माता जयदेवकवि ने शब्दश्लेष को दो प्रकार का माना है—खण्डश्लेष और भङ्गश्लेष। पद में रहने के कारण इसका नाम खण्ड श्लेष है। उदाहरण में 'उच्छलद् भूरि कीलालः' इस समस्त पद के कीलालरूप एक खण्ड से रुधिर और जल इन दो अर्थों की तथा वाहिनीपति के वाहिनीरूप एक खण्ड से सेना तथा नदीरूप दो अर्थों की उपास्थिति दिखाकर 'उछलते हुए जल प्रवाह से समुद्र और रुधिर के प्रवाह से सेनापति शोभित हो रहा है। ये दो अर्थ प्रगट किये गये हैं। अतः यहाँ खण्डश्लेष है।

उदाहरण में कीलाल तथा वाहिनी पदों के अर्थ सेनापति शोभित हुआ तथा समुद्र शोभित हुआ इन वाक्यों में से पहले के लिए क्रमशः रक्त और सेना दूसरे के लिए क्रमशः जल और नदी अर्थ लगाने से खण्डश्लेष होता है। जैसे एक वृक्ष में दो फल लगे हों, उसी प्रकार एक पद में जब दो अर्थ होते हैं और वे भिन्न-भिन्न रूप से दो वाक्यों में अन्वित होते हैं, तब खण्डश्लेष होता है।

सामान्यतः खण्डश्लेष श्लेषका ही एक भेद माना जाता है, पर यहाँ सामान्य रूप से श्लेष का वर्णन न कर खण्डश्लेष को ही अलंकार माना है। यहाँ खण्ड शब्द पदखण्ड के लिए आया है।

ग्रन्थान्तरों में पहले श्लेष के दो भेद किये गये हैं—पहला शब्दश्लेष और दूसरा अर्थश्लेष। इनमें शब्दश्लेष आठ प्रकारका होता है, वर्ण, पद, लिंग, भाषा, विभक्ति, प्रकृति, प्रत्यय और वचनश्लेष। ये आठों पुनः सभंग, अभंग, तथा अभंगाभंग भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इन सबका भेद विभिन्न ग्रन्थों में है।

उद्भट के अनुसार जहां श्लेष आता है वहाँ अन्य अलंकारों को समाप्त कर देता है। प्रसंग में यदि दोनों अर्थ अन्वित होते हैं तब तो श्लेष होता है, किन्तु जहाँ दोनों अर्थों के न निकलने पर भी प्रसंगों में बाधा नहीं पहुँचती और निकलने पर अर्थ गौरव की प्राप्ति होती है, वहाँ ध्वनि होती है ॥ ६३ ॥

भङ्गश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत्पृथगर्थता।
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया ॥ ६४ ॥

अन्वयः—चेत् पदस्तोमस्यैव पृथगर्थता (तदा) भङ्गश्लेषः (स्यात्, उदाहरणं यथा) अजरामरता अयोध्यापुरी कस्य प्रिया न।

व्याख्या—भङ्गश्लेषं व्याचष्टे—भङ्गश्लेष इति। चेत् = यदि, पदस्तोमस्य = पदसमूहस्यैव पृथगर्थता = भिन्नार्थकता तदा भङ्गश्लेषः = भङ्गश्लेषनामाऽलङ्कारो भवति। तथा च पदसमुदायस्यैवान्तराविलक्षणपदभङ्गेन भिन्नार्थकतया वाक्यार्थद्वयप्रतिपादकत्वं भङ्गश्लेषत्वम्।

उदाहरति—भङ्गश्लेष इति। अजः—रघुपुत्रः रामश्च दशरथपुत्रः अजश्च रामश्चेत्यजरामौ तयोरता इति अजरामरता—अजरामानुरक्ता यद्वा अजरःजररहितश्च अमरःमरणरहितश्चेति अजरामरौ तयोर्भावः अजरामरता—अजरता अमरता वा अयोध्या-

पुरी=साकेतं नाम नगरम्, कस्य=जनस्य प्रिया=प्रीतिदा न अपितु सर्वस्यैव प्रिया। यथा रघुपुत्रे अजे दाशरथौ रामे च अनुरक्ता अयोध्यापुरी सर्वस्य प्रिया वर्तते तथैव अजरता अमरता च सर्वस्य प्रियेति भावः। अत्र 'अजरामरता' इति पदसमुदायस्य भिन्नार्थकत्वाद् भङ्गश्लेषालङ्कारः। अयञ्च भङ्गश्लेषः, जतुकाष्ठन्यायेन भवति। यथा मिलिते काष्ठजतुनी एकरूपे भवतः, सति भेदे च पृथक् पृथक् दृश्येते तथैव यदा पदे मीलिते भवतः तदा ते एकरूपे स्तः, विश्लेषे च पृथक्-पृथक् भवत इति भावः।

यदि पदसमूह = समस्त पद ही पृथक्–पृथक् अर्थवाची हो तो उसे भङ्गश्लेप कहते हैं, जैसे अयोध्यापुरी के सदृश अजरत्व और अमरत्व किसको प्रिय नहीं है, अपि तो सबको प्रिय है। अथवा अज और राम में अनुरक्त अयोध्या किसको प्रिय नहीं है, यह भी दूसरा अर्थ निकलता है।

यहाँ अजरामरता इस पदसमूह को भङ्ग कर दो प्रकार का अर्थ निकाला गया है। इसलिए यहा भंगश्लेष है।

विशेष—उदाहरण में 'अजरामरता' एक पद है, इसके टुकड़े अलग-अलग करने पर एक बार में एक से ही अन्वित होंगे, पूरा पद ही दोनों में अन्वित होता है। ऐसी स्थिति में भंगश्लेष है। अजरामरता का अर्थ अजरता और अमरता होने पर यह कर्ता कारक भाव वाचक संज्ञा है तथा अज और राम में रत, अर्थ लगाने पर यह पद अयोध्या का विशेषण है।

भङ्गश्लेष जतुकाष्ठ न्याय के अनुसार होता है। जैसे काठ पर लाख लगी होने पर दोनों का रूप एक सा दिखता है, पर अलग-अलग भी किया जा सकता है। उसी प्रकार यहाँ अजरामरता पद एक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उसके भाग अलग-अलग भी किये जा सकते हैं। खण्डश्लेप में किसी पद के खण्ड के एक से अधिक अर्थ होते हैं। जबकि भंगश्लेष में पद के ही भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं इस प्रकार यदि पदसमूह का ही अर्थ पृथक्-पृथक् हो तो भङ्गश्लेप अलङ्कार होता है ॥ ६४ ॥

अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थसंश्रयः।
कुटिलाः श्यामला दीर्घाः कटाक्षाः कुन्तलाश्च ते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—अर्थमात्रस्य यदि अनेकार्थसंश्रयः (स्यात्तदा) अर्थश्लेषः (उदाहरणं यथा हे प्रिये !) ते कटाक्षाः कुन्तलाश्च कुटिला दीर्घाश्च (सन्ति)।

व्याख्या—अर्थश्लेषमाह—अर्थ इति। अर्थमात्रस्य = वाच्यार्थमात्रस्य यदि = चेत् अनेकार्थसंश्रयः बहूनां वाच्यार्थानामन्वयः स्यात्तदा अर्थश्लेषः=अर्थश्लेषाख्योऽलङ्कारो भवति। पर्यायशब्दपरिवर्तने यत्र श्लेषो न नश्यति तत्रार्थश्लेषः, यत्र च नश्यति तत्र शब्दश्लेषः। तथा च शब्दपरिवृत्तिसहानेकार्थकपदत्वमर्थश्लेषत्वम्।

उदाहरति—हे प्रिये ! ते=तव कटाक्षाः = अपाङ्गदृष्टयः, कुन्तलाः = केशाश्च कुटिलाः = वक्रिमाः श्यामलाः = कृष्णवर्णाः दीर्घाः = लम्बायमानाश्च सन्ति।

अत्र कटाक्षानां कुटिलत्वाद्यन्यत् कुन्तलानां च कुटिलत्वाद्यन्यत् इत्यनेकविषस्य कुटिलतारूपार्थस्य कटाक्षकुन्तलरूपाद्यनेकपदार्थान्वयितया मर्थश्लेषः। मत्रैव यदि कुटिलपदस्थाने तत्पर्यायवाचिवक्रादिपदमुपन्यस्येत तदापि नार्थश्लेषत्वहानिः।

जहाँ केवल वाच्यार्थ का अनेक पदार्थों के साथ अन्वय किया जा सके वहाँ अर्थश्लेष होता है। जैसे, हे प्रिये! तेरे कटाक्ष और केश दोनों ही कुटिल, काले और लम्बे हैं। यहाँ कुटिलता रूप अर्थ कटाक्ष और केश रूप पदार्थ के साथ सम्बन्ध करता है। इसलिए अर्थश्लेष है। यहाँ कुटिलादि पद के स्थान में उनके पर्यायवाची अन्यपद का यदि प्रयोग किया जाय तो भी अर्थमूलक श्लेष होने के कारण उसका नाश नहीं होता।

विशेष—यह कुटिल पदार्थ का सम्बन्ध कटाक्ष तथा कुन्तल इन दो अर्थों से है, वही श्यामल और दीर्घ पदों के सम्बन्ध में भी घटता है। अतः इन तीनों में श्लेषनामक अर्थालङ्कार है।

यद्यपि अर्थालङ्कार में ही पूर्व निर्दिष्ट दो अलंकार—खण्डश्लेष तथा भङ्गश्लेष की गणना की गई है, किन्तु उनमें शब्द की भी मदद ली गई है। अतः उनमें अर्थशब्द उतना नहीं बैठता है जितना इस अर्थश्लेष अलंकार में। यहाँ कुटिल, श्यामल और दीर्घ इन तीन पदों में अर्थश्लेष है और तीनों ऐसे हैं जिन्हें बदलकर उनके स्थानपर पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। वक्र, वङ्किम, अराल आदि, कृष्ण, असित, शिति आदि तथा लम्ब, अनल्प, विस्तृत आदि पर्यायवाची शब्द भी बैठ जायेंगे। इसके विपरीत ऊपर के दो शब्दों में श्लेषों के हटते ही श्लेष समाप्त हो जाता है॥ ६५॥

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा।
कार्यकारणसामान्यविशेषादेरसौ मता॥ ६६॥

अन्वयः—यत्र प्रस्तुतानुगा अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् (तत्र) अप्रस्तुतप्रशंसा। कार्यकारणसामान्यविशेषाद् असौ मता।

व्याख्या—अप्रस्तुतप्रशंसां व्याचष्टे—अप्रस्तुतेति। यत्र प्रस्तुतम् अनुगच्छतीति प्रस्तुतानुगा = प्रस्तुवृत्तानुसारिणी, अप्रस्तुतस्य = अप्रकृतवृत्तान्तस्य प्रशंसा = वर्णनमिति अप्रस्तुतप्रशंसा=तन्नामालङ्कारो भवति। यत्राप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनं प्रस्तुत-वृत्तान्तावसायि तत्र सा।

कार्यं च कारणं च सामान्यं च विशेषश्चेति कार्यकारणसामान्यविशेषाः ते आदौ यस्य स तथाभूतात् सम्बन्धात् असौ = अप्रस्तुतप्रशंसा मता = इष्टा। सेयं पञ्चधा तथाहि—कार्यप्रतीतिरूपा, कारणप्रतीतिरूपा, सामान्यप्रतीतिरूपा, विशेष-प्रतीतिरूपा आदिशब्दात् सारूप्यनिबन्धना च।

जहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा प्रस्तुतवृत्तान्त की प्रतीति कराई जाय वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। इसमें अप्रस्तुतार्थ प्रतीति अभिधावृत्ति से और प्रस्तुतार्थ प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से

हुआ करती है। यह अप्रस्तुत प्रशंसा पाँच प्रकार की होती है—कार्यप्रतीतिरूपा, कारण-प्रतीतिरूपा, सामान्यप्रतीतिरूपा, विशेषप्रतीतिरूपा और सादृश्यसम्बन्धनिबन्धना।

विशेष—मूल में प्रशंसा का अर्थ वर्णन है। अभिधा से अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है और व्यन्जना से प्रस्तुत का अर्थ ध्वनित होता है। अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत में कोई सम्बन्ध होने पर ही अर्थ प्रस्तुत परक होता होगा। तदर्थ, कार्य, कारण आदि के सम्बन्धों की प्रतीति वर्णन उत्तरार्द्ध में किया गया है। आगे के आचार्यों ने इसके भेद और उपभेदों की अधिक संख्या बढ़ाई है। दण्डी ने केवल उस स्थिति में अप्रस्तुत प्रशंसा मानी है, जहाँ अप्रस्तुत की सराहना है।

अन्तर—पर्यायोक्ति में वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं, जब कि अप्रस्तुत में व्यङ्ग्य अर्थ ही अप्रस्तुत होता है और वाच्य अर्थ प्रस्तुत। पर्यायोक्ति में व्यङ्ग्य वाच्य परक होता है जब कि अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य व्यङ्ग्य परक होता है।

व्याजस्तुति में अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की प्रशंसा और अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की निन्दा होती है। अप्रस्तुत प्रशंसा ऐसी स्थिति में नहीं मानी जायेगी। इसी प्रकार श्लेष, दृष्टान्त और समासोक्ति से भी अप्रस्तुत प्रशंसा का अन्तर है ॥ ६६ ॥

कमलैः कमलावासैः किं किं नासादि सुन्दरम्।
अप्यम्बुधेः परं पारं प्रयान्ति व्यवसायिनः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—कमलावासैः कमलैः किं किं सुन्दरम् न आसादि (द्वितीय-मुदाहरणम्) व्यवसायिनः अम्बुधेः पारं पारं प्रयान्ति।

व्याख्या—अप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—कमलैरिति। कमलायाः = लक्ष्म्याः आवासैः स्थानभूतैः कमलैः = सरोजैः किं किं सुन्दरं = रम्यं नासादि = नाधिगतम्, अपितु सर्वमेव सुन्दरं वस्तु अधिगतम्। अत्राप्रस्तुतसामान्यकमलप्रशंसया प्रस्तुत-धनिकविशेषप्रशंसेति सामान्येन विशेषप्रतीतिरूपा प्रस्तुतप्रशंसा।

अप्रस्तुतविशेषप्रशंसया प्रस्तुतसामान्यमुदाहरति—अपीति। व्यवसायिनः = उद्योगिनः पुरुषाः अम्बुधेः = समुद्रस्य अपि परं पारं = परतीरम् गच्छन्ति।

अत्राम्बुधिपारगमनरूपाप्रस्तुतवृत्तविशेषेण व्यवसायिनां कृते किमपि कर्म दुष्करं नास्तीति प्रस्तुतसामान्यप्रतीतिर्जायते। इति सामान्यप्रतीतिरूपाऽप्रस्तुतप्रशंसा।

लक्ष्मी के आवास स्थान कमलों ने कौन-कौन सा सौन्दर्य नहीं प्राप्त किया, अपितु सब कुछ प्राप्त कर लिया। इस अप्रस्तुत कमल कथा से प्रस्तुत किसी धनिक विशेष की कथा का आक्षेप होता है।

तात्पर्य यह है कि धनिक ने धन बल पर संसार की सभी सुख-सामग्री प्राप्त कर ली। इसलिए यहाँ अप्रस्तुत सामान्य कमल कथा से प्रस्तुत किसी धनिक विशेष की प्रतीति होती है।

विशेष—प्रथम उदाहरण में कमल का वर्णन है जिससे सुन्दरी के कमलतुल्य अङ्गों का प्रस्तुत वर्णन होता है। कमलावास विशेषण भी बैठ जाता है, क्योंकि वे शोभा के

निधान हैं। दूसरा प्रस्तुत अर्थ कमलावास विशेषण के कारण धनिक भी हो सकता है। प्रसंग न मालूम होने पर अनेक अर्थ प्रस्तुत रूप में लिये जा सकते हैं।

दूसरे उदाहरण में उद्योगी के लिए सभी कार्य संभव हैं। इस सामान्य प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि करने के लिए अप्रस्तुत कार्य आया है। इस प्रकार उद्योगी पुरुष समुद्र के पार भी पहुँच जाता है। यही इस पद्य का मौलिक तात्पर्य है॥ ६७॥

भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा ।
हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम्॥ ६८॥

अन्वयः—अनुषक्तार्थान्तराभिधा (यत्र स्यात्तत्र) अर्थान्तरन्यासः भवेत्। (उदाहरणं यथा) हनुमान् अब्धिं अतरत् महात्मनां किं दुष्करम्।

व्याख्या—अर्थान्तरं व्याचष्टे—भवेदिति। अन्यः = अर्थः अर्थान्तरम् अनुषक्तं सम्बद्धं च तदर्थान्तरं चेति अनुषक्तार्थान्तरम्, तस्याभिधा = कथनं यत्र सा अनुषक्तार्थान्तराभिधा यत्र स्यात्तत्र अर्थान्तरन्यासः = अन्योऽर्थोऽर्थान्तरं तस्य न्यासः अर्थान्तरन्यासः = मुख्यार्थसम्बद्धमर्थान्तरं यत्र स्यात्तत्राऽयमलङ्कारः।

उदाहरति—हनुमानिति। हनुमान् = आञ्जनेयः, अब्धिं = समुद्रम् अतरत् = उड्डीय पारमगमत्। यतो हि महात्मनां = लोकोत्तरशक्तिशालिनाम् महापुरुषाणां दुष्करं = कर्तुमशक्यं किं? अपितु न किमपि दुष्करमित्यर्थः।

अत्र महात्मनां सर्वं सुकरमिति सामान्यार्थस्य अब्धितरणरूपविशेषेणोपपादनात् अर्थान्तरन्यासालङ्कारः। महात्मनां किमपि दुष्करं नास्तीति सामान्येन हनुमत्कर्तृक-समुद्रलङ्घनरूपविशेषधर्मस्य समर्थनाद्वा सोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः।

जहाँ मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थान्तर का अभिधान हो वहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार होता है। जैसे—हनुमान् समुद्र पार कर गये। ठीक ही है, महात्माओं के लिए दुःसाध्य कार्य कौन है? यहां समुद्रोल्लंघन रूप विशेष अर्थ का समर्थन महात्माओं के लिए दुःसाध्य कार्य कौन है? इस सामान्य अर्थान्तर द्वारा किया गया है। इसलिए यहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार है।

विशेष—अनुषक्त पद का अर्थ प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध और अर्थान्तर का अर्थ अप्रस्तुत है। उदाहरण के प्रथम चरण में कही गई विशेष बात हनुमान् ने सागर का पार किया का समर्थन सामान्य बात 'महापुरुषों के लिए क्या कठिन है' से किया गया है। इसमें पहली बात प्रस्तुत है और दूसरी अप्रस्तुत। यह भी कहा जा सकता है कि सामान्य बात का समर्थन विशेष बात के उदाहरण से किया गया है। प्रस्तुत सामान्य बात है और अप्रस्तुत विशेष बात, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ प्रकरण का अभाव है।

अर्थान्तर का अर्थ प्रस्तुत का समर्थक अप्रस्तुत धर्म और न्यास का अर्थ समर्थन है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलंकार का नाम सार्थक है।

यह अलंकार कवियों को तथा जनसाधारण को अत्यन्त प्रिय है। इस अलंकार का समर्थक और सामर्थ्य अङ्ग लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाता है।

अन्तर—काव्यलिंग, दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा से इस अलंकार का अन्तर यह है कि काव्यलिंग में हेतु निष्पादक होता है, अर्थान्तरन्यास में हेतु समर्थक होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य से विशेष की और विशेष से सामान्य की पुष्टि की जाती है। विशेष वाला वाक्य सामान्य वाले वाक्य का एक अंग सा होता है, पर दृष्टान्त में ऐसा नहीं होता। अप्रस्तुत प्रशंसा में एक धर्म होता है, जबकि दृष्टान्त में दो धर्म। प्रतिवस्तूपमा में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से होता है और अर्थान्तरन्यास में सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य का समर्थन होता है। इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास में उपमेय अंग और उपमान अङ्गी होता है, जब कि प्रतिवस्तूपमा में दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं॥ ६८॥

यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव॥ ६९॥

अन्वयः—यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः (भवति, उदाहरणं यथा) स न जिग्ये महान्तः क्ष्माधरा इव दुर्धर्षाः (भवन्ति)।

व्याख्या—यस्मिन् = यत्र वाक्ये विशेषश्च सामान्यं च विशेषश्चेति विशेष-सामान्यविशेषाः अर्था भवेयुः तत्र विकस्वरः = विकस्वरनामालङ्कारो भवति। विशेषार्थसमर्थनाय सामान्यार्थे विन्यस्तेऽपि अपरितोषात् पुनर्विशेषार्थोपन्यासे विकस्वरालङ्कारः।

उदाहरति—स नेति। परैराक्रान्तोऽपि सः = वीरः न जिग्ये=नहि जितः यतो महान्तः = महापुरुषाः क्ष्माधरा इव = पर्वता इव दुर्धर्षाः = दुरभिभवाः, भवन्ति। यथा पर्वता दुर्धर्षाः तथा महान्तोऽपीति भावः। महापुरुषत्वादेव पर्वतादिवत् स न जितः इति सर्ववाक्याशयः। अत्र पूर्वविशेषार्थस्य ततो महान्तो दुर्धर्षा इति सामान्यार्थस्य पुनश्च क्ष्माधरा इव इति विशेषार्थस्य च न्यसनात् विकस्वरा-लङ्कारोऽस्ति।

जहाँ विशेष अर्थ की पुष्टि के लिए सामान्य अर्थ और उससे भी दृढ़तर पुष्टि के लिए पुनः विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाय, वहाँ विकस्वर अलङ्कार होता है। जैसे वह नहीं जीता गया, ठीक ही है, क्योंकि बड़े लोग अजेय हुआ करते हैं। जैसे पर्वत। यहाँ 'वह नहीं जीता गया' इस विशेष अर्थ की पुष्टि के लिए बड़े लोग अजेय हुआ करते हैं। इस सामान्य अर्थ द्वारा प्रथम समर्थन किया गया। इसमें सन्तोष न होने पर पुनः उसकी दृढ़तर पुष्टि के लिए 'जैसे पर्वत' इस विशेष अर्थ द्वारा समर्थन किया, अतः यहाँ विकस्वर अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में विशेष वर्णन 'वह पराजित नहीं हुआ' इसका समर्थन करने वाले दो वाक्य हैं एक 'महा पुरुष दुर्जेय होते हैं' (यह सामान्य वाक्य है) तथा दूसरा 'जैसे पहाड़ दुर्जेय होते हैं।' यह विशेष वाक्य है।

जयदेव की भाँति अप्पय दीक्षित ने भी यह अलंकार स्वीकार किया है, किन्तु उत्तरार्द्ध का उदाहरण ठीक नहीं माना है। अन्य आचार्यों ने तो इस अलंकार को माना ही नहीं है। पण्डितराज ने इस अलंकार का खण्डन करते हुए कहा है कि यह अलंकार अर्थान्तर न्यास या उपमा में गतार्थ हो जाता है, क्योंकि वह अनुग्राहक मात्र है। यदि इस अलंकार को मानेंगे तो आपत्ति यह आ जायेगी कि उपमा के अन्तर्गत जहाँ-जहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होगा, वहाँ-वहाँ नये-नये भेद मानने पड़ेंगे।

विकस्वर का अर्थ विकसित है। यहाँ विशेष अर्थ के विकास के लिए सामान्य अर्थ तथा विशेष अर्थ की सहायता ली जाती है। विशेष अलंकार उपमा के लिए होता है। इस प्रकार बीच में सामान्य अर्थ और दोनों ओर विशेष अर्थ होते हैं, जिनमें एक प्रायः पहला प्रस्तुत होता है ॥ ६९ ॥

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते।
तृणान्यङ्कुरयामास विपक्षनृपसद्मसु ॥ ७० ॥

अन्वयः—प्रस्तुतैः कार्याद्यैः उक्ते (सति) पर्यायोक्तिं प्रचक्षते (बुधाः, उदाहरति) विपक्षनृपसद्मसु तृणानि अङ्कुरयामास।

व्याख्या—पर्यायोक्तिं व्याचष्टे—कार्याद्यैरिति। प्रस्तुतैः=प्रकर्षेण स्तुतिविषयैः कार्याद्यैः=प्रस्तुते कारणादौ उक्ते=अभिहिते सति बुधाः पर्यायोक्तिमलङ्कारं प्रचक्षते=वदन्ति। पर्यायेण=प्रकारेण उक्तिः पर्यायोक्तिः, व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकारान्तरेण यत्र प्रतीतिः तत्र पर्यायोक्तिः।

उदाहरति—तृणानीति। हे राजन्! भवान् विपक्षनृपसद्मसु=शत्रुनराधिपानां गृहेषु तृणानि=घासान् अङ्कुरयामास=उत्पादयामास। अत्र शत्रुनृपगेहेषु तृणाङ्कुरोत्पत्तिरूपेण कार्येण शत्रुनृपमरणं कारणं प्रतीयते। शून्यगृहादावेव तृणादीनामुत्पत्तेः सम्भवात्।

प्रस्तुत कार्यादि से प्रस्तुत कारणादि की जहाँ उपस्थिति होती हो वहाँ पर्यायोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे हे राजन्! आप ने अपने शत्रुभूत राजाओं के महलों में घास उगवा दी। अर्थात् शत्रुओं के राजप्रासाद निर्जन होकर खँडहर हो गये और उनमें घास उग आई हैं।

विशेष—उक्त का अर्थ प्रस्तुत प्रकरण आदि अर्थों का कथन लगाया जाता है, पर्याय का प्रकार है। दूसरे प्रकार से कहने के अर्थ में पर्यायोक्ति का प्रयोग होता है। इस अलंकार में व्यङ्ग्य अर्थ को दूसरे प्रकार से कहकर वाच्य बना देते हैं। उदाहरण में व्यङ्ग्य अर्थ है। 'अपने दुश्मनों को नष्ट करके आपके उपाय फल दे रहे हैं' जिसे वाच्य रूप में वर्णित किया गया है। वाच्य का आशय है कि घास अंकुरित हो गयी अर्थात् शत्रु भाग गये जिससे घास साफ नहीं हो पाती और दुश्मनों के घर सूने हो जाने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। कोई व्यवस्था करने वाला नहीं रह गया है।

कुवलयानन्द का प्रस्तुत अलङ्कार इसी अलंकार के अन्दर आता है। उसकी परिभाषा

दूसरे ढंग की है। उसके अनुसार भिन्न भंगी से व्यङ्ग्य का कथन पर्यायोक्ति है। साथ ही दूसरी परिभाषा भी दी है, जिसकी बहाने से इष्ट सिद्ध करना पर्यायोक्ति है। भामह से लेकर सभी आचार्यों ने इस अलंकार का उल्लेख किया है। विश्वनाथ इस अलंकार की स्थिति तब मानते हैं जब प्रस्तुतकार्य से प्रस्तुत कारण का बोध हो।

पण्डितराज ने इसके अनेक भेद मानते हुए भी तीन भेद किये हैं, जो जयदेव को भी इष्ट है ऐसा आद्य पद से व्यक्त होता है।

अन्तर—व्याजस्तुति में निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा का अर्थ व्यङ्ग्य होता है। पर्यायोक्ति इस क्षेत्र को निकालकर मानी जा सकती है। व्याजस्तुति को यदि पृथक् अलंकार न माना जाय तो इस पर्यायोक्ति में अन्तर्भाव हो सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा में व्यङ्ग्य अर्थ ही अप्रस्तुत वर्णन में आता है और वाच्य अर्थ प्रस्तुत वर्णन में किन्तु पर्यायोक्ति में व्यङ्ग्य वाच्य परक होता है। जबकि अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य व्यङ्ग्य परक है ॥ ७० ॥

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।
कस्ते विवेको नयसि स्वर्गं पातकिनोऽपि यत् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः उक्तिः व्याजस्तुतिः (भवति, उदाहरणं यथा) विवेकः ते कः (यत्) पातकिनः अपि स्वर्गं नयसि।

व्याख्या—व्याजस्तुतिं निरूपयति—उक्तिरिति। निन्दा च स्तुतिश्चेति निन्दास्तुती ताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां = गर्हणाप्रशंसाभ्यां, स्तुतिनिन्दयोः = उक्तिः कथनं व्याजस्तुतिः—तन्नामालङ्कारः। निन्दया स्तुतेः स्तुत्या च निन्दायाः कथनं व्याजोक्तिरिति भावः।

उदाहरति—कस्त इति। हे गङ्गे! अयं ते कः विवेकः यत् पातकिनः = नरकगामिनोऽपि जनान् स्वर्गं = स्वर्गलोकं नयसि = प्रापयति। पुण्यं कर्म कुर्वाणा जनाः तवाम्भसि स्नात्वा यथा स्वर्गं गच्छन्ति तथैव पापात्मानोऽपि इत्युभयो समानैव गतिर्यदा भवेत्तदा सुकृतकर्मानुष्ठाने श्रद्धैव वा कस्य समुदेष्यति ?। अत्र ते विवेको नास्तीति निन्दाव्याजेन तत्प्रभावातिशयरूपा स्तुतिरेवावगता भवति।

जहाँ निन्दा से स्तुति तथा स्तुति से निन्दा का कथन हो वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है। जैसे हे गंगे! यह तेरा विवेक कैसा कि तू पापियों को भी स्वर्ग में ले जाती है। यहाँ जो स्वर्ग के अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पापियों को भी स्वर्ग में पहुंचाना रूप निन्दा से भगवती गंगा की लोकोत्तर महिमा और उनका पावनत्व प्रतीत होकर प्रशंसा ही होती है। इसीलिए यहाँ व्याजस्तुति है।

विशेष—निन्दा करने पर स्तुति और स्तुति करने पर निन्दा अर्थ निकलने पर यह अलंकार होता है। व्याज का अर्थ है छल, छल से स्तुति करने का अर्थ है निन्दा से स्तुति या स्तुति से निन्दा। छल से निन्दा को छिपाकर स्तुति करना (व्याज से स्तुति) या स्तुति

को छिपाकर निन्दा करना अर्थ निकलना (व्याजरूपा स्तुति) दूसरा अर्थ भी निकल सकता है।

उदाहरण में गंगा देवी की निन्दा की गयी है कि आप पापियों को भी स्वर्ग ले जाती हैं। आप में विवेकशीलता नहीं। इससे यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि यह स्नेह का उलाहना है या निन्दा के रूप में प्रशस्ति द्योतित करना है। इससे उलटे पतितपावनता रूपी लोकोत्तर महिमा का बोध भी होता है।

पण्डितराज ने जिसकी निन्दा, उसी की स्तुति होने पर समानविषयक व्याजस्तुति मानी है। अप्पय दीक्षित ने व्याज निन्दा नामक नया अलंकार देकर उसे अप्रस्तुतप्रशंसा में अन्तर्हित किया है।

उपर्युक्त प्रकार से इस अलंकार के दो भेद होते हैं, जो प्रचलित हैं। भामह, दण्डी, वामन और उद्भटने उस निन्दा के होने पर ही यह अलंकार माना है जिसका अर्थ प्रशंसा-परक होता है। इस तरह उनके अनुसार दूसरा भेद नहीं होता। दण्डी ने कुछ भेदों का वर्णन करते हुए अनन्त भेदों की संभावना व्यक्त की है। और अप्पय दीक्षित ने इसके पाँच भेद माने हैं।

अन्तर—व्याज स्तुति में अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की प्रशंसा और अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की निन्दा होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा ऐसी स्थिति में नहीं मानी जाती। पर्यायोक्ति में वाच्य तथा व्यंग्य दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं, जब कि व्याजस्तुति में अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की प्रशंसा ॥ ७१ ॥

आक्षेपस्तु प्रयुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रयुक्तस्य, विचारणात् प्रतिषेधः तु आक्षेपः (भवति, उदाहरणं यथा) चन्द्र ! आत्मानं संदर्शय (अथवा अलम्) प्रियामुखम् अस्ति।

व्याख्या—आक्षेपालङ्कारमाह—आक्षेप इति। प्रयुक्तस्य=उपमानत्वेनाविदित-प्रयोगस्य वस्तुनः विचारणात्=उपमेयेनैवैतत्कार्यं सेत्स्यति किमुपमानेनेति तर्कात्। यः प्रतिषेधः=निषेधः स आक्षेपः=आक्षेपनामालङ्कारः। हे चन्द्र !=चन्द्रमः ! आत्मानं=स्वस्वरूपं संदर्शय=प्रदर्शय अथवा=यद्वा अलमात्मदर्शनेन प्रियायाः=नायिकायाः मुखं=वदनम् अस्ति=विद्यत एव। तथा च तव दर्शनस्य प्रयोजनमेव नास्ति यतस्तव विजयि प्रियामुखमस्त्येव। तवापेक्षयाऽधिकं कार्यमनेन सेत्स्यत्यत-स्तव दर्शनं निष्फलमिति भावः।

प्रयोग किये गये उपमान का पुनः विचार कर जहाँ प्रतिषेध किया जाय, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। जैसे हे चन्द्र ! आप दर्शन दें अथवा रहने दें, आपके दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं। आपसे कहीं अधिक आनन्द देने वाला मेरी प्रिया का मुख मेरे पास

ही है। यहाँ उपमानभूत चन्द्रमा के दर्शन की प्रथम प्रार्थना की गयी, अनन्तर प्रिया के मुख को देखकर उसका निषेध कर दिया। इसलिए यह आक्षेप अलंकार है।

विशेष—उपमान का निषेधकर उपमेय से ही सन्तुष्टि इस अलंकार में तब की जाती है जब उपमेय को उपमान से बढ़कर स्वीकार किया जाता है। इसका अर्थ हुआ कि उपमेय में समस्त रूप मिलने से उपमान व्यर्थ हो जाता है। उदाहरण में पहले उपमान चन्द्र का वर्णन किया गया है, पुनः उसका निषेधकर उपमेय कामिनीमुख को पर्याप्त बताया गया है।

काव्यादर्श आदि में इसके अनेक भेद दिये गये हैं। यहाँ भेद नहीं दिये गये हैं। साधारणतः इसके दो भेद दिये जाते हैं। पण्डितराज ने सभी भेदों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपमान का निषेध केवल दिखावामात्र है, विवक्षित नहीं, विवक्षित है उपमेय की श्रेष्ठता। क्षेप का अर्थ है फेंकना, आक्षेप का अर्थ भी फेंकना ही अभीष्ट है। इसमें उपमान को तिरस्कारपूर्वक फेंक दिया जाता है। अतः इसका नाम अन्वर्थ ही है ॥ ७२ ॥

गूढाक्षेपो विधौ व्यक्ते निषेधे चास्फुटे सति।
हर सीतां सुखं किं तु चिन्तयान्तकढौकनम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—विधौ व्यक्ते निषेधे च अस्फुटे सति गूढाक्षेपः (भवति, उदाहरणं यथा) सीतां सुखं हर, किन्तु अन्तकढौकनं चिन्तय।

व्याख्या—विधौ=विधिवाक्ये व्यक्ते=स्पष्टे निषेधे=निषेधवाक्ये च अस्फुटे=अस्पष्टे सति गूढाक्षेपः=गूढाक्षेपानामालङ्कारः भवति। यत्र विधिः स्फुटो निषेधस्त्वस्फुटस्तत्र गूढाक्षेपः उदाहरति—हरेति। हे दशानन! त्वं सुखं=सुखपूर्वकं सीतां=जानकीम्, हर=चोरय, किन्तु अन्ते=अन्तस्य=यमराजस्य ढौकनं=गतिं चिन्तय=विचारय। सीताहरणेन तव मृत्यु र्नियतेति भावः। अत्र 'सीतां हर' इत्यादिना सीताहरणविधिः स्फुटः, किन्त्वन्तकीयढौकनम्, इत्यादिना तन्निषेधोऽस्फुटः।

जहाँ विधान स्पष्ट रूप से वर्णित हो और निषेध अस्पष्ट हो, वहाँ गूढाक्षेप नामक अलंकार होता है। जैसे हे रावण! तुम सीता का सुखपूर्वक हरण करो, किन्तु यमराज के आ जाने की बात भी जरा सोच लेना। यहाँ सीताहरण रूपविधि स्पष्ट है और उसका निषेध अस्पष्ट है। अतः गूढाक्षेप है।

विशेष—गूढाक्षेप के नाम से ऐसी प्रतीति हो रही है कि यह आक्षेप का भेद है, किन्तु परिभाषा में अन्तर होने के कारण इसे भेद के रूप में नहीं माना जा सकता। श्लोक के अन्तिम चरण में निषेध है, पर स्पष्ट नहीं, व्यञ्जना से किसी तरह निकाला जाता है। 'यम की गति का विचार करो, परपत्नी का हरण करने से यम मारकर नरकों में सड़ा डालेंगे। अतः ऐसा कुकृत्य मत करो। यह अर्थ निकलता है। श्लोक के तृतीय चरण में विधिवाक्य है। नहीं, मत आदि निषेधार्थक शब्दों से युक्त वाक्य निषेधार्थक और तद्विपरीत विध्यर्थ होते हैं। यह सीताहरण के लिए उद्यत रावण के प्रति मारीच की उक्ति है। गूढ का

अर्थ गुप्त रूप से (अस्पष्ट) और आक्षेप का अर्थ निषेध मानकर अर्थ अन्वर्थ समझा जा सकता है ॥ ७३ ॥

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु ।
अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं दन्दहीति माम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—गुणद्रव्यक्रियादिषु अनुपपत्तिः चेत् (तदा) विरोधः (भवति, उदाहरति) अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं मां दन्दहीति ।

व्याख्या—विरोधालङ्कारमाह—विरोध इति । गुणश्च द्रव्यं च क्रिया च गुणद्रव्यक्रियाः ता आदौ = आरम्भे येषां ते तेषु गुणद्रव्यक्रियादिषु अनुपपत्तिः = असंगतिः चेत्तदा विरोधः = विरोधालङ्कारः । अत्रादिना जातेरपि ग्रहणं तथा च यत्र द्रव्यगुणक्रियाजातीनां मिथोऽनुपपतित्वं तत्रायमलङ्कारः ।

उदाहरति—अमन्देति । चन्दनस्य = चन्दनवृक्षस्य स्यन्दः = द्रवः चन्दनस्यन्दः अमन्दः = बहलश्चासौ चन्दनस्यन्द इति अमन्दचन्दनस्यन्दः = अनल्पचन्दनद्रवः । स्वच्छन्दं = स्वेच्छानुसारं यथा स्यात्तथा मां दन्दहीति = अतिशयेन दहति । अत्र शीतप्रकृतेः चन्दनस्य दाहकत्वेनोक्तावापाततो विरोधः प्रतीयते । पर्यालोचिता सती विरहिण्या इयमुक्तिरित्यवगते, विरहे च चन्द्रचन्दनरोलम्बादीनां सन्तापजनकत्व-नियमात् पर्यवसाने विरोध एव ।

द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति वाचक पदार्थों में पारस्परिक असंगति होने पर विरोध अलंकार होता है । जैसे—चन्दन का पर्याप्त प्रलेप भी मुझे अत्यधिक जला रहा है । यह किसी विरहिणी नायिका की उक्ति है । चन्दनद्रव जलाता है । इसके सुनते ही प्रथम तो असंगत प्रतीत होता है, परन्तु विरहिणी की उक्ति जान लेने पर उसका समाधान हो जाता है, क्योंकि विरहावस्था में चन्द्र, चन्दन आदि शीतल पदार्थ भी सन्ताप दायक हुआ करते हैं । यहाँ अमन्द गुणवाचक, चन्दनत्व जातिवाचक, चन्दन द्रव्यवाचक और स्यन्दन क्रियावाचक है । इन चारों पदार्थों का दाहरूप क्रिया के साथ संगति नहीं बैठती । इसलिए विरोध अलंकार है ।

विशेष—अमन्द, चन्दन, चन्दनत्व और स्यन्द क्रमशः गुण, द्रव्य, जाति तथा क्रिया के वाचक हैं । इनके होने पर दाह घटना चाहिए, पर बढ़ रहा है, जिससे संगति ठीक नहीं बैठती, विरोध की स्थिति पैदा हो रही है । इस प्रकार की संगति दन्दहीति क्रिया के साथ नहीं बैठती । उक्त बात विरहिणी के बारे में कही गयी है, यह प्रतीति होते ही विरोध मिट जाता है, पर वाच्यार्थ में संगति नहीं बैठती । अतः विरोध अलंकार है ।

अप्पय दीक्षित इसे विरोधाभास कहते हैं, क्योंकि विरोध वास्तविक नहीं होता, केवल विलक्षणता लाने के लिए असंगति दिखाई गयी है । अनेक आचार्यों ने इसके अनेक भेद माने हैं । अन्य अलंकारों से इस अलंकार का भेद इस प्रकार है ।

अधिक में आधार की अपेक्षा आधेय की न्यूनता या अधिकता का वर्णन किया जाता है, जब कि विरोध में ऐसा नियम नहीं, विरोध में जोर असंगत पदों की संगति पर होता है। और अधिक में आधेय-आधार पर। विभावना और विशेषोक्ति में कार्यकारण भाव होता है, जो इस अलंकार में नहीं होता। इसी प्रकार इसका अन्तर विरोधाभास, विशेष, विषम और असंगति से भी देखा जा सकता है ॥ ७४ ॥

श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता।
अप्यन्धकारिणाऽनेन जगदेतत्प्रकाश्यते ॥ ७५ ॥

अन्वयः—चेत् श्लेषादिभूः विरोधः (तदा) विरोधाभासता मता (उदाहरति) अन्धकारिणा अनेन एतत् जगत् प्रकाश्यते।

व्याख्या—विरोधाभासमलङ्कारं व्याचष्टे—श्लेषादिभूरिति। चेत्=यदि श्लेषः आदिर्यस्यासौ श्लेषादिः तेन भवतीति श्लेषादिभूः = श्लेषादिजन्यः विरोधः = परस्परमसंगतिस्तदा विरोधाभासता = विरोधाभासो नामालङ्कारः मता = इष्टा। यत्र श्लेषेण विरोधपरिहारफलकं विरोधभानं तत्र विरोधाभास इति भावः।

उदाहरति—अपीति। अन्धं करोतीति अन्धकारी तेन अन्धकारिणा = अन्धकारवता अपि अनेन=शिवेन एतत्=इदं दृश्यमानं जगत् = विश्वं प्रकाश्यते = देदीप्यते। अत्र यः स्वयमन्धकारवान् स कथं जगत्प्रकाशको भवितुमर्हतीति विरोधः, अन्धकारित्वेन महादेवभासमाने तत्परिहारः।

श्लेष द्वारा जहाँ विरोध मालूम पड़े वहाँ विरोधालंकार होता है, जैसे अन्धकार को फैलाने वाले भगवान् शङ्कर से जगत् कैसे प्रकाशित हो सकता है। यहाँ जो स्वयं अँधेरे को फैलाने वाला है उससे संसार कैसे प्रकाशित हो सकता है। इसलिए विरोधाभास है। यहाँ शब्द श्लेष द्वारा अन्धक अरि ऐसा पदच्छेद कर अन्धकासुर का शत्रु जब अर्थ निकालते हैं तब विरोध नहीं रहता, प्रत्युत अन्धकासुर का नाश करने वाले भगवान् शङ्कर से वास्तविक प्रकाशता प्रतिपादित है।

विशेष—यहाँ श्लेष की स्थिति स्पष्ट होते ही विरोध दूर हो जाता है। अतः इस अलंकार का नाम विरोधाभास है। विरोधाभास्य भासः इस व्युत्पत्ति के अनुसार विरोधाभास शब्द से तल् प्रत्यय करने पर विरोधाभासता शब्द बनेगा। जिसका अर्थ होगा विरोधाभास का भाव। आभास शब्द का अर्थ है भ्रम। अतः जहाँ वास्तविक विरोध नहीं है, किन्तु केवल भ्रम के कारण विरोध प्रतीत होता है, वहाँ विरोधाभास की स्थिति होती है। आभास शब्द में आ का अर्थ ईषत् (थोड़ा) और भास का अर्थ है प्रगट होना है। इस तरह यह थोड़ा ही विरोध प्रगट कर भ्रम पैदा करता है। विरोधाभास में विरोध प्रायः अपि के द्वारा प्रगट किया जाता है और उसका परिहार हो जाने से यह अपि व्यर्थ सा हो जाता है।

इस अलंकार का नाम विरोध अधिक प्रचलित है। इसमें आभास को भी संमिलित कर लेने पर एक ही अलङ्कार हो जाता है, जैसा कि अनेक आचार्यों का मत है। यह नाम

अन्वर्थ है। आभास से अर्थ होता है कि इसका विरोध प्रसंगानुसार अभिधा से दूर हो जाता है जब कि विरोध में वाच्यार्थ से विरोध रहता है, विरोधाभास में दोनों अर्थ होते हैं—वास्तविक भी और भ्रामक भी, जिनसे प्रसंगानुसार वास्तविक अर्थ ले लिया जाता है और भ्रामक अर्थ अलंकार हो जाता है।

विभावना और विशेषोक्ति में विरोध अलंकार होते हुए भी केवल कार्य-कारणभाव में विरोध होता है, न कि अन्य क्षेत्रों में। विरोध अलङ्कार में इन दोनों का अन्तर्भाव हो सकता है। इन दोनों से बचे क्षेत्र में विरोध होगा। जैसे अपवाद नियमों के होने पर सामान्य नियम में माना जाता है। ऐसा कारण होने पर भी कार्य नहीं हुआ तथा कारण का अभाव होने पर भी ऐसा कार्य हुआ। यह अर्थ क्रमशः विशेषोक्ति और विभावना में अधिक स्वाभाविक रूप से निकलता है। विरोध में इतनी स्वाभाविकता से नहीं निकलता ॥ ७५ ॥

असम्भवोऽर्थनिष्पत्तावसंभाव्यत्ववर्णनम् ।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयिष्यति ॥ ७६ ॥

अन्वयः—अर्थनिष्पत्तौ असंभाव्यत्ववर्णनम् असंभवः (भवति, उदाहरणं यथा) कः वेद गोपशिशुकः शैलम् उत्पाटयिष्यति।

व्याख्या—असम्भवालङ्कारमाचष्टे—असम्भव इति। अर्थनिष्पत्तौ—अर्थस्य=भूतार्थस्य निष्पत्तौ=सिद्धौ सत्यामपि असम्भाव्यत्ववर्णनं—असंभाव्यत्वस्य असंभवताया वर्णनं=आख्यानम् नाम असंभवः=असम्भवालङ्कारः। कः=को जनः वेद=जानाति यत् गोपस्य=आभीरस्य शिशुकः=अर्भकः सप्तहायनो बालकः शैलं=गोवर्द्धनाख्यं पर्वतम् उत्पाटयिष्यति=उत्तोलयिष्यति।

भगवान् श्रीकृष्णः कनिष्ठिकाङ्गुलौ गोवर्धनपर्वतमुत्तोलयदिति यथार्थस्याप्यर्थस्य गोपशिशुः कथमिदं महत्कार्यं करिष्यतीत्यसंभाव्यत्ववर्णनादसंभवालङ्कारः।

कार्य सिद्ध हो जाने पर जहाँ सन्देह उपस्थित हो जाय वहाँ असंभव अलंकार होता है। जैसे कौन जानता है कि यह गोपालबालक गोवर्धन पर्वत को उठा लेगा। श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठा लेने पर लोगों ने सन्देह किया कि यह गोपालबालक इस कार्य को करेगा ऐसा कौन जानता था। यहाँ संशय वाक्य उपस्थित होने से असंभव अलङ्कार है।

विशेष—भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वापर युग में इन्द्र पूजा के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा करायी। जिस पर कुपित हो इन्द्र द्वारा प्रलयङ्कर वर्षा की जाने पर पर्वत को कनिष्ठा अँगुली पर उठाकर उन्होंने व्रज की रक्षा की थी।

असंभवता का अर्थ कार्य होने में सन्देह लिया जा सकता है। वास्तविक अर्थ अहीर का एक छोटा बच्चा इतना बड़ा पहाड़, जिसे महाबली पुरुष भी नहीं उठा सकते, कैसे उखाड़ सकेगा, यह सर्वथा असंभव है। इस तरह का अर्थ प्रगट होने से असंभाव्यता है।

पर्वत का उखाड़ना अर्थ की निष्पत्ति, इसमें गोपशिशु की सफलता की असंभाव्यता का वर्णन होने से असंभव अलंकार है। अप्पय दीक्षित ने भी यह अलंकार माना है, पर अन्य आचार्य स्वीकार नहीं करते ॥ ७६ ॥

विभावना विनाऽपि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
पश्य, लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—चेत् कारणं विना अपि कार्यजन्म स्यात्, तदा विभावना (भवति, उदाहरति) लाक्षारसासिक्तं त्वच्चरणद्वयं रक्तं (इति) पश्य।

व्याख्या—विभावनं व्याचष्टे—विभावनेति। चेत् = यदि कारणं = निमित्तं विनापि = अन्तरेणापि कार्यजन्म=फलोत्पत्तिः स्यात्तदा विभावना=विभावना नामालङ्कारो भवति। सति कारणे कार्यनियमः, परमिह तद्वैपरीत्यम्। विभाव्यते = प्रसिद्धकारणाभावाद् विशेषेण चिन्त्यते कारणं यस्यां सा विभावनेति व्युत्पत्तेः प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावनेति सरलार्थः।

उदाहरति—पश्येति। लाक्षारसेन = अलक्तकद्रवेण आसिक्तं = आलिप्तमिति लाक्षारसासिक्तं त्वच्चरणद्वयं = तव चरणयोः द्वयमिति त्वच्चरणद्वयं = त्वदपि पादयुगलं रक्तं = रक्तवर्णं जातमिति पश्य = अवलोकय।

अत्र चरणयुग्मस्य रक्ततोत्पादनरूपकार्योत्पत्तौ लाक्षारससेकरूपं कारणं विद्यते। परमिह तद्विनैव लौहित्योत्पत्तिरिति विभावनेति भावः।

कारण के विना जहाँ कार्य उत्पन्न हो वहाँ विभाजन अलंकार होता है। जैसे कोई नायक नायिका से कहता है कि, देखो, महावर के विना ही तेरे दोनों पैर कैसे लाल-लाल लग रहे हैं। पैर में महावर के लगाने पर ही लाली उत्पन्न होती है, परन्तु यहाँ उसके लगाये विना ही पैरों का लाल वर्ण का होना बताया गया है। इसलिए महावररूप कारण के विना ही पैरों के लाल वर्ण रूप कार्य की उत्पत्ति होने से विभावना अलंकार है।

विशेष—उदाहरण का वाक्य नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। उदाहरण में लाक्षारस से सिक्त होना कारण दिखाकर उसका अभाव कर दिया गया है। अलिप्त के साथ भी विवक्षित होने के कारण कारणाभाव पर जोर दिया गया है, जो इस अलंकार का प्राण है। पैरों का लाल होना कार्य है जो कारण के विना ही सम्पन्न हो गया है। अतः यहाँ विभावना है।

यह सार्वत्रिक नियम है कि पहले कारण होता है, फिर कार्य। यहाँ पहले कारण के अभाव में ही कार्य का हो जाना विभावना है। विभाव्यते = विचार्यंते कारणं = हेतुः अस्यामिति इस व्युत्पत्ति से जहाँ कारण का विचार किया जाय, अर्थ निकलने से अलंकार का नाम विभावना सार्थक हो जाता है।

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति असंभव है, पर कवि अपनी प्रतिभा से उसे संभव

कर दिखाता है। वैयाकरण विद्वान् कारण और कार्य के स्थान पर क्रिया और फल शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु साहित्य में वे शब्द प्रचलित न होने से त्याज्य हैं।

रुद्रट ने यह अलंकार अतिशयोक्ति वर्ग में रखा है। रुय्यक इसे सर्वत्र अतिशयोक्ति युक्त मानते हैं, पर पण्डितराज वैसा न मानकर कभी अतिशयोक्ति रहित होना भी मानते हैं। कहीं-कहीं इस अलंकार का निबन्धन माला रूप में किया जाता है।

असंगति, विशेषोक्ति, विरोध और विरोधाभास से इसका अन्तर द्रष्टव्य है। असंगति में कारण तो प्रसिद्ध होता है—पर उसका कार्य दूसरी जगह होता है। जब कि विभावना में प्रसिद्ध कारण का अभाव होता है। विशेषोक्ति अलंकार विभावना का ठीक उलटा होता है। विभावना में कारण का अभाव होता है और विशेषोक्ति में कार्य का अभाव। विभावना में विरोध अलंकार होते हुए भी केवल कार्य-कारण भाव में विरोध होता है, न कि अन्य क्षेत्रों में। विरोध अलंकार में इसका अन्तर्भाव हो सकता है, इससे बचे क्षेत्र में विरोध होगा ॥ ७७ ॥

विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे।
नमन्तमपि धीमन्तं न लङ्घयति कश्चन ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कारणे सति कार्यस्य अनुत्पत्तिः विशेषोक्तिः (भवति, उदाहरणं यथा) नमन्तमपि धामन्तं कश्चन न लङ्घयति।

व्याख्या—विशेषोक्ति व्याचष्टे—विशेषोक्तिरिति। कारणे = निमित्ते सति = विद्यमाने कार्यस्य = फलस्य अनुत्पत्तिः = उद्भवाभावः विशेषोक्तिः = विशेषस्य अनुत्पत्तिनिमित्तस्य उक्तिः=अवगतिर्यत्रेति तद् व्युत्पत्तिः। उदाहरति—नमन्तमपि। नमन्तं = नतमस्तकवन्तमपि धीमन्तं = बुद्धिमन्तं जनं कश्चन = कश्चिदपि पुरुषः न लङ्घयति = लङ्घयितुं न शक्तो भवति। अत्र सत्यपि नमनरूपकारणे लङ्घनरूपकार्यस्य अभावः प्रतिपादित इति विशेषोक्तिः।

कारण के रहते हुए भी जहाँ कार्य उत्पन्न न हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे—बुद्धिमान् पुरुष के झुक जाने पर भी उन्हें कोई लाँघ नहीं सकता। यहाँ झुकना रूप कारण के रहते हुए भी उल्लङ्घन रूप कार्य उत्पन्न नहीं होता। इसलिए विशेषोक्ति अलंकार है।

विशेष—कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति होना स्वाभाविक नियम है। कार्य का न होना कवि अपनी प्रतिभा के बल से संभव कर दिखता है। उदाहरण में बुद्धिमान् का झुकना कारण है! जो झुक गया उसे लाँघना आसानी है, पर उसे कोई लाँघ नहीं सकता। यह कह कर कार्य का अभाव दिखाया गया है। विरोध का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि सज्जन स्वभाव से ही नम्र होते हैं, न कि शरीर से।

इस अलंकार में विरोध की झलक पाई जाती है, पर वास्तविक कारण की कल्पना करने से उसका परिहार हो जाता है। दण्डी, उद्भट और अभिनव गुप्त विभिन्न भेद मानते

हैं। मम्मट, अभिनवगुप्त और विश्वनाथ उसका अनुसरण करते हैं। वामन की विशेषोक्ति रूपक से मिलती-जुलती है। केवल नाम का साम्य है।

अन्तर—यह अलङ्कार विभावना का ही ठीक उलटा है। उसमें कारण का अभाव है और इसमें कार्य का अभाव। असंगति में कार्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु भिन्न स्थान में, पर विशेषोक्ति में कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती। यही दोनों का अन्तर है। विशेषोक्ति में कारण के रहने पर भी कार्य नहीं होता और तद्गुण में गुण ग्रहण न करना कार्याभाव है। विशेषोक्ति में व्यापक तत्त्व के रहते कार्य नहीं होता और तद्गुण में केवल गुणरूपी कारण रहते कार्य नहीं होता। यही दोनों में अन्तर है ॥ ७८ ॥

आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसङ्गतिः।
त्वद्भक्तानां नमत्यङ्गं भङ्गमेति भवक्लमः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कार्यहेत्वोः भिन्नदेशत्वे आख्याते असङ्गतिः (भवति, उदाहरणं यथा) त्वद्भक्तानां अङ्गं नमति, भवक्लमः भङ्गम् एति।

व्याख्या—असङ्गतिमाचष्टे—आख्याते इति। कार्यहेत्वोः = कार्यकारणयोः भिन्नदेशत्वे = भिन्नाधिकरणत्वे आख्याते = प्रतिपादिते सति असङ्गतिः = असङ्गत्यलङ्कारः कार्यकारणवैयधिकरण्यमेव सा। उदाहरति आख्याते इति। ईश्वरं प्रति कस्यचिदुक्तिः हे भगवन्! त्वद्भक्तानां = भवत्सेवकानां अङ्गं = शरीरं नमति = भवत्यतिरेकात् प्रणामप्रवणतया शरीरमवनतं भवति। भवक्लमः = भवभीतिः भङ्गं = नाशम् एति = प्राप्नोति।

कार्य और कारण दोनों भिन्न देश में अवस्थित हों तो असङ्गति अलंकार होता है, जैसे—कोई ईश्वर से कहता है—हे भगवन्! आपके भक्तों का शरीर झुकता और सांसारिक दुःखों का विनाश होता है। यहाँ भक्तों के शरीर में नमस्कार रूप कारण की अवस्थिति है और उससे उत्पन्न भंगरूप कार्य की अवस्थिति सांसारिक दुःख में है। इस तरह कार्य और कारण के भिन्न देश में रहने से असंगति अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में झुकना कारण भक्तों के शरीर में है। उसका भंग फल (कार्य) भी उसी में रहना चाहिए, पर वह मिलता है दूसरी जगह। स्वाभाविक नियम है कि कारण और कार्य सम्बद्ध होते हैं। यहाँ कवि प्रतिभा से वह असङ्गति भी सङ्गति में बदलती है। भक्तों का भगवान् का प्रणाम करना सांसारिक कष्टों को दूर कर देता है।

अन्तर—विभावना में प्रसिद्ध कारण का अभाव होता है जब कि असंगति में कारण तो प्रसिद्ध होता है, पर उसका कार्य अन्यत्र मिलता है। अत्यन्तातिशयोक्ति में कारण-कार्य में कालगत पर असंगति में स्थान गत व्यतिक्रम होता है। विशेषोक्ति में कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती जब कि असंगति में कार्य की उत्पत्ति तो होती है, पर भिन्न स्थान में। विरोध से असंगति का अन्तर यह है कि विरोध में दो विरोधी वस्तुएँ एक साथ दिखाई जाती हैं। जब कि असंगति में कार्य और कारण का अलग-अलग स्थानों में रहना ॥ ७९ ॥

विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् ।
क्वातितीव्रविषाः सर्पाः क्वासौ चन्दनभूरुहः ॥ ८० ॥

अन्वयः—यदि अनौचित्यात् अनेकान्वयकल्पनं (तदा) विषमं (भवति, उदाहरणं यथा) क्व अतितीव्रविषाः सर्पाः, क्व (च) असौ चन्दनभूरुहः ।

व्याख्या—विषममलङ्कारमाचष्टे—विषममिति । यदि=चेत् अनौचित्यात्=अननुरूपत्वात् अनेकेषां पदार्थानामन्वयस्य=सम्बन्धस्य कल्पनं=वर्णनम् इति अनेकान्वयकल्पनम् तदा विषमं=विषमाख्योऽलङ्कारः । परस्परामानुरूप्यरहितयोः पदार्थयोः यत्र सम्बन्धो वर्ण्यते तत्र विषमालङ्कार इति फलितम् ।

उदाहरति—क्वेति । अतितीव्रविषाः—अतितीव्रं विषं येषां तेऽतितीव्रविषाः=अत्युग्रगरलाः सर्पाः=भुजङ्गमा क्व=कुत्र ? च असौ=सः, चन्दनभूरुहः=अतिशीतलः अतिसुगन्धः चन्दनवृक्षश्च क्व=कुत्र ? अत्र परस्परमननुरूपयोः सर्प-चन्दनपदार्थयोः सम्बन्धकल्पनाया अत्यन्तमनौचित्याद् विषमालङ्कारः ।

अनुचित रूप से अर्थात् सम्बन्ध के अयोग्य दो पदार्थों के सम्बन्ध की कल्पना करने स विषमालङ्कार होता है । तीव्र विषधर सर्प कहाँ ? और अति शीतल चन्दन वृक्ष कहाँ ? यहाँ तीव्र विषधर सर्प और शीतल चन्दन वृक्ष इन दोनों का अयोग्य सम्बन्ध होने से विषमालङ्कार है ।

विशेष—उदाहरण में यह दिखाया गया है कि जहर के उत्ताप से भरे हुए सर्प और शीतलता का आगार चन्दनवृक्ष का सम्बन्ध नहीं हो सकता । दोनों की चर्चा एक ही जगह आने से सम्बन्ध हो गया है, जो अनुचित है । अतः विषमालङ्कार है ।

उदाहरण में दो बार क्व का प्रयोग इस तरह अलग-अलग वाक्यों में करना मल्लिनाथ के अनुसार महान् अन्तर सूचित करता है । वह अन्तर इस प्रकार ही इस अलंकार में सामान्य रूप से दिखाया जाता है तथा कारण के गुण यहाँ जहर और कार्य के गुण यहाँ शीतलता में हैं । भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इस अलंकार की चर्चा नही की है तथा रुद्रट ने इसका उल्लेख पहली बार किया है । रुद्रट इसे अतिशयोक्तिमूलक मानते हैं । अनेक आचार्यों ने इसके भेद भी अनेक माने हैं ।

अन्तर—कार्य और कारणों का अलग-अलग स्थानों में रहना असंगति, और अनुचित वाले दो विरोधी वस्तुओं का एक साथ रहना विषमालङ्कार है । विरोध में दो विरोधी वस्तुएँ एक साथ दिखाई जाती हैं, जबकि विषम में कार्य के गुण और कारण के गुण में महान् अन्तर दिखाकर दोनों को साथ-साथ वर्णित किया जाता है । इस स्थिति की सत्ता हटाकर विरोध की सत्ता स्वीकार करनी होगी । विरोध उत्सर्ग है जिसका अपवाद है विषम । अधिक अलंकार में आधार और आधेय को बड़ा या छोटा दिखाया जाता है तथा विषम में कार्यगुण और कारण गुण का असदृश होकर साथ-साथ रहना ॥ ८० ॥

समम्औचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम् ।
अनुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—औचित्यतः अनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम् समं (भवति, उदाहरणं यथा) हारेण कुचमण्डलम् अनुरूपं सद्म कृतम् ।

व्याख्या—समनामकमलङ्कारं व्याचष्टे—सममिति । औचित्यतः=आनुरूप्यात् अनेकेषां=बहूनां वस्तूनां=पदार्थानां सम्बन्धवर्णनं=अन्वयकथनम् इति अनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम् समं=समनामकमलङ्कारो भवति । औचित्यं च परस्परशोभाजनकत्वम् । मिथोऽनुरूपयोः पदार्थयोः यत्र सम्बन्धो वर्ण्यते तत्र तदिति फलितम् ।

उदाहरति—अनुरूपमिति । हारेण=मुक्ताहारेण अनुरूपं=उचितं सद्म=निकेतनम् कृतं=विहितम् । अत्र हारकुचयोः अन्योऽन्यशोभाजनकत्वात् अनयोः सम्बन्धकल्पनया समालङ्कारः ।

जहाँ उचित रूप से अर्थात् परस्पर योग्य अनेक पदार्थों के सम्बन्ध का वर्णन किया जाय वहाँ समनामक अलंकार होता है । जैसे मुक्ताहारने अपने योग्य ही कुचमण्डल को अपना घर बना लिया । यहाँ अत्यन्त अनुरूप मुक्ताहार और स्तनमण्डल का सम्बन्ध वर्णित है । इसलिए सम अलङ्कार है ।

विशेष—यहाँ हार और स्तन का सम्बन्ध उचित रूप में किया गया है । अतः सम अलंकार है । सम का अर्थ है, साथ और बराबर दोनों । यदि अनुरूप वस्तुएँ साथ-साथ रहती हैं तो उनकी शोभा बढ़ती है । ऐसी शोभा के वर्णन में आना स्वाभाविक है, जिससे अलंकार की सत्ता स्वीकार की गई है । विषम अलंकार में विषम वस्तुएँ साथ होती हैं और सम में सम । अतः कुवलयानन्द के अनुसार यहाँ विषमालंकार भेदों की कल्पना उचित ही है । भामह दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने अपने ग्रन्थों में इस अलंकार की चर्चा नहीं की है, पर मम्मट ने इसका उल्लेख किया है । अनेक आचार्यों ने इसके भी कई भेद किये हैं । दो समान और असमान वस्तुओं का उचित रूप से योग दिखाकर भेद स्पष्ट किया जाता है ।

अन्तर—समुच्चय में एकत्र जैसी वस्तुओं का गुम्फ (जोड़ा जाना) प्रधान है, जब कि सम अलंकार में उनका साथ-साथ रहना, चाहे वे एक से रूप वाले शब्दों के रूप भी न हों ॥ ८१ ॥

विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः ।
नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—प्रयत्नः चेत् विपरीतफलप्रदः स्यात् (तदा) विचित्रं (भवति, उदाहरणं यथा) सन्तः त्रैलोक्यात् अपि समुन्नतिं लब्धुं नमन्ति ।

व्याख्या—विचित्रमलङ्कारं व्याचष्टे—विचित्रमिति । प्रयत्नः=उद्योगः चेत्=यदि विपरीतफलप्रदः=प्रतिकूलपरिणामः इच्छाविरुद्धफलजनकः स्यात्=भवेत्

तदा विचित्रं = विचित्रनामकमलङ्कारो भवति । यस्य हेतोः यत् फलमुचितं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कृतस्य कस्यचित् प्रयत्नो विचित्रालङ्कारः ।

उदाहरति—नमन्तीति । सन्तः = सत्पुरुषाः त्रैलोक्यात् = त्रिभुवनात् अपि समुन्नतिं = उन्नताम् लब्धुम् = अधिगन्तुम्, नमन्ति = नम्री भवन्ति । अत्र कृतो नमनरूपः प्रयत्नः तद्विपरीतस्य समुन्नतिफलस्य जनक इति विचित्रालङ्कारः ।

प्रयत्न यदि विपरीत फल को देने वाला हो तो विचित्र अलंकार होता है । जैसे, सत्पुरुष तीनों लोक से भी उन्नत होने के लिए नम्र होते हैं । यहाँ नमन रूपी प्रयत्न से तद्विपरीत उन्नति रूप फल की प्राप्ति वर्णित है । इसलिए यहाँ विचित्रालङ्कार है ।

विशेष—उन्नति फल के लिए ऊँचे उठने वाला प्रयत्न कारण होना चाहिए, पर सज्जन नीचे जाने का प्रयत्न करते हैं । यह उलटी बात होने से विचित्र अलङ्कार है । इसमें प्रतीयमान असंगति का परिहार यह है कि सज्जन स्वभाव से ही नम्रता दिखाते हैं, जो गुण है, शरीर न तो झुकते हैं, न नीच कर्म ही करते हैं । इस अलंकार के जनक रुय्यक हैं । विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज ने भी इसे माना है ॥ ८२ ॥

अधिकं बोध्यमाधाराद्धेयाधिक-वर्णनम् ।
यथा व्याप्तं जगत्तस्यां वाचि मान्ति न ते गुणाः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—आधारात्, आधेयाधिकवर्णनम् अधिकं बोध्यम् (उदाहरति) यथा जगत् व्याप्तं तस्यां वाचि ते गुणा न मान्ति ।

व्याख्या—अधिकमलङ्कारं लक्षयति—अधिकमिति । आधारात् = अधिकरणात् आधेयस्य = आधेयपदार्थस्य अधिकवर्णनं = अधिकस्य वर्णनम् अधिकं = अधिकनामालङ्कारो बोध्यं = ज्ञेयम् । यत्रादौ आधारस्य आधिक्यमुपवर्ण्य ततः तदपेक्षयाऽऽधेयस्य आधिक्यमुपवर्णनेऽचलाधिकालङ्कारः ।

उदाहरति—यथेति । ईश्वरं प्रति भक्तस्योक्तिः । हे भगवन् ! यया वाचा जगद्व्याप्तं तस्यां वाचि ते = तव गुणा न मान्ति = पर्याप्तमवकाशं न लभन्ते ! अत्र वाचो जगद् व्याप्तत्वमुपवर्ण्य आधारभूतायास्तस्याः आदावाधिक्यं प्रदर्शितम्, पुनः पृथुलायामाधारभूतायां तस्यामेव वाचि आधेयभूतानां गुणानां न मान्ति इत्यादिना आधिक्यमुपवर्णितमित्यधिकालङ्कारः । तव गुणानामियत्ता नास्तीति तेषां वचसा प्रकाशनं सर्वथा सम्भवमित्यर्थः ।

जहाँ आधार की अपेक्षा आधेय में अधिकता दिखाई जाय वहाँ अधिक अलंकार होता है । जैसे—कोई भक्त ईश्वर से कहता है कि हे भगवन् ! जिस वाणी से सारा संसार व्याप्त है । उस आधार रूप विशाल वाणी में आप के गुण समा नहीं पाते । यहाँ वाणी रूप आधार की अपेक्षा आधेय रूपी भगवान् के गुणों के आधिक्य वर्णन से अधिक अलंकार हुआ ।

विशेष—आधार हमेशा ऐसा होता है जिसमें आधेय समा जाय, पर यदि कविप्रतिभा से भी अधिक बड़ा बनाया जाता है तो अधिक अलङ्कार होता है। यदि वास्तव में आधेय आकार-प्रकार से बड़ा है तो उसके किसी तरह रखने में सफलता या विफलता से यह अलंकार नहीं हो सकता है।

उदाहरण में संसार भर को आधार बनाने की क्षमता वाली वाणी को पहले गुण का आधार बनाया पुनः यह स्वीकार किया कि गुणों की अधिकता इतनी है कि वे नहीं समाते। इसमें आधार से आधेय या आधेय से आधार के आधिक्य में दोनों की अधिकता का द्योतन आवश्यक होता है। मम्मट ने आधार-आधेय में आधिक्य की जगह न्यूनता के होने पर अधिक अलंकार माना है। रुद्रट ने इसे अतिशयोक्ति मूलक माना है।

विषम और विरोध से अधिक अलङ्कार का अन्तर इस प्रकार है—

विषम अलङ्कार में कारणगुण और कार्यगुण असदृश होकर साथ-साथ रहता है और अधिक अलङ्कार में आधार और आधेय का बड़ा या छोटा होना दिखाया जाता है। अधिक में आधार की उपेक्षा आधेय में न्यूनता या अधिकता का वर्णन किया जाता है, जब कि ऐसा नियम विरोध के लिए लागू नहीं। विरोध व्यापक है जिसके एक अंश से अधिक बनता है। अधिक क्षेत्र हटाकर विरोध की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी। विरोध में जोर असंगत पदों की संगति पर होता है और अधिक में आधार या आधेय पर ॥ ८३ ॥

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ॥ ८४ ॥

अन्वयः—यत्र परस्परम् उपकारः स्यात् (तत्) अन्योन्यं (स्यात्, उदाहरति) त्रियामा शशिना भाति, शशी (च) त्रियामया भाति।

व्याख्या—अन्योऽन्यालंकारं लक्षयति—अन्योन्यमिति। यत्र = यस्मिन् वाक्ये परस्परं = अन्योन्यम्, प्रति उपकारः = उपकार्युपकृतभावः तत्रान्योन्यालङ्कारः। परस्परोपकारकथनत्वमन्योन्यत्वमित्यर्थः। उदाहरति—त्रियामा इति। त्रियामा= रात्रिः शशिना = चन्द्रमसा भाति = शोभते शशी = चन्द्रश्च त्रियामया = रात्र्या भाति=शोभते। अत्र त्रियामाशशिनोः मिथः शोभाजनकत्वेनोपकारकत्वादन्योऽन्या-लङ्कारत्वम्।

जहाँ दो पदार्थ परस्पर एक दूसरे के उपकारक हों वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है। जैसे चन्द्रमा से रात्रि की शोभा होती है और रात्रि से चन्द्रमा की शोभा होती है। यहाँ चन्द्रमा और रात्रि दोनों एक दूसरे के शोभावर्द्धक होकर परस्पर उपकारक होते हैं। अतः अन्योन्य अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में रात चन्द्रमा का और चन्द्रमा रात का उपकारक है। अतः अन्योन्य अलंकार है। अन्योन्य का अर्थ परस्पर होता है। जहाँ परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का भाव हो वहाँ यह अलंकार होता है। क्रिया या कार्य एक होना आवश्यक

है। यह किसी चीज से उपकार करे और वह दूसरों से तब अलंकार नहीं हो सकता। एक के उपकारी होने पर दूसरा अपने आप उपकृत हो जायेगा। रुद्रट ने सबसे पहले इसकी चर्चा की है, किन्तु पूर्ववर्ती भामह, दण्डी और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया है ॥ ८४ ॥

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ख्यातम् आधारं विना अपि आधेयवर्णनं विशेषः (भवति, उदाहरति) सूर्ये अस्तं गते अपि दीपस्थाः तत्कराः तमः छिन्दन्ति।

व्याख्या—विशेषमलङ्कारं व्याचष्टे—विशेष इति। ख्यातं = विख्यातम्; आधारं = अधिकरणं विनापि = अन्तरेणापि आधेयस्य = निधेयस्य वर्णनं = कथनम् विशेषः = विशेषनामालङ्कारः। प्रसिद्धाधारं विना आधेयवर्णने विशेषालङ्कारः। यदुक्तम्—विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।

उदाहरति—गत इति। सूर्ये = रवौ गतेऽपि दीपस्थाः = दीपस्थिताः तत्कराः = सूर्यकिरणाः तमः = अन्धकारं छिन्दन्ति = नाशयन्ति। रात्रावादित्यस्याग्नौ प्रवेशादिति भावः। अत्रान्धकारस्य नाशने प्रसिद्धं किरणाधारं सूर्यं विनैव आधेयभूतानां तत्किरणानां वर्णनात् विशेषालङ्कारः।

जहाँ आधार के बिना ही आधेय का वर्णन हो वहाँ विशेषालंकार होता है। जैसे—दीप में स्थित सूर्य की किरणें सूर्य के अस्त हो जाने पर भी अन्धकार का नाश करती हैं। यहाँ किरणों के आधारभूत सूर्य के न रहने पर भी आधेयभूत किरणों की सत्ता वर्णित है। इसलिए विशेषालङ्कार है।

सूर्य आधार हैं और किरणें आधेय। सूर्य के न रहने पर किरणों का अन्धकार नाश करना संभव नहीं है, क्योंकि आधार के विना आधेय नहीं रह सकता, यही स्वाभाविक नियम है। यहाँ कवि प्रतिभा से अस्वाभाविक और असंभव भी स्वाभाविक और सम्भव हो गया है। अतः विशेष अलंकार है।

विशेष—सर्व प्रथम रुद्रट ने इस अलंकार को चलाया। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसकी चर्चा नहीं की है। रुद्रट और मम्मट इसे अतिशयोक्ति के अन्दर रखते हैं। पण्डितराज का कहना है कि इस अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती है। उनके अनुसार इसका अर्थ यह हो सकता है कि जो अलंकार किसी परिभाषा के अन्तर्गत न आयें उन्हें यहाँ रख दिया जाय। इसी आधार पर नागेश ने विशेष के दो भेद माने हैं। समुद्रबन्ध ने इस अलंकार की परिभाषा दी है कि जिसमें असंभव का संभव होना हो।

अन्तर—विरोध में अनेक प्रकार की विरोधी बातों का वर्णन हो सकता है। आधेय और आधार सम्बन्धी विरोध का नहीं। इसके विपरीत विशेष में आधार और आधेय सम्बन्धी विरोध का ही वर्णन होता है। इस प्रकार यह विरोध का अपवाद सा है। कई आचार्यों ने इसके भी अनेक भेद माने हैं जिसका उल्लेख उनके ग्रन्थों में मिलता है ॥ ८५ ॥

स्याद् व्याघातोऽयथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते।
यैर्जगत् प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुधः॥ ८६॥

अन्वयः—अन्यक्रियं वस्तु अयथाकारि (उच्यते, तदा) व्याघातः स्यात्। (उदाहरति) यैः जगत् प्रीयते कुसुमायुधः तैः एव हन्ति।

व्याख्या—व्याघातं व्याचष्टे—स्यादिति। अन्यक्रियं–अन्यं = अपरा क्रिया = कार्यं यस्य तत् अन्यक्रियं वस्तु = पदार्थः अयथाकारि = विरुद्धक्रियम्, अवलम्ब्य केनचित् पुरुषेण यद्वस्तु यत्प्रकारकं विदितम्। अन्यो जनः तेनैवोपायेन तदेव वस्तु अन्यप्रकारं विदधाति तदा विहितवस्तुव्याहतितया व्याघातो नामालङ्कारः।

उदाहरति—यैः = कुसुमैः जगत् = भुवनं प्रीयते = प्रसाद्यते तैरेव कुसुमैः कुसुमायुधः = पुष्पधन्वा कामः जगत् हन्ति = मारयति। अत्र पूर्वं यानि कुसुमानि जगत्प्रीतिजनकतया वर्णितानि तान्येव पुनः पूर्वक्रियाविरोधिमारणक्रियाकारितयोपन्यस्तानीति व्याघातः।

जिस वस्तु से जो कार्य किया जाता है उस वस्तु से यदि उसके विपरीत कार्य किया जाय तो उसे व्याघात कहते हैं। जैसे जिन पुष्पों के द्वारा जगत् प्रसन्न किया जाता है उन्हीं पुष्पों से कामदेव संसार को दुःखी करता है। यहाँ प्रथम तो पुष्पों से जगत् का प्रसन्न किया जाना बताया गया, बाद उन्हीं से उसके विपरीत जगत् का सताया जाना वर्णन किया गया है। अतः यहाँ व्याघात अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में पुष्प का अस्त्र जैसा कार्य करना विरुद्ध कार्य है। अतः यहाँ व्याघात अलंकार है। पुष्प का कार्य सबको प्रसन्न करना है। यह तीसरे चरण में बताया है, पुनः चौथे चरण में उसका मारक अस्त्र के रूप में कार्य करना दिखाया गया है।

'किसी को बैगन अपथ्य किसी को बैगन पथ्य' कहावत इस अलङ्कार का अच्छा उदाहरण है। एक ही वस्तु एक को अच्छी और दूसरे को खराब लगती है। या एक ही वस्तु का प्रयोग एक कर्ता एक कार्य में करता है तो दूसरा दूसरे कार्य में, यही होना सामान्य रूप से इस अलंकार की परिभाषा है।

इस अलंकार के प्रवर्त्तक मम्मट हैं। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट ने इस परिभाषा का कोई अलंकार नहीं माना है। रुद्रट ने व्याघात अलंकार तो लिखा है, पर परिभाषा दूसरी दी, केवल नाम मात्र का साम्य है।

किसी वस्तु से विलक्षण कार्य लेना प्रयोक्ता की श्रेष्ठता का द्योतक है। इस अर्थ में इस अलंकार में व्यतिरेक अलंकार मूल है। इसी आधार पर जयरथ ने व्यतिरेक के विना इस अलंकार को असंभव बताया है, इस प्रकार अनेकों के मत से यह अलङ्कार अप्रसिद्ध है॥८६॥

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथा प्राक्प्रान्तकारणैः।
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः॥ ८७॥

अन्वयः—यथा प्राक्प्रान्तकरणैः गुम्फः कारणमाला स्यात् (उदाहरति) नयेन श्रीः, श्रिया त्यागः, त्यागेन विपुलं यशः (भवति)।

व्याख्या—कारणमालां व्याचष्टे-गुम्फ इति। प्राक् च प्रान्तं च प्राक्प्रान्ते प्राक्प्रान्ते अतिक्रम्य वर्तेते इति यथा प्राक्प्रान्तं यानि कारणानीति हेतवः तानि यथा प्राक्प्रान्तकारणानि तैः तथाभूतैः=यथा प्राक् करणैः यथा प्रान्तकरणैश्च परं परं प्रति पूर्वपूर्वस्य कारणैः पूर्वं पूर्वं प्रति परपरस्य कारणैश्च गुम्फः=रचना-विशेषः कारणमाला=कारणमालालङ्कारः। यदा परं परं पदार्थं प्रति पूर्व-पूर्वस्य पदार्थस्य, पूर्वं पूर्वं पदार्थं प्रति परपरस्य पदार्थस्य हेतुता भवति तदा कारणमालालङ्कारद्वयम्। तथाहि पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका कारण-माला, पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमिति द्वितीया कारणमाला।

तत्र द्वितीयामुदाहरति—नयेनेति। नयेन=नीत्या श्रीः=लक्ष्मीः, श्रिया=लक्ष्म्या त्यागः=दानम्, त्यागेन=दानेन विपुलं=प्रचुरम्, यशः=कीर्तिः भवति। अत्र परं परं श्रीत्यागयशोरूपपदार्थं प्रति पूर्वपूर्वस्य नयश्रीत्यागरूपस्य पदार्थस्य हेतुतेति प्रथमा कारणमाला। द्वितीया यथा—कुवलयानन्दे—

'भवन्ति नारका पापात् पापं दारिद्र्यसम्भवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद्दानपरो भवेत्॥'

अयं भावः—पापात् नरकावाप्तिः, दारिद्र्यात् पापोत्पत्तिर्भवति, दानस्य च अप्रदानेन मानवो दरिद्रो भवति। तस्मात् सामर्थ्यवता पुंसाऽवश्यं दानं कर्तव्यम्। अत्र पूर्वनरकपापदारिद्र्याणि कार्याणि ततश्च तेषां कारणानि पापदारिद्र्या-प्रदानानि—इति द्वितीया कारणमाला ज्ञेया।

जहाँ पूर्व-पूर्व पद उत्तर-उत्तर पदों के प्रति कारण होते जायँ वहाँ प्रथम कारणमाला नामक अलंकार होता है और जहाँ उत्तर-उत्तर पद अपने पूर्व-पूर्व पदों के प्रति कारण होते जाँय वहाँ द्वितीय कारण माला होती है। जैसे—नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से त्याग (दान), त्याग से अनन्त यश की प्राप्ति होती है। यहाँ पूर्व-पूर्व नीति, लक्ष्मी और त्याग पद क्रमशः अपने उत्तरोत्तर पद लक्ष्मी, दान और यश रूप पदों के कारण हैं।

इसी तरह द्वितीय कारण माला भी, जैसे यश त्याग से, त्याग लक्ष्मी से, लक्ष्मी नीति से प्राप्त होती है। यहाँ यश, त्याग और लक्ष्मी इनको कार्य बतलाया गया है और बाद में त्याग, लक्ष्मी तथा नीति को उनका कारण बतलाया गया है। इस तरह पूर्व-पूर्व पद उत्तर-उत्तर पदों के कार्य होने से द्वितीय कारण माला हुई।

विशेष—उदाहरण में नय श्री के, श्री त्याग के, और त्याग यश के पहले कारण रूप आया है। अतः यहाँ कारण माला अलङ्कार माना गया है।

जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित और जयरथ उक्त परिभाषा ही मानते हैं और इसके दो भेद भी किये हैं, पर इनके अनुयायी जयदेव ने एक ही उदाहरण दिया है। पर मम्मट और रुय्यक केवल वहाँ कारण माला मानते हैं, जहाँ पहले आने वाले पद बाद में आने वाले पदों के कारण हों, अन्यत्र नहीं।

कारण नां हेतूनां माला=शृंखला कारणमाला इस व्युत्पत्ति के अनुसार कारणों की पंक्ति होने पर यह अलंकार होता है जिससे इसका नाम सार्थक हो जाता है। कार्यमाला भी नाम हो सकता है। पण्डितराज ने भग्न प्रक्रम दोष के निवारणार्थ ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि जो शब्द कार्य एवं कारण दोनों होते हैं, वे दो-दो बार आते हैं, पर्यायवाची शब्द से काम नहीं चल सकता, उन्हीं शब्दों की आवृत्ति आवश्यक है।

अन्तर—एकावली अलंकार में पूर्व पदार्थ का उत्तर पदार्थ विशेषण या विशेष्य होता है, जब कि कारणमाला में कार्य या कारण। मालादीपक में कार्य-कारणभाव या—कारण—कार्य भावन होने से कारणमाला से वह भिन्न है जिसमें वह भाव होता है॥ ८७॥

गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता।
नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौ दोर्मूलदोलिनौ॥ ८८॥

अन्वयः—गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिः एकावली मता (उदाहरति) नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौ दोर्मूलदोलिनौ।

व्याख्या—एकावलीमाह—गृहीतेति। गृहीता स्थापिता च मुक्ता=त्यक्ता चेति गृहीतमुक्ता सा चासौ रीतिः=विशेष्य-विशेषत्वप्रतिपादनशैली तया निबद्धा या अर्थानां=पदार्थानां श्रेणिः=पङ्क्तिः इति गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिः एकावली मता। उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः, पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषभावो वा गृहीतमुक्तरीतिः। 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरप्रामाण्यादेकावली=हारविशेषः। एका चासौ आवली चेति कर्मधारयः। एकलतिका एकावली प्रोच्यते तथा च तत्सादृश्यादलङ्कारे लक्षणा। पूर्वं पूर्वं प्रति परं परं विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन च स्थापितमपोहितं च यत्रेति तत्रैकावली।

पूर्वं पूर्वं प्रति परपरस्य विशेषणत्वस्थापनेऽपोहने चोदाहरति—नेत्र इति। राजवर्णनमुपक्रम्य तस्य भूभुजः नेत्रे=नयने कर्णान्तयोः=कर्णमूलयोः विश्रान्ते=श्रमापनोदनार्थं नेत्रप्रान्तपर्यन्तं कृतनिवासे आस्ताम्। कर्णौ च दोर्मूलयोः=भुजमूलयोः दोलनं ययोरस्तीति दोर्मूलदोलिनौ=स्कन्धावलम्बिनौ स्तः।

अत्र कर्णौ पूर्वं नेत्रयोः विशेषत्वेन गृहीतौ अनन्तरं विशेषणत्वेन गृहीतयोस्तयोर्विशेषणत्वेन त्यागः विशेष्यत्वेन ग्रहणं चेत्येकावल्यलङ्कारः।

पहले किसी पद को विशेष्य अथवा विशेषण रूप से ग्रहण करने के बाद में उसको उससे हटावे। इस तरह की परम्परा को एकावली अलंकार कहते हैं। जैसे उस राजा के नेत्र कान तक लम्बे हैं और कान कन्धे तक लम्बे हैं। यहाँ 'कर्णान्तविश्रान्ते' इस पद को प्रथम नेत्र का विशेषण बनाया, बाद इसी विशेषण को 'दोर्मूलदोलिनौ' का विशेष्य बनाया। इसलिए यह एकावली अलङ्कार है।

विशेष—पहले विशेष्य देकर किसी पद का विशेषण के रूप में ग्रहण और पुनः विशेषण के बन्धन से मुक्त कर उसे विशेष्य बना देना एकावली है। उसके अनुसार नेत्र के विशेषण में कर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है, पुनः उस कर्ण शब्द को विशेष्य बनाकर आगे का वर्णन किया गया है।

एकावली उस हार को कहते हैं, जिसमें केवल एक लड़ी होती है। यहाँ एक लड़ी में विशेष्य-विशेषण एक-एक का अन्तर देकर पिरोये जाते हैं। अतः लक्षणावृत्ति से यह नाम सार्थक है।

जैसे एकावली में एक दाना दूसरे से, दूसरा तीसरे से जुटता है, उसी प्रकार इस अलंकार के विशेष्य-विशेषण रूपी दो प्रकार के दाने एक दूसर से जुटते चले जाते हैं। उदाहरण में नेत्र कर्ण से और कर्ण कन्धे से जुटे हैं।

उदाहरण में विश्रान्त शब्द मनोहर है—आँखें कान तक पहुँचने में थक कर विश्राम कर रही हैं। दूसरी ओर मूलदोली शब्द भी इसी टक्कर का है। कान अपने स्थान पर दूसरे नेत्र का गुण देखकर दूसरे स्थान की खोज करने में गतिशील है।

रुद्रट इस अलंकार के उद्भावक हैं। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसकी चर्चा नहीं करते। मम्मट, रुय्यक, पण्डितराज और अप्पय दीक्षित इसके दो भेद मानते हैं।

अन्तर—कारण माला में कार्य-कारण विशेषण और विशेष्य होते हैं जब कि एकावली में पूर्व पदार्थ का उत्तर पदार्थ विशेषण या विशेष्य होता है। माला दीपक में दीपक अलंकार के भी मिश्रण से एक ही क्रिया या एक ही गुण होता है, जब कि इस अलंकार में दीपक का मिश्रण न होने से एक ही क्रिया या गुण न होना चमत्कार में कमी लाता है। पूर्व-पूर्व पद का उत्कर्ष कारक परपर पद होने पर एकावली और परपर का उत्कर्ष कारक पूर्व-पूर्व पद होने पर माला दीपक होता है॥ ८८॥

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते ।
स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः॥ ८९॥

अन्वयः—दीपकैकावलीयोगात् मालादीपकम् उच्यते (उदाहरति) स्मरेण तस्या हृदये स्थितिः कृता तेन (च) त्वयि स्थितिः कृता।

व्याख्या—मालादीपकं व्याचष्टे—दीपकेति। दीपकं च एकावली च दीपकैकावल्यौ तयोः योगात्=सम्बन्धात् मालादीपकयोरेकत्र समावेशात् मालादीपकम् उच्यते=कथ्यते अलङ्कारिकैर्विद्वद्भिः।

उदाहरति—स्मरेणेति । नायकं प्रति दूत्या उक्तिः । स्मरेण = कामेन तस्याः = नायिकाया हृदये = हृदि स्थितिः = अवस्थानम्, कृता = विहिता, तेन = तस्या हृदयेन त्वयि = भवति स्थितिः कृता । स्थितिपदं वाक्यद्वयान्वयि सदुभयत्र हृदये नायके च सम्बद्धमतो दीपकम् । एवमेव पूर्वं स्मराधारतया हृदयं वर्णयित्वा तदनन्तरं तत्त्यागपूर्वकं नायकाधारतया वर्णितमिति गृहीतमुक्तरीति सद्भावादेकावली चेत्यनयो-रेकत्र योगान्मालादीपकम् ।

दीपक और एकावली के मेल को मालादीपक कहते हैं । जैसे—नायक से दूती कहती है—कामदेव ने उस नायिका के हृदय में स्थिति की उस नायिका के हृदयने आप में । यहाँ हृदय और नायक दोनों के साथ स्थिति पद का सम्बन्ध रहने से दीपक अलंकार है ।

और पहले हृदय को कामदेव का आधार बताया, बाद में आधारभूत उसी हृदय को नायक का आधेय बताया । इसलिये एकावली भी हुआ । इस तरह दोनों का एकत्र योग होने से मालादीपक अलंकार हुआ ।

विशेष—दीपक अलङ्कार का लक्षण ५।५३ में तथा एकावली अलंकार का लक्षण ५।८८ में आ चुका है । यहाँ स्मर का नायिका हृदयस्थित होना और नायिका हृदय का नायक स्थित होना आया है । इस प्रकार दोनों अलंकारों का मिश्रण होने से यहाँ मालादीपक नामक नवीन अलङ्कार हो गया है । प्रथम नायिका हृदय का मदन आधार के रूप में ग्रहण कर पुनः उसे आधार बनाने के कार्य से मुक्त कर नायक हृदय का आधेय बना दिया गया है । इस प्रकार एकावली का पूरा लक्षण लागू किया जा सकता है ।

उदाहरण—नायक के प्रति दूती की उक्ति है । कारण माला तथा इस अलंकार में माला शब्द उतना उपयुक्त नहीं है, जितना रचना या श्रृंखला शब्द होता । जिस तरह रशना या श्रृंखला में एक कड़ी दूसरी कड़ी से और दूसरी तीसरी से जुटती जाती है और क्रम चलता जाता है उसी तरह उक्त दो अलंकारों में भी शब्द जुटते चले जाते हैं ।

इस अलंकार में दीपक अलंकार की केवल एक बात मिलती है कि अनेक पदार्थ एक ही गुण या क्रिया से सम्बद्ध होते हैं, शेष दो बातों की सदृशता और प्रकृत-अप्रकृत का वर्णन आना आवश्यक नहीं है । पण्डितराज इस अलंकार को अन्तर्भाव एकावली में करते हैं। इसमें वे दीपक का एकान्त अभाव मानते हैं ।

अन्तर—मालादीपक में दीपक अलंकार के मिश्रण से एक ही क्रिया या एक ही गुण होता है जबकि एकावली में दीपक का मिश्रण न होने से एक ही क्रिया या गुण न होना चमत्कार में कमी लाता है ॥ ८९ ॥

सारो नाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरम् ।
सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तवः ॥ ९० ॥

अन्वयः—सारतायाः यथोत्तरं पदोत्कर्षः सारः (उदाहरति) सारस्वतं सारं तत्र काव्यं तत्र (अपि) शिवस्तवः ।

व्याख्या—सारमलङ्कारं व्याचष्टे—सार इति। सारतायाः = उत्कृष्टतायाः यथोत्तरं = उत्तरमुत्तरम् पदोत्कर्षः = वस्तूत्कर्षः सारः = सारनामालङ्कारः। अत्र संसारे सारस्वतया इदं सारस्वतं = वाङ्मयं शास्त्रं सारं = तत्त्वं वर्तते, तत्रापि = शास्त्रेऽपि काव्यं = कविकर्म, कवितादि, सारं = श्रेष्ठं तत्रापि च = काव्येऽपि च शिवस्तवः = शिवस्तुतिरूपं काव्यं सारमस्ति। अत्र सारस्वत-काव्य-शिवस्तवाना-मुत्तरोत्तमुत्कर्षतायाः वर्णनात् सारनामालङ्कारः।

जहाँ उत्कृष्टता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाय वहाँ सार नामक अलंकार होता है। जैसे—इस संसार में विद्या ही सार (श्रेष्ठ) है, उसमें भी काव्य सार है, काव्यों में भी शिव-स्तुतिपरक महिम्नस्तोत्रादि काव्य श्रेष्ठ हैं। यहाँ सारता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने से सार नामक अलंकार है।

विशेष—सार शब्द को देखने से प्रतीत होता है कि यह पुलिंग ही है, किन्तु नपुंसक लिंग भी है तथा विशेषण होने के कारण तीनों लिगों में प्रयुक्त होता है।

उदाहरण में पहले एक बड़े क्षेत्र वाङ्मय को श्रेष्ठ बताया गया, बाद काव्य को, पुनः उसमें भी शिव महिम्न-स्तोत्रादि काव्य को सर्वोत्तम बताया गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता निश्चय का उत्कर्ष होने से यही सार अलंकार है। इस प्रकार इसका निष्कर्ष यह है कि संसार में वाङ्मय सर्वश्रेष्ठ है, उसमें काव्य, काव्य में भी शिवस्तुति।

सर्वप्रथम रुद्रट ने इस अलंकार की चर्चा की है, किन्तु भामह, दण्डी, रुद्रट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया है। पण्डितराज और अप्पय दीक्षित ने क्रमशः इसके दो और तीन भेद भी माने हैं।

कारणमाला, एकावली, माला दीपक और सार में शृंखला पाई जाती है किन्तु थोड़ा-थोड़ा अन्तर होने के कारण उन्हें भेद रूप में न देकर स्वतन्त्र अलङ्कार रूप में दिया गया है।

श्रेष्ठता की जगह श्रेष्ठता और तुच्छता के उत्कर्ष में भी कुवलयानन्द में यह अलङ्कार माना गया है। और पण्डितराज पदार्थों के उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों में इसे मानते हैं। इस प्रकार इसके अनेक भेद सम्भावित हैं॥ ९०॥

उदारसारश्चेद्भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः।
मधुरं मधु पीयूषं तस्मात्तस्मात्कवेर्वचः॥ ९१॥

अन्वयः—चेत् यथोत्तरं भिन्नः गुणः अभिन्नतया भाति (तदा) उदारसारः (स्यात्, उदाहरणं यथा) मधु मधुरं तस्मात् पीयूषं तस्मात् कवेः वचः।

व्याख्या—उदारसारमलङ्कारमाह—उदारेति। चेत् = यदि यथोत्तरं = उत्कृष्टतया वर्ण्यमानो भिन्नः = विसदृशोऽपि गुणः अभिन्नतया = एकरूपतया भाति = प्रतीयते तदा उदारसारः = उदारसारनामालङ्कारः।

उदाहरति—मधुरमिति। अत्र संसारे मधु=क्षौद्रं मधुरं=इष्टम् तस्मात् मधुनो मधुरं पीयूषम्=अमृतम्, अस्ति, तस्मात्=पीयूषात् मधुरं कवेः=काव्य-कर्तुः वचः=वचनं काव्यमस्ति। तस्मात् काव्यादधिकं मधुरं किमपि संसारे नास्ति। विश्वस्मिन् सर्वतोऽधिकं माधुर्यं काव्ये एव वर्तते इति भावः।

यदि भिन्न गुण भी अभिन्न मालूम पड़े तो उसको उदारसार अलंकार कहते हैं। जैसे, मधु अधिक मधुर है, उससे भी अधिक मधुर अमृत है, अमृत से भी अधिक मधुर कवि की वाणी = काव्य है। काव्यमाधुर्य श्रोत्रेन्द्रिय से, अमृत माधुर्य रसनेन्द्रिय से जानने के कारण दोनों के भिन्न होते हुए भी यहाँ अभिन्न रूप से कहा। इसलिए उदारसार अलंकार है।

विशेष—मधुर गुण रसना का विषय है, जो मधु और अमृत में पाया जाता है। वचन में नहीं। कवि वचन में भिन्न गुण = श्रोत्र विषय रमणीयता पाया जाता है जिसे अभिन्न रूप में वही मधुर गुण बताया जाने से उदारसार अलंकार है।

कम से कम तीन पदार्थों से उत्तरोत्तर उत्कृष्टता दिखाने से ही यह अलंकार हो सकता है, जिससे शृंखला बन सके।

शब्द की विशेषता इस अलंकार का मूल है। मधुर शब्द से रसना विषय माधुर्य और श्रोत्र विषय माधुर्य प्रकट कर इस अलंकार की सृष्टि हुई है॥ ९१॥

यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः।
शत्रुं मित्रं द्विषत्पक्षं जय रञ्जय भञ्जय॥ ९२॥

अन्वयः—द्विधा अर्थाः चेत् क्रमात् एकैकम् अन्विताः (भवेयुस्तदा) यथा-संख्यम्। उदाहरति—शत्रुं मित्रं द्विषत्पक्षं (क्रमेण) जय, रञ्जय, भञ्जय।

व्याख्या—यथासंख्याख्यमलङ्कारं व्याचष्टे—यथासंख्यमिति। द्विधा= द्विप्रकारकाः क्रियाकारकरूपाः अर्थाः=वाच्याः क्रमात्=क्रमेण एकैकं=एकमेकं प्रति अन्विताः=अन्वयं लभमानाः भवेयुः तदा यथासंख्यं=यथासंख्यालङ्कारो भवति। क्रमेणोक्तानां कारकाणां क्रियाणां वा तेनैव क्रमेण कारकेण क्रियासु अन्वयो यथासंख्यमित्यर्थः।

उदाहरति—शत्रुमिति। हे राजन्! त्वं शत्रुं जय=रिपुं विजयस्व, मित्रं रञ्जय=सुहृदयमानन्दय, द्विषत्पक्षं भञ्जय=वैरिणो विनाशय। अत्र पूर्वं शत्रु-मित्यादिपदकर्मकारकार्थान् पदार्थान् अभिधाय ततो जयेत्यादिक्रियारूपा अर्था अभिहिताः। एतेषु च प्रत्येकं कर्मकारकस्य क्रमशः क्रियान्वये शत्रुं जय, मित्रं रञ्जय, द्विषत्पक्षं भञ्जयेत्यर्थोपस्थितेः सङ्गतिः।

यदि क्रिया और कारक रूपपदार्थ क्रम से एक-एक में अन्वित होते हों तो यथासंख्य अलङ्कार होता है। जैसे, हे राजन्! आप शत्रु को जीतें, मित्र को प्रसन्न करें और शत्रुपक्ष का विनाश करें।

यहाँ प्रथम शत्रु, मित्र और द्विषत्पक्ष इन कर्म कारकों को बतला कर अन्त में क्रम से इनको जय, रञ्जय और भञ्जय इन क्रियाओं को बताया। इसलिए यहाँ यथासंख्य अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में कारक और क्रियाओं के अलग-अलग वर्ग बना दिये गये हैं। और क्रमशः उन्हें लगाने से अर्थ प्राप्त होता है। ऐसी व्यवस्था पाणिनीय सूत्रों की अष्टाध्यायी के 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र के अनुसार अर्थ करने पर मानी जाती है। यथासंख्य नाम भी यहीं आ गया है।

उदाहरण का सरल अर्थ है—शत्रु को जीतो, मित्र को अनुरक्त करो और वैरीपक्ष का विनाश कर दो। पहले आये हुए शत्रु, मित्र और द्विषत्पक्ष कर्मकारक हैं। इनके बाद आये तीन शब्द क्रिया पद हैं। इनका क्रमशः अन्वय हुआ है। इस अलंकार के आवर्तक भामह हैं। वामन कारक शब्दों में उपमेय-उपमान भाव होना आवश्यक मानते हैं, पर शेष आचार्य उपमेय-उपमान भाव से उत्पन्न विशेष चमत्कार के अभाव में भी इसे पर्याप्त चमत्कार सम्पन्न मानकर अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं ॥ ९२ ॥

पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः।
पद्मं मुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनीवदनोपमा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—एकस्य अनेकत्र समन्वयः स्यात् चेत् (तदा), पर्यायः (भवति, उदाहरति) कामिनीवदनोपमा पद्मं मुक्त्वा चन्द्रं गता।

व्याख्या—पर्यायमलङ्कारं व्याचष्टे—पर्याय इति। एकस्य=एकपदार्थस्य अनेकत्र=अनेकेषु स्थलेषु समन्वयः=सम्बन्धः स्यात्=भवेत् तदा पर्यायः= एतन्नामालङ्कारः। उदाहरति—पद्ममिति। कामिन्याः=सुन्दर्या नायिकायाः वदनस्य =मुखस्य उपमा=सादृश्यमिति कामिनीवदनोपमा=सुन्दरीमुखसादृश्यं पद्मं= कमलं मुक्त्वा=त्यक्त्वा, चन्द्रं=चन्द्रमसं गता=प्राप्ता। अयं भावः कामिनीवदन- स्योपमा दिवसे कमले आसीत्, रात्रौ कमलानि सङ्कोचमञ्चन्तीति तदुपमा चन्द्रे गता। अत्रैकस्याः कामिनीवदनोपमायाः पद्मचन्द्राद्यनेकत्राधारतया वर्णनात् पर्यायालङ्कारः।

यदि किसी एक पदार्थ का अनेक पदार्थ के साथ क्रम से सम्बन्ध रहे तो पर्याय अलङ्कार होता है, जैसे—कामिनी के मुख का सादृश्य रात्रि के समय कमल को छोड़कर चन्द्रमा को प्राप्त हुआ। तात्पर्य है कि कमल दिन में खिलता है और रात्रि में सङ्कुचित होता है। इस- लिए कामिनी के मुख का सादृश्य रात्रि में चन्द्रमा को प्राप्त हुआ। अर्थात् दिन के समय पद्म में और रात्रि के समय चन्द्रमा में मुख सादृश्य रहता है।

यहाँ मुख सादृश्य रूप एक पदार्थ का पद्म और चन्द्रमा रूप पदार्थों के साथ क्रम से सम्बन्ध रहने से पर्याय अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में एक पदार्थ कामिनी वदनोपमा का अन्वय पद्म और चन्द्र में हो रहा है। अतः पर्याय है। पद्म को छोड़ने से स्पष्ट है कि उस पद्म से उस वदनोपमा का सम्बन्ध था, अन्यथा छोड़ने की बात कैसे आती। दिन में कामिनी मुख पद्म की समता प्राप्त करता है और रात में चन्द्रमा की। इस तरह समता पद्म से चन्द्र में संक्रान्त हो जाती है। रात में पद्म के सिकुड़ने और चन्द्रमा के उदित होने से पहले पदार्थ से हुई समता समाप्त हो जाती है और दूसरे से शुरू होती है। ऊपर के श्लोक से क्रमात् शब्द यहाँ भी अध्याहृत होगा, ऐसा गंगाभट्ट का मत है। वैसी स्थिति में इस अलंकार में यथासंख्य का भी मिश्रण हो जायेगा और विशेष चमत्कार होगा।

इस अलङ्कार के उद्भावक रुद्रट हैं, किन्तु वे एक से अनेक का तथा अनेक का एक से दोनों स्थितियों में पर्याय मानते हैं। और वस्तु का मुख आदि स्वभाव से युक्त होना बताते हैं। अनेक आचार्यों ने इसकी अनेक बातें निकाल कर परिभाषा मानी है। रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज और अप्पय दीक्षित ने इसके चार भेद माने हैं और रुद्रट ने दो। रुद्रट ने एक और परिभाषा पर्याय अलंकार की मानी है ॥ ९३ ॥

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।
जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—न्यूनाधिकयोः मिथः विनिमयः परिवृत्तिः (स्यात्, उदाहरति) एकं शरं मुक्त्वा शत्रुयोषितां कटाक्षान् जग्राह।

व्याख्या—परिवृत्तिं व्याचष्टे—परिवृत्तिरिति। न्यूनाधिकयोः—न्यूनस्य= अल्पस्य अधिकस्य=महतः मिथः=परस्परं विनिमयः=परिवर्तनं परिवृत्तिः= परिवृत्त्यलङ्कारः। न्यूनेन अधिकग्रहणवर्णने अधिकेन वा न्यूनग्रहणवर्णने परिवृत्त्यलङ्कारः। परिवर्तनमिति परिवृत्तिः सा च किञ्चिद्वस्तु दत्वा किञ्चिदादानरूपा। इदन्तूपलक्षणं समेन समग्रहणकथनस्यापि परिवृत्तिर्भवति। अत्र न्यूनत्वादिकं संख्यया कृतं स्वरूपकृतं च।

उदाहरति—भूपतिः एकं शरं=बाणं मुक्त्वा=त्यक्त्वा शत्रुयोषितां वैरिवनितानां कटाक्षान्=नेत्रप्रान्तभागान् जग्राह=गृहीतवान्। एकेन बाणेन शत्रून् निर्जित्य तदीयवनितानामनेकसंख्याकान् कटाक्षान् स्वीचकार। शत्रुयोषितः पतिहन्तारं राजानं भूयो भूयो हि सकटाक्षं पश्यन्तीति भावः। अत्रैकशरदानेनानेकवैरिवनितानां कटाक्षग्रहणात् संख्याकृताधिक्यनामरूपा परिवृत्तिः।

न्यून और अधिक से परस्पर अदला-बदली करने पर परिवृत्ति अलंकार होता है, जैसे किसी राजा ने शत्रुओं पर एक बाण छोड़कर शत्रु स्त्रियों के अनेक कटाक्ष रूप बाणों को ग्रहण किया। तात्पर्य यह है कि शत्रुओं की तरुण पत्नियों ने एक बाण के बदले अनेकों कटाक्ष रूप बाणों से राजा को आहत किया। इसलिए परिवृत्ति अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में एक बाण देकर अनेक कटाक्ष प्राप्त किये। इस प्रकार अल्प से अधिक का परिवर्तन किया है। परिवृत्ति के परिवर्तन में यही विशेषता है कि समान वस्तुओं का परिवर्तन नहीं होता। भयविह्वल होकर शत्रु नारियाँ अपने पति के घातक के प्रति कटाक्षपात कर रही हैं। उन कटाक्षों की प्राप्ति, राजा को अपने एक शत्रुमारक बाण के विनिमय में होती है। यहाँ विनिमय कविकल्पित होना जरूरी है। वास्तविक होने पर अलंकार नहीं होगा।

परिभाषा में विनिमय शब्द अति उपयुक्त है, जिसका अर्थ एक वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लेना होता है। परिवृत्ति का भी यही अर्थ है।

सर्वप्रथम भामह ने इस अलंकार की चर्चा की है। मम्मट ने इस अलंकार के तीन भेद माने हैं और पण्डितराज ने चार भेद किये हैं ॥ ९४ ॥

परिसङ्ख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु स्वान्तेषु न नतभ्रुवाम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—एकं निषिध्य अन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणं परिसंख्या (भवति, उदाहरति) प्रदीपेषु स्नेहक्षयः न नतभ्रुवां स्वान्तेषु।

व्याख्या—परिसंख्यालङ्कारं व्याचष्टे—परिसंख्येति। एकस्मिन् स्थले एकं किमपि वस्तु निषिध्य = प्रतिषिध्य अन्यस्मिन् स्थले तस्यैव वस्तुनो यन्त्रणं = नियन्त्रणं, नियमनं परिसंख्या = परिसंख्यालङ्कारो भवति। एकस्यैव वस्तुन एकत्र निषेधेऽपरत्र च शब्दसाम्येन तस्यैव वस्तुनः सद्भावकथनमित्यर्थः। परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थकः संख्या = बुद्धिः, एवं वर्जनबुद्धिः परिसंख्येति नाम्नो निर्वचनम्।

उदाहरति—प्रदीपेषु = दीपकेषु स्नेहस्य = तैलस्य अनुरागस्य वा क्षयः = नाश इति स्नेहक्षयः = तैलक्षयः न = नहि, किन्तु नतभ्रुवां = सुन्दरीणां स्वान्तेषु = मनःसु। अत्र श्लेषमहिम्ना स्नेहपदस्य तैलानुरागोभयरूपार्थोपस्थापकतया तैलरूपार्थव्यञ्जकस्नेहरूपवस्तुनः रजन्यां दीपेष्वस्तित्वं निषिध्य तस्यैव वस्तुनोऽनुरागरूपस्य स्नेहस्य तद्भिन्नस्थले कान्तास्वान्तेऽवस्थितेर्नियमनात् उक्तलक्षणसङ्गतिः।

किसी वस्तु का एक जगह निषेध बतलाकर उसी वस्तु का दूसरी जगह यदि अस्तित्व कहा जाय तो उसे परिसंख्या कहते हैं। जैसे, रात्रि में दीपक में स्नेह (तैल) क्षय होता है, किन्तु सुन्दरियों के अन्तःकरण में नहीं। स्नेहशब्द श्लिष्ट होने से प्रेम और तेल दोनों का बोधक है। यहाँ स्नेहरूप वस्तु का दीपक में अभाव बतलाकर उसी का अस्तित्व सुन्दरियों के अन्तःकरण में बताया। इसलिए यह परिसंख्या अलंकार है।

विशेष—श्लेष की महिमा से स्नेह शब्द दीपक के वर्णन में तेल का और हृदय के वर्णन में अनुराग का बोधक होता है। उदाहरण के अनुसार स्नेह का अभाव दीपक में हुआ, न कि सुन्दरियों के हृदय में। इस प्रकार एक जगह दीपक के प्रसंग में निषेध और दूसरी जगह नियमित सत्ता होने से परिसंख्या है।

'परेर्वर्जने' (८।१।५) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार परि का अर्थ निषेध है। संख्या का अर्थ बुद्धि है। इस प्रकार निषेध की बुद्धि जिस वर्णन के प्रसंग में पैदा हो वहाँ यह अलङ्कार होता है। इस तरह यह शब्द कुछ-कुछ सार्थक है। संख्या का अर्थ गणना लेने पर निषेधपूर्वक गणना अर्थ करने से अलङ्कार का नाम पूर्णतः अन्वर्थ हो सकता है।

रुद्रट ने इस अलङ्कार की चर्चा सबसे पहले की है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। रुद्रट और पण्डितराज इसके चार भेद मानते हैं।

श्लेष युक्त होने पर यह अलङ्कार विशेष शोभा दायक हो यह स्वाभाविक है। सुबन्धु, बाणभट्ट और त्रिविक्रम के गद्यों में इस अलङ्कार की शृंखला अत्यन्त रमणीयता ला देती है।

परिसंख्या शब्द पूर्वमीमांसा में भी आया है। उसके अनुसार परिसंख्या विधि उस विधि को कहते हैं जहाँ दो पक्षों में एक का अत्यन्त निषेध और दूसरे का कम निषेध हो। जैसे—

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
गोधा कूर्मः शशः खड्गी शल्यकश्चेति ते स्मृताः॥'

अर्थात् पाँच नखों वाले पाँच जानवर खाये जा सकते हैं। शेष जानवरों को कदापि नहीं खाना चाहिए। इन पाँच जानवरों को भी तभी खाना चाहिए जब कोई चारा न हो। यही पूर्वमीमांसा की परिसंख्या काव्य में चमत्कार रीति से कहने पर अलङ्कार हो जाती है। साहित्य में यह शब्द विधि निषेध युक्त अर्थ में ले लिया गया है, जिसमें वह सूक्ष्मता छोड़ दी गयी है जो विवशता की स्थिति में सामान्यतः निषेध ही सूचित करती है ॥ ९५ ॥

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः ।
कान्ताचित्तेऽधरे वाऽपि कुरु त्वं वीतरागताम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—तुल्यबलयोः चातुरीयुतः विरोधः विकल्पः (भवति, उदाहरति यथा) त्वं कान्ताचित्ते अधरे वा अपि वीतरागतां कुरु।

व्याख्या—विकल्पं व्याचष्टे—विकल्पेति। तुल्यबलयोः=समसामर्थ्ययोः चातुरीयुतः=चातुर्येण विहितः कविकुशलतानिष्पादितः विरोधः=युगपत् कथनं विकल्पः=विकल्पालङ्कारः। युगपत् कर्तुमशक्ययोः द्वयोः कार्ययोः युगपत् कथनविकल्पालङ्कार इति भावः।

उदाहरति—कान्ता इति। खण्डिताया नायिकाया नायकं प्रतीयमुक्तिः—हे, प्रिय! मदीयेयं कान्तेति त्वया कृतप्रतिज्ञाया कान्ताया मम चित्ते=हृदये अधरे=स्वस्य अधरे वीतरागितां=अनुरागशून्यत्वं रक्तताशून्यत्वं वा कुरु=विधेहि। मय्यनुरागभावं स्वाधरेऽन्यनायिकाकर्तृकताम्बूलरक्तवर्णभावं च कुरु इति भावः। अत्र युगपत् कर्तुमशक्यस्य मिथो विरुद्धकार्यद्वयस्य चातुर्येण शक्यत्ववर्णने विकल्पालङ्कारः।

एक समय में न होने वाले परस्पर विरुद्ध दो भावों का चातुरी से यदि एक ही साथ

होना बताया जाय तो विकल्पालङ्कार होता है। जैसे तू अपनी प्रियतमा (परकीया) के हृदय में वीतरागिता उत्पन्न कर अथवा अपने होठों पर वीतरागिता उत्पन्न कर। यहाँ एक ही समय में परस्पर विरुद्ध दोनों भावों का होना असंभव होते हुए भी चतुराई के साथ उसे संभव कर दिखाया है। इसलिए विकल्प अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में नायिका के हृदय में अनुराग का अभाव तथा नायक के अधर में रक्तिमा का अभाव इन दो तुल्यबल वाले पदार्थों का वर्णन विरोध होने पर भी चतुरतापूर्ण रीति से एक साथ किया गया है। नायिका के हृदय में स्थित अनुराग और दूसरी नायिका के चुम्बन से अधर की रक्तिमा दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। एक बार में केवल एक ही होगी यह चेतावनी है। विदग्धतापूर्ण रीति से विरोध होते हुए भी दोनों को एक साथ दिखाया गया है। यह खण्डिता नायिका की उक्ति है।

जिस प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार उपमा अलङ्कार का विलोम होता है उसी प्रकार यह अलङ्कार समुच्चय अलङ्कार का विलोम है। अलङ्कार का बीज सादृश्य है। दोनों विरोधी बातों में समान धर्म का होना जरूरी है। यहाँ समान वीतरागिता है।

विकल्प का अर्थ दो बातों में एक को चुनना। यहाँ उदाहरण में दो विकल्प हैं। एक परस्त्री का सम्बन्ध छोड़ो, जिससे अब उसके चुम्बन से उसके ओठों की ललाई तुम्हारे अधर में न लगने पावे। अथवा मेरे हृदय को अपने प्रति अनुरक्त करो। इसका तात्पर्य यह है कि नायिका तबतक रूठी रहेगी जबतक नायक परस्त्री का सम्बन्ध न छोड़ेगा। रुय्यक ने सर्वप्रथम इस अलङ्कार का वर्णन किया है। उनके पूर्ववर्ती आचार्य इसकी चर्चा नहीं करते। नागेशभट्ट ने चमत्कार के अभाव में इसे अलङ्कार नहीं माना है। कुछ लोग इसे सन्देह अलङ्कार में अन्तर्भूत मानते हैं॥ ९६॥

भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति भ्रश्यन्ति च तव द्विषः॥ ९७॥

अन्वयः—एकसम्बन्धभाजां भूयसां गुम्फः समुच्चयः (भवति, उदाहरति) (हे राजन्) तव द्विषः नश्यन्ति, पश्यन्ति पश्चात् भ्रश्यन्ति च।

व्याख्या—समुच्चयालङ्कारं व्याचष्टे—भूयसामिति। एकं सम्बन्धं भजन्तीति एकसम्बन्धभाजस्तेषामेकसम्बन्धभाजाम् = शत्रुरूपैकसम्बन्धनताम् भूयसां = बहूनाम् बहूनां क्रियायां, बहूनां गुणानां, बहूनां कारकाणां च गुम्फः = वर्णनम् रचना वा समुच्चयः = समुच्चयालङ्कारः। युगपत् पदार्थानामन्वयः समुच्चय इति भावः।

उदाहरति—नश्यन्तीति। हे राजन्! तवः = भवतः, द्विषः = शत्रवः नश्यन्ति = राज्यच्युता भवन्ति, पश्यन्ति = विलोकयन्ति, पश्चात् = अनन्तरं च भ्रश्यन्ति = भ्रष्टा भवन्ति। अत्रानेकक्रियाणां नाश-दर्शन-भ्रंशरूपाणामेकशत्रुरूपपदार्थकथनेन लक्षणसङ्गतिः।

एक के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने वाली अनेक क्रियाओं की रचना को समुच्चय कहते हैं। जैसे—हे राजन्! आपके शत्रु=राज्यच्युत, नष्ट होते हैं, पुनः राज्य की ओर देखते हैं तो भ्रष्ट हो जाते हैं। यहाँ शत्रु नाश रूप एक कार्य में नश्यन्ति, पश्यन्ति, भ्रश्यन्ति इन तीन क्रियाओं का सम्बन्ध होने से समुच्चय अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में नश्यन्ति, पश्यन्ति, भ्रश्यन्ति इन तीनों क्रियाओं का जो समान रूप से द्विषः से सम्बन्ध वाली है, वह गुम्फन क्रिया है। समुच्चय का अर्थ है एक साथ जोड़ना। च के द्वारा दो शब्दों के बीच सम्बन्ध दिखाया जाता है।

अन्तर—कुवलयानन्द का दीपक अलङ्कार इसके अन्तर्भूत हो जाता है। गुण, क्रिया और कारकों का असंकीर्ण रूप से गुम्फन इस अलङ्कार में अभीष्ट है। काव्यलिंग में कारण वाक्यगत होता है, पर समुच्चय में अनेक कारणभूत शब्द एक कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं। कारकदीपक और समुच्चय में कोई विशेष भेद नहीं, पर अधिक बारीकी में जाने पर कहा जा सकता है कि कारक दीपक में क्रियायें क्रमशः होती हैं और उनका कर्ता समान होता है, जबकि समुच्चय में क्रियायें एक साथ आती हैं और कर्ता कारक आसान (अनेक) भी हो सकते हैं। समाधि अलङ्कार में एक प्रधान कारण के कार्य निष्पन्न कर देने पर दूसरा गौण कारण आकर सरलता उत्पन्न करता है। इसके विपरीत इस अलङ्कार में बहुत से प्रधान कारणों का संग्रह होता है॥ ९७॥

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसन्निधेः।
उत्कण्ठितां च कलयन् जगामास्तं च भानुमान्॥ ९८॥

अन्वयः—कारणान्तरसन्निधेः कार्यसौन्दर्यं (स्यात्तदा) समाधिः (भवति, उदाहरति) उत्कण्ठितां कलयन् भानुमान् अस्तं जगाम।

व्याख्या—समाधिमाचष्टे—समाधिरिति—अन्यत् कारणं कार्यान्तरं तस्य सन्निधिः=सामीप्यं तस्मात् कारणान्तरसन्निधेः कार्यसौकर्यं—कार्ये=फले सौकर्यं=सारल्यमिति कार्यसौकर्यं स्यात्तदा समाधिः=समाधिनामालङ्कारो भवति। साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा प्रारब्धं कार्यं यदक्लेशेन समाधीयते स समाधिरिति फलितम्।

उदाहरति—उत्कण्ठितामिति। उत्कण्ठितां=प्रियस्यान्तिकं गन्तुमुत्सुकताम् कलयन्=जनन्नपि भानुमान्=सूर्यः अस्तं जगाम=स्तमितो बभूव। अत्र प्रियाभिसरणे उत्कण्ठारूपकारणे वर्तमानेऽपि भाग्येन सूर्यास्तभयादुदितेनान्धकारेण तत्राधिकं सौकर्यं जातमिति समाधिः।

एक कारण के रहते हुए भी कारणान्तर द्वारा यदि कार्य सिद्धि में सौकर्य हो जाय तो उसे समाधि अलंकार कहते हैं। जैसे—अभिसारिका की उत्कण्ठा को जानते हुए भी सूर्य अस्त हो गये। तात्पर्य यह कि अपने प्रिय के घर जाने में अभिसारिका की उत्कण्ठा ही

प्रबल थी, इसके लिए कोई कारणान्तर की आवश्यकता ही न थी तथापि सूर्य के अस्त हो जाने पर उससे उत्पन्न अन्धकार के द्वारा अभिसरण में उसको विशेष सरलता प्राप्त हुई। इसलिए यहाँ समाधि अलङ्कार है।

विशेष—इस अलंकार में एक कारण मुख्य होता है और दूसरा सहयोगी के रूप में आता है। दोनों कारण मुख्य के लिए होते हैं। उदाहरण में उत्कण्ठिता होना अभिसार के कार्य का पर्याप्त कारण है। सूर्यास्त के होते ही एक नया कारण अन्धकार आ गया, जिससे अभिसार के कार्य में सरलता हुई।

इस अलङ्कार में काकतालीय न्याय से दूसरा कारण उपस्थित हो जाता है। कालतालीय-न्याय संयोग के लिए आता है। जैसे काक के बैठने पर अकस्मात् ताड़ का फल गिर पड़े उसी तरह अकस्मात् कोई कार्य उपस्थित हो जाय तब यह न्याय कहा है। इस अलङ्कार को समझाने के लिए 'खले कपोतन्याय' की भी मदद ली जा सकती है। जैसे धान की प्राप्ति के लिए खल (अन्न संचित करने का स्थान–खलिदान) की ओर अनेक कबूतर एक साथ उड़ते हैं उसी प्रकार जहाँ अनेक कारणों के एक साथ पहुँचने से कार्य की सिद्धि होती है। 'सम्यक् आधिः=आधानम् कार्य सौकर्यस्येति समाधिः। इस व्युत्पत्ति से भलीभाँति कार्य कर सकने की सुकरता की आधि=स्थापना अर्थ करने पर इस अलङ्कार का नाम सार्थक हो जाता है।

आचार्य दण्डी ने इस अलङ्कार का उल्लेख समाहित नाम से किया है। दण्डी का उदाहरण सभी ने उद्धृत किया है, केवल पण्डित राज ने नहीं किया है।

अन्तर—समुच्चय अलङ्कार से इसका भेद इस प्रकार है कि समुच्चय में अनेक कारण भूत शब्द एक कार्य के लिए प्रयुक्त होते हैं। और क्रियाएँ एक साथ आती हैं और कार्य असमान भी हो सकता है। समाधि में एक प्रधान कारण के कार्य निष्पन्न कर देने पर दूसरा गौण कारण आकर सरलता उत्पन्न करता है ॥ ९८ ॥

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधः कृतौ ॥ ९९ ॥

अन्वयः—बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः प्रत्यनीकं (भवति, उदाहरति) उत्पलाभ्यां जैत्रनेत्रानुगौ कर्णौ अधः कृतौ।

व्याख्या—प्रत्यानीकमलङ्कारमाह—प्रत्यनीकमिति। बलवतः=शक्तिशालिनः शत्रोः=अरेः पक्षे=सहायके पराक्रमः=बलप्रयोगः प्रत्यनीकं प्रत्यनीकनामालङ्कारः। बलवच्छत्रुपराभवासमर्थकर्तृकशत्रुसम्बन्धिपदार्थपराभववर्णने प्रत्यनीकालङ्कारः।

उदाहरति—उत्पलाभ्यां=कमलाभ्यां जैत्रयोः=जयनशीलयोः नेत्रयोः=नयनयोः अनुगौ=अनुगामिनौ इति जैत्रनेत्रानुगौ कर्णौ=श्रवणे अधः कृतौ=तिरस्कृतौ। अवतंसतया तदुपरि स्थितत्वादधस्ताद्विहितौ। अत्रोत्पलाभ्यां स्वजैत्रे=नेत्रे जेतुमशक्ये। अतो नेत्रानुगकर्णपराभवप्रतिपादनात् प्रत्यनीकालङ्कारः।

बलवान् शत्रुपर विजय प्राप्त न हो सकने के कारण यहाँ उसके सहायक पर विजय वर्णित हो, वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। जैसे—कमलों ने अपने विजयी नेत्रों के साथी कर्णों को दवा दिया। अर्थात् नायिका ने कानों पर शोभा के लिए जो कमल लगाये। तात्पर्य यह है कि नायिका के नेत्र कमलों से अधिक सुन्दर थे। कमल उनको जीत न सके। इसलिए उन्होंने सदा नेत्र के पीछे रहने वाले कानों पर ही विजय प्राप्त कर किसी तरह सन्तोष कर लिया। इसलिए यह प्रत्यनीकालङ्कार है।

विशेष—जब कोई किसी से न जीत सके और उसके दुर्बल सहायक से बदला ले ले तब यह अलङ्कार होता है।

उदाहरण में नेत्र नील कमलों के शत्रु हैं। वे अधिक बली हैं और विजेता सिद्ध हो चुके हैं। उनसे न जीत पाकर पराजय का बदला लेने के लिए उन् नील कमलों ने उन नेत्रों के सहायक कानों को पराजित कर दिया।

पहले कानों के ऊपर नील कमल अलंकारों के रूप में लाने की प्रथा थी, कानों के ऊपर पहुँचने का अर्थ पराजित कर देना है। प्रति और अनीक का अर्थ क्रमशः प्रतिनिधि= सहायक या तुल्य सेना या शत्रुपक्ष तिरस्कार कर लेने से अलंकार नाम लगभग सार्थक है। यहाँ अधः कृती का एक लाक्षणिक अर्थ है तिरस्कृत किये गये और दूसरा अभिधेय अर्थ नीचे किये गये हैं।

कानतक फैली हुई आँखें सामने रहती हैं और कान उनके पीछे। अतः कानों को नेत्रों का अनुगामी कहा गया है। अनुग का एक लाक्षणिक अर्थ सहायक और दूसरा अभिधेय अर्थ पीछे चलने वाला है।

इस अलंकार के उद्भावक रुद्रट हैं। भामह-दण्डी, उद्भट और वामन ने इसकी चर्चा नहीं की है। हेमचन्द्र ने इसे प्रतीपमान उत्प्रेक्षा और पण्डितराज ने हेतूत्प्रेक्षा के अन्दर माना है॥ ९९॥

प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः।
दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना॥ १००॥

अन्वयः—उपमेयतः उपमानस्य हीनत्वं प्रतीपम् (भवति, उदाहरति) तस्याः वदनं दृष्टं चेत् पद्मेन इन्दुना वा किम्?

व्याख्या—प्रतीपालङ्कारं व्याचष्टे—प्रतीपमिति। उपमेयतः = उपमेयात् उपमानस्य यदि हीनत्वं = न्यूनत्वं वर्णितं भवेत्तदा प्रतीपालङ्कारः। उपमेयोप- मेयोपमानस्य हीनत्वप्रतिपादनेऽयमलङ्कारः। प्रतिगच्छन्त्यः आपो यस्मिन्निति प्रतीपं = निम्नोन्नतं स्थलं तत्सादृश्यादलङ्कारे लक्षणा।

उदाहरति—दृष्टमिति—तस्याः = रमण्याः वदनं = आननं दृष्टं = प्रवलोकितं तदा पद्मेन = कमलेन किम् इन्दुना = चन्द्रेण वा किं प्रयोजनम्? पद्मचन्द्रौ निष्फलौ

इति भावः । प्रेयसीमुखावलोकनानन्तरं चन्द्रपद्मावलोकनस्य किमपि प्रयोजनमेव नास्ति । अत्र किं पद्मेनेत्यादि कथने उपमेयान्मुखादुपमानचन्द्रयोः प्रयोजनाभावकथनेन वैयर्थ्यं प्रतिपादनात् न्यूनता प्रतिपत्त्या प्रतीपालङ्कारः ।

जहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान की हीनता वर्णित हो वहाँ प्रतीप अलंकार होता है। जैसे परम सुन्दरी नायिका के मुख को देख लेने पर कमल और चन्द्रमा दोनों व्यर्थ हैं। यहाँ उपमेयभूत मुख की अपेक्षा उपमानभूत कमल और चन्द्रमा में हीनत्व वर्णित है। अतः यह प्रतीप अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में मुख उपमेय तथा पद्म एवं इन्दु उपमान है। किम् से उपमान की व्यर्थता बताई गयी हैं, जिससे उपमेय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है।

प्रतीप का अर्थ उलटा होता है। सामान्यतः उपमान अपनी प्रसिद्धि के कारण उपमेय की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। यहाँ उपमेय की श्रेष्ठता दिखाकर उलटी बात दिखाई जाती है। अतः यह प्रतीप अर्थालङ्कार सार्थक है। रुद्रट इसके प्रवर्तक हैं। भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इसकी चर्चा नहीं करते। पण्डितराज ने इसे अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया है। मम्मट और अप्पय दीक्षित इसके क्रमशः तीन और पांच भेद मानते हैं।

अन्तर—व्यतिरेक अलङ्कार से इस अलङ्कार में अन्तर यह है कि प्रतीप में उपमेय के समक्ष उपमान को व्यर्थ बताया जाता है, जब कि व्यतिरेक में दोनों में अधिक भाव, न्यूनभाव या वैचित्र्य दिखाया जाता है। व्यतिरेक में सामर्थ्य होता है, पर श्रेष्ठता प्रतिपादनार्थ उपमेय में वैधर्म्य भी दिखाया जाता है, इसके विपरीत प्रतीप में केवल साधर्म्य होता है ॥१००॥

उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद् दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते ।
तद्भाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—चेत् अन्यमहिम्ना अन्यत्र दोषः वर्ण्यते (तदा) उल्लासः (भवति, उदाहरति) यत् धनं सज्जनं न आश्रयति तत् धनस्यैव अभाग्यम् ।

व्याख्या—उल्लासं व्याचष्टे—उल्लास इति। चेत् = यदि अन्यमहिम्ना = परमहत्त्वेन अन्यत्र = परस्मिन् दोषः = दूषणम् वर्ण्यते = कथ्यते तदा उल्लासः = उल्लासनामालङ्कारः ।

उदाहरति—तदिति–यत् धनं = वित्तम् सज्जनं = सत्पुरुषं न आश्रयति = न प्राप्नोति तत् धनस्यैव = वित्तस्यैव अभाग्यं = दौर्भाग्यम् वर्तते। अत्र सज्जनमहिमगुणेन धनस्य तदनाश्रयदोषवर्णनमिति लक्षणसंगतिः ।

यदि किसी पदार्थ की महिमा वर्णन करने से उसका दोष किसी दूसरे पदार्थ पर गिरे तो उसको उल्लास अलङ्कार कहते हैं। जैसे यह धन का ही अभाग्य है कि सज्जन का आश्रय नहीं लेता। यहाँ सज्जन रूप पदार्थ की महिमा का वर्णन कर सज्जनों के उपभोग में न आना एतद्रूप दोष धन में बतलाया।

विशेष—उदाहरण में सज्जन के गुण के कारण उसकी दरिद्रता का दोष उनका न मानकर अन्यत्र=धन पर आरोपित किया गया है। गुणों या महत्ता के कारण, अनुराग या श्रद्धा होती है, जिससे गुणी या महान् व्यक्ति दोषी नहीं ठहराये जाते। वैसी स्थिति में वे दोष दूसरे पर मढ़े जाते हैं।

सर्वप्रथम जयदेव ने इस अलङ्कार की चर्चा की है। नागेशभट्ट के अनुसार इसका अन्तर्भाव काव्यलिंग या विषम अलङ्कार में हो सकता है। पण्डित राज और अप्पय दीक्षित ने इसके चार भेद माने हैं।

अन्तर—अवज्ञा अलङ्कार उल्लास अलङ्कार का विलोम है। उल्लास में एक के गुण-दोष दूसरे को व्याप्त करते हैं किन्तु अवज्ञा अलङ्कार में एक के गुण दोष दूसरे को दूषित नहीं करते, पर एक पदार्थ दूसरे के गुण दोष की अवहेलनामात्र करता है॥ १०१॥

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः।
पद्मरागारुणं नासामौक्तिकं तेऽधराश्रितम्॥ १०२॥

अन्वयः—स्वगुणत्यागात् अन्यतः स्वगुणोदयः तद्गुणः (भवति, उदाहरति) अधराश्रितम् ते नासामौक्तिकं पद्मरागारुणम् (अस्ति)।

व्याख्या—तद्गुणालङ्कारं व्याचष्टे—तद्गुण इति। स्वगुणत्यागात्=स्वगुणस्य त्यागः स्वगुणत्यागः तस्मात् स्वगुणत्यागात्=निजगुणविसर्जनात् अन्यतोऽन्यस्मात् स्वगुणोदयः—स्वस्मिन्=आत्मनि गुणोदयः=रूपादिगुणप्राप्तिः। तद्गुणः=तद्गुणालङ्कारः। तस्याप्रकृतस्य गुणो यत्र स तद्गुणः। स्वगुणत्यागपूर्वकमन्यगुणसम्बन्धकथने स इत्यर्थः।

उदाहरति—अधराश्रितं=रक्तवर्णाधरोष्ठसंसक्तं ते=तव नासामौक्तिकं नासायां=नासिकायां मौक्तिकं=मुक्ताफलमिति नासामौक्तिकं पद्मरागारुणं=पद्मरागवद्रक्तमणिवदरुणं रक्तं लोहितमस्ति।

अत्र श्वेतगुणवतो नासामौक्तिकस्य श्वेतगुणत्यागपूर्वकरक्तवर्णवतोऽधरोष्ठस्य रक्तगुणग्रहणात् तद्गुणालङ्कारः।

अपने गुण को त्यागकर दूसरे के गुण का ग्रहण करना जहाँ वर्णित हो वहाँ तद्गुण अलङ्कार होता है। जैसे अधरोष्ठ पर लटकता हुआ तेरा नासा मौक्तिक नाक में धारण की हुई मोती पद्मराग की अरुणिमा=लालिमा को करता है। यहाँ मोती ने अपने श्वेतगुण का त्याग कर नायिका के अधरोष्ठ की लालिमा को ग्रहण किया। इसलिये यह तद्गुण अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में मोती ने अपना श्वेत गुण त्याग कर ओठ की ललाई ग्रहण कर ली। यह उक्ति नायक के द्वारा नायिका के प्रति कही गयी है।

तस्याप्रकृतस्य गुणो यत्र स तद्गुणः इस व्युत्पत्ति से जिसमें अप्रस्तुत के गुण हों, वह तद्गुण है, जिससे अलङ्कार का नाम सार्थक हो जाता है। यहाँ गुण का अर्थ रूप है। जैसे

यदि अढउल का लाल फूल शीशे के पास रख दें तो शीशे में ललाई चली आती है उसी प्रकार अप्रस्तुत का बाह्यरूप यदि प्रस्तुत में आ जाय तो तद्गुण अलङ्कार होता है।

इस अलङ्कार का उद्भावन रुद्रट ने किया है, पर भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। रुद्रट के अनुसार इस अलङ्कार के दो भेद हैं।

अन्तर—मीलित, भ्रान्ति तथा सामान्य अलङ्कारों से तद्गुण अलङ्कार का साधारण अन्तर है। भ्रान्ति में स्पष्ट रहता है पर इसमें नहीं। उल्लास में पावनता आदि आन्तरिक गुणों का ग्रहण होता है जब कि तद्गुण में बाह्य गुण का ग्रहण होता है। तद्गुण और अनुगुण में भी यही अन्तर है कि तद्गुण में विषम रङ्ग-रूप का प्रभाव पड़ता है और अनुगुण में सम, रङ्ग-रूप का॥ १०२॥

पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।
हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः॥ १०३॥

अन्वयः—पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपता विज्ञेया (उदाहरति) शेषः हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि त्वद्यशसा सितः।

व्याख्या—पूर्वरूपतालङ्कारं व्यनक्ति—पुनरिति। अन्यगुणसम्बन्धकथनानन्तरमपि स्वगुणसंप्राप्तिः = स्वगुणस्य = निजगुणस्य संप्राप्तिः = लाभ इति स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपता विज्ञेया = पूर्वरूपतानामालङ्कारो भवति। स्वगुणत्यागानन्तरं पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपतालङ्कारः।

उदाहरति—शेषः = शेषनागः हरस्य भगवतः शिवस्य नीलकण्ठस्य कण्ठांशुभिः = कण्ठकिरणैः, विषस्य नीलवर्णत्वान्नीलकिरणैः लिप्तः = नीलवर्णत्वमापन्नः त्वद्यशसा = भवत्कीर्त्या सितः = शुभ्र एवास्ति। अत्र स्वभावत एव श्वेतवर्णस्य शेषस्य नीलकण्ठनीलिम्ना श्वेतगुणनिरसनपूर्वकनीलगुणप्राप्तावपि पुनः पूर्वसिद्धस्य श्वेतगुणस्य प्राप्तिकथनात् पूर्वरूपता।

अपने पर संक्रान्त, दूसरे के गुण को दूर कर पुनः अपने गुण को प्राप्त कर लेना पूर्वरूपता नामक अलंकार है। जैसे भगवान् नीलकण्ठ की नीलिमा से लिप्त शेष भी आपके यश से पुनः श्वेत हो गये। तात्पर्य यह है कि समुद्र मन्थन के प्रसंग में विषपान करने से भगवान् शङ्कर का कण्ठ नीला पड़ गया था, उसमें शेष नाग के लिपट जाने से वे भी नीले हो गये थे, पर हे राजन्! आप के यश से उनकी नीलिमा नष्ट हो गयी, वे पुनः श्वेत हो गये। अतः यहाँ पूर्वरूपता अलङ्कार है।

विशेष—राजा के प्रति किसी प्रशंसक कवि की उक्ति है। उदाहरण में भगवान् शङ्कर के गले में लिपटने से स्वभावतः श्वेत वर्ण के शेष नाग का वर्ण सफेद न रहकर नीला पड़ गया था, पर पुनः आपके यश की सफेदी से वे सफेद हो गये। इस प्रकार अपने बाह्यरूप की

प्राप्ति हो जाने से यहाँ पूर्वरूपता अलंकार है। पूर्वरूपता में तल प्रत्यय भाव या सत्ता अर्थ में मानकर अलङ्कार का नाम पूर्वरूप अलङ्कार हो सकता था, पर कोई बाधा न होने से अलंकार का नाम पूर्वरूपता ठीक ही है।

पुराणों के अनुसार सत्ययुग में समुन्द्र मन्थन के अवसर पर निकले हलाहल विष से संसार को सन्तप्त देखकर देवताओं के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर करुणाकर आशुतोष भगवान् शिव ने उसे पी कर गले में रोक लिया, जिससे उनकी ग्रीवा काली पड़ गयी। तब से उनका नाम नीलकण्ठ पड़ गया।

कविसम्प्रय के अनुसार यश का वर्णन श्वेत तथा अयश का वर्णन काला होता है। अतः राजा के यश से शेषनाग का सफेद होना समुचित ही माना गया है।

इस अलंकार के प्रथम प्रवर्तक जयदेव ही हैं, पर भामह आदि इसको अलंकार नहीं मानते, किन्तु पण्डितराज इसका अन्तर्भाव तद्गुण अलङ्कार में मानते हैं।

अन्तर—मीलित अलङ्कार में अप्रस्तुत का बाह्य रूप-रंग प्रस्तुत में विलीन हो जाता है जबकि इस पूर्वरूपता अलङ्कार में प्रस्तुत के बाह्य रूप में परिवर्तन नहीं होता। यदि तद्गुण का प्रसंग निकाल दिया जाय तो, मीलित और पूर्वरूपता में कोई अन्तर न रह जायेगा ॥१०३॥

यद्वस्तुनोऽन्यथारूपं तथा स्यात् पूर्वरूपता।
दीपे निर्वापिते ह्यासीत् काञ्चीरत्नैरहर्महः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—वस्तुनः यद् रूपम् अन्यथा (तत्) तथा स्यात् (तत्) पूर्वरूपता (मता)। (उदाहरति) दीपे निर्वापिते (सति) काञ्चीरत्नैः हि अहर्महः आसीत्।

व्याख्या—पूर्वरूपताया एव प्रकारान्तरमाह—यदिति। वस्तुनः = पदार्थस्य यद् रूपम् बाह्यो गुणः अन्यथा = उच्छिन्नं = नष्टं तत् = रूपं पुनः तथा स्यात् = पूर्वसदृशं स्वाभाविकं भवेत् तदपि पूर्वरूपतैव मता। पूर्वरूपतानामालङ्कारः।

उदाहरति—दीप इति। दीपे = दीपके निर्वापिते = शान्ति प्रापते सति काञ्च्याः रशनायाः रत्नैः = मणिभिः इति काञ्चीरत्नैः—रशनामणिभिः अहर्महः = अह्नो = दिनस्य महः = तेजः प्रकाशः आसीत् = अभूत्।

अत्र वस्तुनो दीपस्य प्रकाशरूपे दीपनिर्वाणादुच्छिन्नेऽपि काञ्चीस्थितहीरकादिमणिकिरणैः पुनस्तत्प्रकाशकथनात् पूर्वरूपता। पूर्वपूर्वरूपतायां न गुणोच्छेदः, किन्तु तस्यान्यथाभावः अत्र तु तस्योच्छेद एवेत्यनयोर्भेदः।

किसी पदार्थ का रूप नष्ट हो जाने पर वस्त्वन्तर से तज्जन्य कार्य का जहाँ वर्णन हो वहाँ भी पूर्वरूपता अलंकार होता है। जैसे दीपक के बुझ जाने पर भी नायिका की मेखला = करधनी के रत्नों से दिन सा प्रकाश बना रहा। यहाँ दीपक रूप पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य प्रकाश रूप कार्य रत्नों द्वारा सम्पन्न हुआ। इसलिए यह पूर्वरूपता अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में करधनी की मणियों की कान्ति से बीच में आये अन्धकार की कालिमा नष्ट हो गयी। और वही दिवस-प्रकाश पुनः स्थापित हो गया। इस प्रकार विपरीत में नष्ट होने और पूर्व रूप के नष्ट हो जाने से पूर्वरूपता अलंकार की परिभाषा चरितार्थ हो गई। दूसरी वार अलङ्कार का लक्षण और उदाहरण देने से इसे द्वितीय पूर्व-रूपता कहा जाता है।

अन्तर—तद्गुण और इस अलङ्कार में अन्तर यह है कि पहले अलङ्कार में रूपका नाश न होकर उसके ढक जाने से भिन्नता तथा पूर्वरूपता की प्रतीति होती थी, उसके विपरीत इस अलङ्कार में बिलकुल बदल जाती है। उसका पहले का रूप ढकने के स्थान पर नष्ट हो जाता है॥ १०४॥

सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् ।
विशन्नपि रवेर्मध्यं शीत एव सदा शशी ॥ १०५ ॥

अन्वयः—सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारम्, अतद्गुणम् आहुः (आचार्याः, उदाहरति) रवेः मध्ये विशन्नपि शशी सदा शीत एव।

व्याख्या—अतद्गुणमाह सङ्गतेति—अन्यस्य = अपरस्य, पदार्थस्य गुणाः = अन्यगुणाः संगताः = प्रसक्ताश्च ते अन्यगुणाः संगतान्यगुणाः तेषामङ्गीकारं संगतान्यगुणानङ्गीकारम् अतद्गुणं=अतद्गुणालङ्कारम् आहुः=कथयन्ति आलङ्कारिकाः=विद्वांसः। सम्बन्धेऽपि सम्बन्धिगुणाग्रहणं तदिति भावः।

उत्तरयति—विशन्निति। रवेः = सूर्यस्य मध्ये = अभ्यन्तरे विशन्=प्रविशन्नपि शशी = चन्द्रमाः सदा = सर्वदा शीतः = शीतल एव। इदं च तयोरेकराशिस्थितत्वे बोध्यम्। अत्र स्वभावतः सन्तप्तकिरणस्य सूर्यस्य चन्द्रमसा सम्बन्धे जातेऽपि तत्सम्बन्धितापजनकगुणस्याग्रहणात् अतद्गुणालङ्कारः।

जहाँ किसी अन्य पदार्थ का सम्बन्ध होने पर भी उसके गुण का ग्रहण न हो वहाँ अतद्गुण नामक अलंकार होता है। जैसे—सूर्य के समीप जाने पर भी चन्द्रमा हमेशा ठण्डे का ठण्डा ही रहता है, कभी उष्ण नहीं होता। यहाँ सूर्य के साथ सम्बन्ध होने पर भी चन्द्रमा में सूर्यगत उष्मता नहीं आती, ठण्डा का ठण्डा ही बना रहता है। इसीलिए यहाँ अतद्गुण अलङ्कार है।

विशेष—सूर्य की उष्णता के सम्पर्क में आकर भी चन्द्रमा उष्णरहित ही रहता है। शीतल वस्तु पर उष्ण वस्तु की उष्णता का प्रभाव होना स्वाभाविक है, पर यहाँ चन्द्रमा पर कोई असर न होने से उलटी बात है। ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है कि एकराशि में स्थित चन्द्रमा सूर्य में प्रवेश करता है।

यह अतद्गुण अलंकार तद्गुण का विलोम (उलटा) है। इसमें विशेषोक्ति का भी कुछ पुट है। आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। अन्य आचार्यों ने इसकी चर्चा नहीं की है।

'तस्य=अन्यस्य गुणः=बाह्यं रूपं तद्गुणः' न भवति तद्गुणः यस्मिन् स अतद्गुणः' इस व्युत्पत्ति से अतद्गुण का अर्थ दूसरे के गुण जिसमें उत्पन्न नहीं होने से इस अलंकार का नाम सार्थक है। अर्थात् उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार इसका नाम साथक है।

अन्तर—विशेषोक्ति में कारण रहने पर भी कार्य नहीं होता। यह बड़ा भाग है और इसमें तद्गुण की परिभाषा उपभाग है। जिस तरह उत्सर्ग (नियम) में अपवाद की स्थिति होती है। जिस गुण के सम्पर्क में आते हैं वह कारण और गुण ग्रहण न करना कार्य का अभाव है। दोनों में अन्तर यही है कि कारण जैसे व्यापक तत्त्व के रहते कार्य नहीं होता और इस अलङ्कार में केवल गुण रूपी कारण रहते कार्य नहीं होता। गुण रूपी कारण के होने पर कार्य का अभाव होने से विशेषोक्ति नहीं होती ॥ १०५ ॥

प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽननुगुणः परसन्निधेः ।
कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरपि नीलताम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—अन्यसन्निधेः प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षः अननुगुणः (भवति, उदाहरण यथा) कर्णोत्पलानि कटाक्षैः अपि नीलतां दधते ।

व्याख्या—अननुगुणमलङ्कारं व्याचष्टे—प्रागिति । परसन्निधेः परस्य=अन्यस्य सन्निधेः=सामीप्यात्, प्राक्सिद्धस्य = प्रथमत एव स्थितस्य स्वगुणस्य = आत्मगुणस्य उत्कर्षः = आधिक्यम्, अननुगुणः = अननुगुणालङ्कारो भवति । परसन्निधात् = प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षवर्णनमननुगुणालङ्कारः इति भावः ।

उदाहरति—कर्णोत्पलानीति । कर्णोत्पलानि=नीलानि अवतंसीकृतानि कर्णकमलानि कटाक्षैः = अपाङ्गदर्शनैः अपि नीलतां—मेचकतां दधते = धारयन्ति । अत्र कर्णावत्तंसीकृतानि नीलकमलानि नीलवर्णैरपाङ्गैः अधिकां नीलतामासादयन्तीति प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षकथनात् अननुगुणालङ्कारः ।

दूर के सामीप्य से जहाँ अपने स्वतः सिद्ध गुण का उत्कर्ष हो वहाँ अननुगुण अलंकार होता है। जैसे, कान में लगाये हुए नील कमल कटाक्षों की नीलिमा से और अधिक नीलता को प्राप्त हुए। यहाँ कटाक्ष के सान्निध्य से नील कमल की स्वतःसिद्ध नीलिमा का अधिक उत्कर्ष हो रहा है। अतः यह अननुगुण है।

विशेष—पहले ही से नील कमल में विद्यमान वस्तु नीलिमा, दूसरी वस्तु कटाक्ष के सम्पर्क से अधिक गुण वाली नील हो गयी। अनुका अर्थ अनुसार और गुण का अर्थ गुण में वृद्धि होना लेने से अलंकार का नाम सार्थक है। परिभाषा में कोई तात्त्विक अन्तर न होने से नागेश ने इसे तद्गुण में अन्तर्भूत किया है।

अन्तर—तद्गुण और अननुगुण अलङ्कार में यह अन्तर है कि तद्गुण में विषम रंग रूप का प्रभाव पड़ता है और अननुगुण में सम रंग रूप का प्रभाव पड़ता है ॥ १०६ ॥

अवज्ञा वर्ण्यते वस्तु गुणदोषाक्षमं यदि।
म्लायन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः॥ १०७॥

अन्वयः—यदि गुणदोषाक्षमं वस्तु वर्ण्यते तदा अवज्ञा (ज्ञेया, उदाहरणं यथा) यदि पद्मानि (चन्द्रं दृष्ट्वा) म्लायन्ति अमृतद्युतेः का हानिः ?

व्याख्या—अवज्ञालङ्कारं लक्षयति—अवज्ञेति। यदि गुणदोषयोः अक्षमं = अयोग्यं वस्तु वर्ण्यते = कथ्यते तदा अवज्ञा = अवज्ञानामालङ्कारः। अन्यगुणदोषाभ्यामन्यत्र गुणदोषौ न स्यातां तदावज्ञेति भावः। अयमलङ्कार उल्लासालङ्कारविपर्ययः।

उदाहरति—यदि पद्मानि=कमलानि चन्द्रं दृष्ट्वा म्लायन्ति=संकुचन्ति तदाऽमृतद्युतेः=पीयूषकान्तेः चन्द्रमसः का हानिः=का क्षतिः ? स तु अमृतद्युतिरेवास्ति। अत्र मुकुलीभावापन्नत्वं पद्मदोषः, तेन पद्मदोषेण चन्द्रस्य दोषालाभवर्णनाद् अवज्ञा लक्षणसंगतिः।

जहाँ ऐसी वस्तु वर्णित हो कि जिसके गुण अथवा दोष से दूसरे को कोई लाभ या हानि न हो तो वहाँ अवज्ञा अलङ्कार होता है। जैसे—यदि चन्द्रमा के उदय होने पर कमल मुकुलित हो जाते हैं तो इसमें चन्द्रमा की कौन सी हानि है। यहाँ कमलों के संकोच रूपी दोष से चन्द्रमा की कोई हानि अथवा लाभ नहीं बताया गया है। अतः यह अवज्ञा अलंकार है।

विशेष—कमल के म्लान होने या उसको म्लान करने का दोष अमृतद्युति चन्द्रमा का दोष नहीं सिद्ध हो पाता है। अतः चन्द्रमा निर्दोष ही है।

अवज्ञा का अर्थ अवहेलना है। इस अलङ्कार में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के गुण-दोष की अवहेलना करता है। अतः यह अलङ्कार नाम सार्थक है। इस अलङ्कार के आविष्कारक जयदेव कवि हैं, जिसे अपने चन्द्रालोक में स्थान दिया है।

अन्तर—नागेश भट्ट तथा पण्डितराज का कहना है कि कारण के रहने पर कार्य न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है, जिसमें वह अवज्ञालङ्कार गतार्थ हो सकता है। इस उदाहरण में कारण पद्मसंकोच है, पर उसका कार्य अमृतद्युति चन्द्रमा के यश की हानि का कार्य सम्पन्न नहीं हो रहा है। विशेषोक्ति के अपवाद के रूप में यह अलङ्कार माना जा सकता है। अर्थात् जहाँ-जहाँ अवज्ञा अलङ्कार हो उसे छोड़कर शेष स्थलों में विशेषोक्ति अलंकार होगा।

उल्लास अलङ्कार का यह अवज्ञा अलङ्कार विलोम है। उल्लास में एक के गुण-दोष दूसरे को व्यापते हैं, पर इस अलङ्कार में एक के गुण-दोष दूसरे को नहीं व्यापते। इस प्रकार यह अवज्ञा अलङ्कार उल्लासालंकार का विपर्यय माना जाता है॥ १०७॥

प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रासौ सुतरा सरित्॥ १०८॥

अन्वयः—उक्तौ क्रमेण उत्तरमुत्तरं स्यूतं तत्र प्रश्नोत्तरालङ्कारः (भवति, उदाहरणं यथा) पान्थ ! यत्र असौ वेतसी तत्र सरित् सुतरा ।

व्याख्या—प्रश्नोत्तरमलङ्कारं व्याचष्टे—प्रश्नोत्तरमिति । यत्र तयोः प्रश्नोत्तरयोः उक्तौ=कथने क्रमेण=क्रमशः उत्तरमुत्तरं=प्रश्नरूपं प्रतिवचनं वा स्यूतं=संलग्नं तत्र प्रश्नोत्तरम्=प्रश्नोत्तरालङ्कारः ।

उदाहरति—यत्रेति । हे पान्थ !=यात्रिक ! यत्र=यस्मिन् स्थले असौ=वेतसी-वानीरवृक्षः तत्र=तस्मिन् स्थले असौ दृश्या सरित्=नदी सुतरा=सुखेन तरितुं शक्या । सरित्तरणमार्गं पृच्छन्तं पान्थं प्रति यत्रासौ वेतसी इत्युत्तरमिति स्पष्टार्थः ।

इदं तात्पर्यम्—कामाभिनिवेशा काचन कामिनी संकेतस्थलगमनमार्गे प्रवहन्त्याः सरितः उत्तरणप्रकारं पृच्छन्तं कमपि कामुकं प्रति–यत्रासौ वेतसी सरित् तत्रैव सुतरेत्युत्तरं दत्तवतीत्यनेन केन पथा सरित्तरितुं शक्यते इति पान्थप्रश्नः उन्नीयते । तथा च कामुकः पान्थः संकेतस्थलं पप्रच्छ तदुत्तरे वेतसीलतामण्डपं संकेतस्थल-मिति कामयमाना कामिनी कथितवतीत्यङ्गीकाररूपमुत्तरं ज्ञेयम् ।

अत्रान्यव्यपदेश तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चानुमानेऽन्तर्भावः साध्य-साधनयोर्द्वयोरभावात् । न काव्यलिङ्गं, उत्तरस्य प्रश्नप्रत्यजनकत्वात् ।

जहाँ प्रश्नोत्तर की उक्ति में क्रमशः उत्तर=प्रश्न रूप या अनुस्यूत रहे, वहाँ प्रश्नोत्तरा-लङ्कार होता है । अर्थात् जहाँ प्रश्न से उत्तर की कल्पना हो या उत्तर से प्रश्न की कल्पना हो किंवा ऐसा वाक्य हो जिसमें किसी गुप्त प्रश्न का उत्तर दिया गया हो वहाँ यह अलङ्कार होता है । जैसे—हे पथिक ! जहाँ यह बेंतका कुञ्ज है, वहाँ इस नदी के जल का थाह है। अतः वहाँ सुखपूर्वक जाया जा सकता है । नायिका के इस उत्तर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी नायिका से पथिक का नदी की गहराई के सम्बन्ध में प्रश्न था । इसी उत्तर से यह गुप्त प्रश्न भी निकलते हैं कि कामुक पथिक द्वारा नायिका से संकेतस्थल पूछने पर उसने बेंतसलता के कुञ्ज को बतलाकर अपनी अनुमति दे दी हो ।

विशेष—उदाहरण में केवल उत्तर दिया गया है, प्रश्न का संकेत नहीं है, किन्तु उत्तर ऐसा है जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि पथिक ने प्रश्न किया होगा, जिसपर उसे यह उत्तर मिला है ।

यह स्वयं दूती बनी नायिका का कथन हो सकता है जो पथिक को बेंत से घिरे गुप्त स्थान में चलने का संकेत कर रही है । परिभाषा अति स्पष्ट नहीं है, व्याख्या में कई बातें जोड़ने पर ही अर्थ निकल पाता है । उत्तर से प्रश्न का और प्रश्न से उत्तर का जहाँ-जहाँ अनुमान लगाया जाय, वहाँ-वहाँ प्रश्नोत्तर रूप अलङ्कार होता है । इसमें गुप्त अर्थयुक्त या शृङ्गारपरक वर्णन होता है ।

रुद्रट इस अलङ्कार के प्रवर्तक हैं, पर भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका

उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। कुछ आचार्यों ने इस अलङ्कार को उत्तर अलंकार कहा है। मम्मट और पण्डितराज इस अलंकार के क्रमशः दो और आठ भेद मानते हैं।

अन्तर—अनुमान में साध्य और साधन एक साथ होते हैं और एक ही जगह होते हैं। इसके विपरीत इस प्रश्नोत्तर अलङ्कार में साध्य और साधन में से एक ही रहता है और वह भी साध्य=उत्तरपरक ही तथा साध्य=उत्तर एक में और साधन=प्रश्न दूसरे में स्थित रहता है। काव्यलिंग अलंकार में पदार्थ या वाक्यार्थ हेतु होते हैं, पर यहा नहीं ॥ १०८ ॥

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम्।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—परवृत्तान्तज्ञातुः अन्यस्य चेष्टितं पिहितं (भवति, उदाहरति) प्रातः प्रिये गृहागते कान्ता तल्पम् अकल्पयत्।

व्याख्या—पिहितं नामालङ्कारं व्याचष्टे—पिहितमिति। परस्य=अन्यस्य वृत्तान्तस्य=वृत्तस्य ज्ञाता=वेदिता तस्य परवृत्तान्तज्ञातुः अन्यस्य=परस्य चेष्टितं=परकीयवृत्तज्ञानानुगुणक्रिया पिहितं=पिहितनामाऽलङ्कारः। परवृत्तान्तज्ञानपूर्वकं तदनुगुणान्यक्रियाकथनं पिहितमिति भावः।

उदाहरति—प्रिय इति। प्रातः=उषसि, प्रिये=पत्यौ गृहागते=गृहमायाते सति कान्ता=पत्नी तल्पं=शय्याम्, अकल्पयत्=अरचयत्। अन्यस्याः गृहे रात्रौ कृतंजागरणस्त्वं श्रान्तोऽसि, साम्प्रतमस्मिन् सुखशयने निःशङ्कं यथासुखं स्वपिहीति भावः। अत्र रात्रौ अन्यत्र श्रान्तः साम्प्रतं शिशयिषुरयमिति प्रियस्य सपत्नीसंसर्गं बुध्यमानायाः कान्तायाः परवृत्तान्तावगतिपूर्वकं तदनुकूलतल्पकल्पनारूपचेष्टायाः प्रतिपादनात् पिहितालङ्कारः।

दूसरे के गुप्त वृत्तान्त को अपनी क्रिया द्वारा प्रगट करने पर पिहितालङ्कार होता है। जैसे प्रातःकाल प्रिय को अपने घर लौट आनेपर उसकी कान्ता ने शय्या लगा दी। कान्ता ने अपनी इस क्रिया से यह प्रगट किया कि मेरी सौत के यहाँ सारी रात जागकर बिताने के कारण आप अधिक श्रान्त हो गये हैं। इसलिए सुखपूर्वक शयन कर रात की थकान दूर करें। यहाँ प्रिय के इस गुप्त व्यवहार को कान्ता ने शय्या बिछाकर प्रगट कर दिया। इसलिए यहाँ पिहितालङ्कार है।

इसका रहस्य यह है कि परनायिका का सम्बन्ध रखने वाला प्रिय जब उसके पास रात भर रहकर सबेरे वापस आया, तब सारी बात समझने वाली उसकी पत्नी ने शय्या सजा दी। यह शय्या सजाना इस रहस्य का ज्ञापक है कि सब विदित है, तुम थक गये होगे, आराम कर लो। यहाँ पति का गुप्त रहस्य जानने वाली घर की पत्नी शय्या सजाने की चेष्टा से रहस्य का उद्घाटन करती है।

पिहित का अर्थ है ढका हुआ। गुप्त वृत्तान्त को शब्दों द्वारा न व्यक्त कर केवल चेष्टा द्वारा ही प्रगट करने के कारण वृत्त ढका ही रहता है। केवल सम्बद्ध व्यक्ति समझ जाता है। इस प्रकार इस अलङ्कार का नाम सार्थक है।

इस अलङ्कार के मूल प्रवर्तक जयदेव हैं, अन्य आचार्यों ने इसकी चर्चा नहीं की है। हाँ, रुद्रट ने इसका उल्लेख अवश्य किया है, पर परिभाषा भिन्न होने से उसे दूसरा अलङ्कार मानना चाहिए ॥ १०९ ॥

व्याजोक्तिः शङ्कमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम्।
सखि पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा ॥ ११० ॥

अन्वयः—शङ्कमानस्य छद्मना वस्तुगोपनं व्याजोक्तिः (भवति, उदाहरति) सखि! गृहारामपरागैः धूसरा अस्मि (इति) पश्य।

व्याख्या—व्याजोक्तिं व्याचष्टे—व्याजोक्तिरिति। शङ्कमानस्य = रहस्यमवं वृत्तान्तं तर्कयतः छद्मना=वाक्चातुर्येण, कपटेन वस्तुनः=यथार्थजातस्य वृत्तस्य गोपनं=गूहनं व्याजोक्तिः=व्याजेन छद्मना उक्तिः। अन्यथा शङ्कमानं प्रति अन्यथाकथनद्वारा वस्तुगोपने व्याजोक्तिरलङ्कार इति भावः।

उदाहरति—सखीति। धूलिधूसरां नायिकां दृष्ट्वा चौर्यरतं शङ्कमानां सखीं प्रति नायिकाया उक्तिः। हे सखि! अहं गृहारामपरागैः—गृहोद्यानधूलिभिः धूसरा=मलिना जातेति त्वं पश्य, सङ्केतस्थलोल्लुण्ठनधूलिमलिना नास्मीति भावः।

अत्र चौर्यरतं शङ्कमानां सखिं नायिकाया गृहारामेत्यादिच्छद्मोक्त्या चौर्यरतस्यापलापः कृत इति व्याजोक्तिरलङ्कारः।

गुप्त बात के खुल जाने की आशंका से कपट द्वारा उसको छिपाना व्याजोक्ति अलङ्कार है। जैसे हे सखि! देखो, मैं घर की फुलवाड़ी की सफाई करने में कितनी धूलि से धूसरित हो गयी हूँ। किसी नायिका ने गुप्त संभोग के कारण अपने धूलिधूसरित अङ्ग को देखकर रहस्य के खुल जाने की आशंका से उसे छिपाने के लिए अपने पति को सुनाकर सखी से कहा। सखी की संभोगजन्य धूलि की आशंका को उभड़ने नहीं दिया। इसलिए यह व्याजोक्ति अलंकार है।

विशेष—उदाहरण में कहने वाली रमणी अपने शरीर पर लगी धूलि को संकेत स्थान पर लगी होने की बात ताड़ लेने वाली अपनी सहेली से रहस्य छिपाने के लिए बहाना बना रही है। व्याज का अर्थ बहाना है और उक्ति का अर्थ कथन है। जहाँ बहाने की बात कही जाय वहाँ यह अलङ्कार होता है। अतः इस अलंकार का नाम सार्थक है।

इस अलङ्कार के लिए शंका प्रगट करने वाला, उस शंका को दूर करने के लिए बहाना बनाने वाला, असावधानी से असली कारण का आधार और उस आधार को बहाने से दूसरे कारण का आधार बनाना ये बातें आवश्यक है।

इस अलङ्कार की चर्चा सर्वप्रथम वामन ने की है। भामह, दण्डी और उद्भट इसकी चर्चा नहीं करते। पण्डितराज ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है।

अन्तर—अपह्नुति से मिलता-जुलता अलङ्कार व्याजोक्ति है, जिससे उपमेय का कथन किया ही नहीं जाता, उसे छिपाने के लिए उपमान का नाम लिया जाता है। जब कि अपह्नुति में उपमान का नाम लेकर उसका निषेध किया जाता है। छेकापह्नुति में जिसे छिपाना है उसका कथन होने पर खण्डन किया जाता है। इसके विपरीत व्याजोक्ति में कथन किया ही नहीं जाता, केवल दूसरा कारण बताया जाता है, जिससे शंका दूर हो जाय या होने ही न पाये॥ ११० ॥

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाक्यार्थान्तरकल्पनम्।
मुञ्च मानं दिनं प्राप्तं मन्द नन्दी हरान्तिके॥ १११ ॥

अन्वयः—श्लेषकाकुभ्यां वाक्यार्थकल्पनम् वक्रोक्तिः (भवति, उदाहरति यथा) दिनं प्राप्तम्, मानं मुञ्च मन्द! नन्दी हरान्तिके।

व्याख्या—वक्रोक्ति व्याचष्टे—वक्रोक्तिरिति। श्लेषश्च काकुश्च श्लेषकाकू ताभ्यां श्लेषकाकुभ्यां = श्लेषेण काक्वा वा वाक्यार्थान्तरस्य = अभिधेयापेक्षया भिन्नस्य अर्थस्य कल्पनं = संयोजनमिति वाच्यार्थान्तरकल्पनम् वक्रोक्तिः = वक्रोक्तिनामालङ्कारः। शब्दश्लेषेण, अर्थश्लेषेण मिलितेन व्यस्तेन, काकूक्त्या वा यत्र वाच्यार्थापेक्षया अर्थान्तरकल्पनं तत्र वक्रोक्तिनामालङ्कारः।

उदाहरति—मुञ्चेति। कश्चित् कामुकः स्वीयां मानिनीं कान्तां कथयति-प्रिये! दिनं=दिवसः प्राप्तं=जातुम् त्वामनुनयता मया समस्ता निशाऽतिवाहिता, रात्रिर्याता, बहुकालो व्यतीतः, साम्प्रतं सूर्योदयो जातः। अतः त्वं मानं = कोपं मुञ्च = त्यज रतिप्रतिकूलामिच्छां परित्यज्य कान्ता च शब्दश्लेषमहिम्ना प्राप्तं=लब्धं नन्दिनं = बलीवर्दं मा मुञ्चेत्यर्थान्तरं कल्पयित्वोत्तरवती मन्द = मूढ! नन्दी = वृषभः हरान्तिके = शिवसमीपे वर्तते! सोऽत्र कुतः? यदि सोऽत्र भवेत्तदा न मुञ्चेयमिति भावः। अत्र सभङ्गश्लेषेणार्थान्तरकल्पनाद् श्लेषमूला वक्रोक्तिः। काकुवक्रोक्तिर्यथा—

'काले कोकिलवाचाले सहकारमनोरमे।
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते॥'

अत्र न दूयते, अपितु दूयत एवेति काक्वा वक्रोक्तिः। अयमलङ्कारः शब्दनिष्ठः। कदाचित् सख्या निषेधार्थे प्रयुक्तो नञ् विकृतिरूपेण काक्वा दूयतेति विध्यर्थे परिणमते इति काकुवक्रोक्तिः।

अन्य अभिप्राय से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा काकु के द्वारा उससे भिन्न अभिप्राय

वाला समझा जाय तो वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे—मानिनी नायिका से नायक कहता है—हे प्रिये ! दिन निकल आया, अब तो मान छोड़ो, नायिका शब्द श्लेष द्वारा इस वाक्य का 'नन्दी आया उसको मत छेड़ो' इस तरह भिन्नाभिप्राय वाला अर्थ समझ कर उत्तर देती है कि अरे मूर्ख नन्दी तो शिवजी के पास है, यहाँ आवे तब तो मैं उसे पकड़े रहूँ। यहाँ भिन्नाभिप्राय वाले वाक्य का श्लेष द्वारा भिन्न अभिप्राय लगाकर नायिका ने उत्तर दिया। अतः यह श्लेष वक्रोक्ति है।

काकु वक्रोक्ति, जैसे—कोकिलाओं की कुहक से व्याप्त सहकार की मञ्जरी से मनोरम वसन्त के समय पति के त्याग से क्या उसका चित्त काम सन्ताप से सन्तप्त नहीं होता अपितु अवश्य ही सन्तप्त होता है।

विशेष—वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल और उक्ति का अर्थ है कथन। जहाँ बात सीधे-सीधे न कहकर भङ्गिमा के साथ कही जाय वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। उदाहरण में बात का उत्तर सीधा अर्थ न लेकर उलटे अर्थ के आधार पर दिया जाने से उत्तर की उक्ति वक्रोक्ति हो गयी है। उदाहरण में चेतो न दूयते वाक्य का उच्चारण प्रश्नात्मक रीति से करने पर कि 'किं चेतो न दूयते' अर्थ निकलेगा और काकु=ध्वनि परिवर्तन से विपरीत अर्थ का ग्रहण हो जायेगा।

सर्व प्रथम आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति की चर्चा की है। भामह तथा वामन ने अन्य परिभाषा देकर इस नाम का प्रयोग किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसके दो भेद किये हैं।

अन्तर—अपह्नुति और वक्रोक्ति में अन्तर यह है कि अपह्नुति में अपने ही कथन को छिपाकर दूसरा कथन किया जाता है जब कि इस वक्रोक्ति अलङ्कार में दूसरे का कथन छिपाकर दूसरा कथन किया जाता है ॥ १११ ॥

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम्।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षि स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥ ११२ ॥

अन्वय.—जात्यादिषु स्वभावस्य वर्णनं च स्वभावोक्तिः (भवति, उदाहरणं यथा) कुरङ्गैः उत्तरङ्गाक्षि ! स्तब्धकर्णैः उदीक्ष्यते।

व्याख्या—स्वभावोक्तिं व्याचष्टे—स्वभावोक्तिरिति। जात्यादिषु = हरिणत्वादिषु यत् स्वभावस्य = गुणक्रियादेः वर्णनं = कथनं स्वभावोक्तिः = स्वभावोक्तिनामालङ्कारः। स्वभावस्य = स्वाचरणस्य उक्तिः स्वभावोक्तिः। जात्याद्यनुरूपप्राकृतिकस्वभाववर्णनं स्वभावोक्त्यलङ्कारः।

उदाहरति—कुरङ्गैरिति। उत्तरङ्गे = चञ्चले अक्षिणी = नयने यस्याः सा उत्तरङ्गाक्षी तत्सम्बुद्धौ हे उत्तराङ्गाक्षि ! = चपललोचने ! स्तब्धौ = निश्चलौ कर्णौ येषां ते स्तब्धकर्णाः तैः स्तब्धकर्णैः = निस्तब्धश्रुतिभिः कुरङ्गैः = मृगैः, उदीक्ष्यते = उद्वीक्ष्यते। मृगाणामयं जातिस्वभावः यत्ते स्तब्धकर्णाः सन्तः एव पश्यन्तीति मृगजातिस्वभाववर्णनादियं स्वभावोक्तिः।

स्वभावोक्ति अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप का वर्णन किया गया हो। जैसे—हे चपल नयने ! हरिण कान खड़ा कर देखा करते हैं। यहाँ कान खड़ा कर देखना हरिणों का स्वभाव है। इसलिए यह स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

विशेष—हरिणों का स्वभाव है कि नई चीज देखते समय कान स्थिर कर लेते हैं। 'स्वभावस्य = स्वाभाविकगुणस्य उक्तिः=कथनमिति स्वाभावोक्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वभाव की उक्ति या वर्णन को स्वभावोक्ति अलङ्कार कहते हैं। इसलिए यह अलङ्कार अन्वर्थक है।

साधारण व्यक्ति का ध्यान स्वाभाविक बात की ओर नहीं जाता, कवि को उसमें भी सौन्दर्य के दर्शन होते हैं और उसके द्वारा वर्णित होने पर वही सामान्य स्वभाव देखने पर उतना आनन्द नहीं देता, जितना पढ़ने और सुनने भर से आनन्द प्रदान करता है।

अग्नि पुराण ने इसे स्वरूप नाम दिया है, दण्डी, रुद्रट भोज और वाग्भट्ट ने जाति, भामह और केशव मिश्र इसे स्वभाव के नाम से उल्लिखित करते हैं। भामह ने अन्यों के मत से इसके स्वभावोक्ति नाम की भी चर्चा की है। बाण भट्ट ने तो अपनी कादम्बरी एवं हर्षचरित में इस अलंकार का खूब उपयोग किया है।

वक्रोक्ति को काव्य जीवित मानने वाले, कुन्तक ने स्वभावोक्ति अलंकार मानने वालों का उपहास करते हैं। इसके विपरीत आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि शास्त्रों में स्वभावोक्ति अलंकार का ही साम्राज्य है और काव्यों में यह ईप्सित है—

'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।' २ १३

रुद्रट ने स्वभावोक्ति की विशेष रमणीयता के निम्न लिखित स्थल बताते हुए कहा है कि बच्चे भोली भाली बाला, विह्वल, पक्षी, समान्त और अधम पात्रों की काल एवं अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं में स्वभावोक्ति अलंकार विशेष रूप से रमणीय हैं—

'शिशु-मुग्ध-युवति-कातर-तिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावसथाचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥' ७३१

इस प्रकार काव्यजगत् में स्वभावोक्ति का वस्तुतः चमत्कार दर्शनीय है ॥ ११२ ॥

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम् ।
अलं विलोकयाद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुराऽसुराः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनं भाविकम् (भवति, उदाहरति) अत्र सुराऽसुराः अद्यापि युध्यन्ते (इति त्वं) अलं, विलोकय।

व्याख्या—भाविकमलङ्कारं लक्षयति—भाविकमिति । भूताः=अतीताश्च भविनः=अनागताश्चेति भूतभविनः तथाभूता येऽर्थाः=पदार्थाः तेषां साक्षाद्दर्शनस्य=प्रत्यक्षावलोकनस्य वर्णनं=कथनं भाविकं भावः कवेराशयो यत्रास्तीति भाविकं=भाविकनामालङ्कारः। अतीतानागतयोर्वर्तमानत्वे भाविकम्।

उदाहरति—अत्र = स्थले सुरासुराः = देवदानवाः अद्यापि = साम्प्रतमपि युध्यन्ते = युद्धं कुर्वन्ति इति त्वम् अलं = अत्यर्थं विलोकय = पश्य। अत्र रणभूमौ युध्यन्ते इति भूतभीषणसुरासुरसंग्रामस्य वर्तमानत्वेन प्रतिपादनात् तादृशं-युद्धविलोकनकथनमिति भूतार्थसाक्षात्कारोदाहरणम्। भाव्यर्थसाक्षात्कारस्यो दाहरणं यथा—

'भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम्।

भूत (गत) अथवा भावी (आगे आने वाली) बात का साक्षात् दर्शन कराया जाय वहाँ भाविक अलङ्कार होता है। जैसे रणभूमि की भीषणता को देखकर कोई कहता है कि आज भी यहाँ देवता और दानव युद्ध करते हैं। आप देखिए, यहाँ समराङ्गण की भीषणता को देखकर भूत देवासुरसंग्राम वर्तमान की तरह दिखाया गया है। इसलिए भाविक अलङ्कार है।

विशेष—उदाहरण में भूतकालीन=अप्रस्तुत देवासुरसंग्राम के साक्षात्कारका वर्णन है। रण की भयङ्करता बताने के लिए प्रस्तुत युद्ध के रूप में देवासुरसंग्राम के ही चलने का वर्णन होने से भाविक अलङ्कार है।

प्रसंग न होने से अद्यापि उस काल के लिए कहा जा सकता है, जब देवासुर संग्राम चल रहा था, पर कोई विशेष चमत्कार नहीं होता था। अतः प्रस्तुत युद्ध में देवासुर-संग्राम का आरोप कर चमत्कार पैदा किया गया है, यही मानना होगा।

भाविक का अर्थ है भाववाला, सामान्यतः भाव का अर्थ है विचार, जिसे लेने पर अलङ्कार का नाम उतना सार्थक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक अलङ्कार पर यह अर्थ लागू होगा। आनन्द कवि श्रीकण्ठ ने भाव का अर्थ भावना=समाधि लेकर व्यवस्था की है कि जैसे योगी समाधि से भूत, भविष्य को प्रत्यक्ष की भाँति देखते हैं उसी प्रकार कवि भी भूत-भविष्य का प्रत्यक्ष कर जब वर्णित करते हैं, तब यह अलङ्कार होता है।

भामह और दण्डी इसे प्रबन्धगत अलङ्कार मानते हैं। भामह तो इसे अभिनय में भी संभव मानते हैं। रुद्रट और वामन उस अलङ्कार को चर्चा नहीं करते। हेमचन्द्र ने मुक्तक में अलंकार की सत्ता आनन्ददायक नहीं मानते।

अन्तर—भूत और भावी को प्रत्यक्ष का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बताने पर भाविक और अन्य सम्बन्ध के न होने पर भी दिखाना सम्बन्धातिशयोक्ति है। इस प्रकार भाविक अतिशयोक्ति का अपवाद है। वर्तमान के साथ भूत या भविष्य में से उपमेय या उपमान लेने पर भाविक तथा शेष दशाओं में अतिशयोक्ति होती है। भाविक में भूत-भविष्य घटनाओं की तत्काल प्रतीति कराई जाती है तथा प्रसाद गुण का सम्बन्ध अर्थ के स्पष्ट प्रतीति से है, न कि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष करने से। स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्म चित्रण होता है, जब कि भाविक में अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया जाता है। भ्रान्ति में मिथ्या ज्ञान होता है और सादृश्य आधृत है जब कि भाविक में भूत काल या भविष्यकाल के ज्ञान के समान ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है तथा वस्तु का अत्यन्त सादृश्य

अपेक्षित नहीं, भ्रान्ति में विपरीत प्रतीति कराई जाती है जब कि भाविक में अप्रत्यक्ष भूत और भविष्य का विपरीत रूप में वर्णन नहीं होता।

उत्प्रेक्षा में संभावना की जाती है और उसके लिए इव या उसका पर्याय या तो दिया रहता है या आने से बैठाया जा सकता है, जब कि भविष्य में सम्भावना नहीं होती, अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के समान दिखता है तथा अर्थ लगाने के लिए इव की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाविक में योगी की तरह कवि भी अप्रत्यक्ष भूत-भविष्य काल का दर्शन करता है। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष का कारण नहीं होता इसके विपरीत काव्यलिङ्ग में कारण-कार्य सम्बन्ध होता है। भाविक में अप्रत्यक्ष की भाँति वर्णन होने पर भी कवि के लिए यह ऐसी सामान्य बात होती है कि विस्मय उत्पन्न नहीं होता, चमत्कार मात्र उत्पन्न होता है, जब कि अद्भुत में विस्मय उत्पन्न होता है ॥ ११३ ॥

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः ।
त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात्पञ्चेषुरीक्ष्यसे ॥ ११४ ॥

अन्वयः—देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः (भवति, उदाहरति च) त्वं तस्याः हृदये वसन् साक्षात् पञ्चेषुः ईक्ष्यसे ।

व्याख्या—भाविकच्छविं व्याचष्टे—देशात्मेति । देशः=स्थान च आत्मा=शरीरं च देशात्मानौ ताभ्यां विप्रकृष्टस्य=दूरवर्तिनः पदार्थस्य दर्शनं=प्रत्यक्षीकरणं यत्र वर्ण्यते तत्र भाविकच्छविः=भाविकच्छविनामालङ्कारः । दूरस्थस्याप्यर्थस्य साम्निध्यवर्णनेऽयमलङ्कारः । भाविकस्य छविरिव छविर्यस्यासौ भाविकच्छविः ।

उदाहरति—त्वमिति । नायकं प्रति दूतीवाक्यम् । त्वं=भवान् तस्याः=नायिकाः हृदये=मनोमन्दिरे वसन्=वर्तमानः साक्षात्=प्रत्यक्षं पञ्चेषुः=पञ्चबाणः कामदेवः इव ईक्ष्यसे=दृश्यसे । अत्र देशेन आत्मना वा दूरस्थितायाः नायिकायाः हृदये दूरस्थस्य नायकस्य कामाभिन्नतया दर्शनवर्णनाद् भाविकच्छविनामालङ्कारः ।

देश की अपेक्षा अथवा अपने से दूर रहने वाले पदार्थ का जहाँ दर्शन वर्णित हो, वहाँ भाविकच्छवि अलंकार होता है। जैसे नायक के प्रति दूती की उक्ति है—उस नायिका के हृदय में निवास करते हुए आप साक्षात् कामदेव की तरह दिखाई दे रहे हैं। यहाँ सुदूर देश में स्थित नायिका के हृदय में नायक का रहना कहकर उसे कामदेव का रूप कहा। इसलिए यह भाविकच्छवि अलंकार है।

विशेष—नायक नायिका के हृदय में वास्तविक रूप से नहीं है, फिर भी उसे कामदेव के रूप में विद्यमान बताया गया है। यह नायक के प्रति दूती का वाक्य हो सकता है। 'भाविकस्य छविरिव छविः यस्य स भाविकच्छविः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाविक की शोभा के समान शोभा वाला अर्थ होने से यह अलंकार सार्थक है। भाविक में अप्रत्यक्ष

और प्रत्यक्ष होता है और इसमें भी इस आधार पर मोटे रूप से दोनों समान हैं, पर सूक्ष्मतया कुछ अन्तर है ही। यह भाविकच्छवि भाविक अलंकार में अन्तर्भूत किया जा सकता है, इसे न तो किसी पूर्ववर्ती आचार्यों ने माना है और न तो पश्चाद्वर्ती ने ही। भाविक में केवल भूत और भविष्य का ही प्रत्यक्ष होता है, वर्तमान का नहीं जब कि भाविकच्छवि में वर्तमान का, यही दोनों में सूक्ष्म भेद है ॥ ११४ ॥

उदात्तमृद्धिश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।
सानौ यस्याभवद् युद्धं तद् धूर्जटिकिरीटिनोः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—ऋद्धिः, अन्योपलक्षणं श्लाघ्यं चरितं च (यत्र वर्ण्यते तत्र) उदात्तं (भवति, उदाहरति) यस्य सानौ धूर्जटिकिरीटिनोः तत् युद्धम् अभवत्।

व्याख्या—उदात्तालङ्कारं लक्षयति—उदात्तमिति। यत्र श्लाघ्या ऋद्धिः= सम्पत्तिः वर्ण्यते च=अथवा यत्र अन्योपलक्षणम्=अपराङ्गं श्लाघ्यं चरितं वर्ण्यते तत्र उदात्तनामालङ्कारः। उत्कर्षेण आदीयते=गृह्यते इत्युदात्तम्। एवं च सम्पदाधिक्यमेकमुदात्तम्, महतां चरितस्य चाङ्गत्वमपरमुदात्तम्। तयोः प्रथमस्य सम्पदाधिक्यस्योदाहरणं ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम्। द्वितीयस्योदाहरणमत्र प्रस्तूयते— सानाविति। यस्य=हिमवत्पर्वतस्य सानौ=शिखरे धूर्जटिकिरीटिनोः धूः= भारभूता, जटिः=जटा यस्य स धूर्जटिः=शिवः, किरीटमस्यास्ती किरीटी=अर्जुनः तयोः शिवार्जुनयोः तत् महाभारतप्रसिद्धं युद्धं मल्लयुद्धम् अभवत्—अजायत।

जहाँ सम्पत्ति की अधिकता हो और दूसरे का अङ्ग रूप उत्तम पुरुष सम्बन्धी चरित वर्णित हो वहाँ उदात्त अलंकार होता है।

(जिस नगरी में प्रासादों की अट्टालिकाएँ चन्द्रकान्त मणियों से बनाई गई हैं, चाँदनी रात में चन्द्रकिरण के सम्पर्क से जहाँ निरन्तर जल बरसता रहता है। अतः वृष्टि के निमित्त मेघों की परवाह नहीं। वहाँ के केलिवन की समृद्धि का क्या पूछना है ?

जहाँ एक चन्द्रकान्त मणि परम दुर्लभ है, वहाँ अनेकों चन्द्रकान्त मणियों से अट्टालिकाओं का बनाया जाना बतलाकर नगरी की लोकातिशय सम्पत्ति वर्णित है। इसलिए सम्पत्ति की अधिकता का उदाहरण है)

जैसे—यह वही हिमालय का शिखर है जहाँ (पाशुपतास्त्र प्राप्ति के लिए तपस्या करते समय) किरात वेषधारी भगवान् शंकर तथा गाण्डीव धन्वा अर्जुन का घोर युद्ध हुआ था। यहाँ हिमालय के प्रकृत वर्णन में अर्जुन तथा भगवान् शंकर के युद्ध का अङ्ग रूप से वर्णन कर हिमालय की महत्ता बताई गई है। अतः यहाँ भी उदात्तालंकार है।

विशेष—उदाहरण में भगवान् शंकर और अर्जुन को गौण रूप में वर्णित कर हिमालय का प्रधान रूप से वर्णन किया गया है। अतः उदात्त अलंकार है। 'उच्चैः=उत्कर्षेण आत्तं= गृहीतम् इत्युदात्तम्' इस व्युत्पत्ति से जिसका वर्णन उत्कृष्ट रूप से किया गया अर्थ निकलने से तथा इसका अर्थ ऐश्वर्य या उच्चता होने से परिभाषा का आभास मिल सकता है। किसी

पदार्थ का उत्कृष्ट रूप में वर्णन उसकी समृद्धि तथा उसके महापुरुषों के सम्पर्क में होने के आधार पर ही होता है।

नागेश भट्ट के मत से इस अलंकार में इसका वर्णन भी गौण रूप से ही हो सकता है तथा यह अतिशयोक्ति मूलक अलंकार है। भामह, दण्ड और उद्भट ने इस अलंकार का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है और इसके दो भेद माने हैं। हेमचन्द्र ने इस अलंकार का अन्तर्भाव जाति, अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा ध्वनि में किया है।

अन्तर—स्वभावोक्ति और भाविक में स्वाभाविक वर्णन होता है। किसी का उत्कृष्ट वर्णन करना अभिप्रेत नहीं, जबकि उदात्त के वर्णनीय वस्तु की श्रेष्ठता दिखाने के लिए उसका सम्बन्ध अपूर्व समृद्धि या महिमाशाली घटना से जोड़ा जाता है।

सम्बन्धातिशयोक्ति में असम्बन्ध में भी सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, पर समृद्धि के असम्बन्ध को छोड़ दिया जाता है। इसके विपरीत उदात्त में समृद्धि के सम्बन्ध के होने पर भी उससे सम्बन्ध दिखाया जाता है। इस प्रकार उदात्त को सम्बन्धातिशयोक्ति का अपवाद कह सकते हैं यही यहाँ विशेष अन्तर है ॥ ११५ ॥

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—अद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् अत्युक्तिः (भवति, उदाहरति) हे राजेन्द्र ! त्वयि दातरि याचकाः कल्पशाखिनः (अपि) याचकाः ।

व्याख्या—अत्युक्त्यलङ्कारं व्याचष्टे—अत्युक्तिरिति । न तथ्यं = सत्यता यत्र तद् अतथ्यम्, अद्भुतम् = अनन्यसाधारणत्वादाश्चर्यजनकम्, उद्भूतं च अतथ्यं च अद्भुतातथ्यम् शौर्यं = वीरता च औदार्यं = महत्ता चेति शौर्यौदार्ये ते आदौ येषां ते शौर्यौदार्यादयः पदार्थाः तेषां वर्णनं = निरूपणं शौर्यौदार्यादिवर्णनं शौर्यौदार्यादिवर्णनं च अद्भुतातथ्यं चेति अद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् = अत्युक्तिः = अत्युक्तिनामालङ्कारः लोकातिशायिशौर्यादिवर्णनमत्युक्तिरिति भावः ।

उदाहरति—त्वयीति । हे राजेन्द्र ! = हे नृपश्रेष्ठ ! त्वयि = भवति, दातरि = वदान्ये सति कल्पशाखिनः = कल्पवृक्षा अपि याचकाः जाताः, कल्पवृक्षा अपि भवन्त याचन्ते अथवा भवतां दानातिशयमहिम्ना महान्तं धनराशिं संगृह्य याचका अपि कल्पवृक्षसमदातारः सञ्जाताः । उभयत्रैव कल्पवृक्षाणां याचकत्वे, याचकानां वा कल्पवृक्षत्वे राज्ञो मिथ्योदार्योक्तिः । शौर्याद्युक्तिर्यथा—

'राजन् ! सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः ।
पुनस्त्वद्वैरिवनिताबाष्पपूरेण पूरिताः ॥'

अत्र समुदाराणां राज्ञः प्रतापाग्निना शोषणवर्णनम् अलौकिकत्वाद् आश्चर्यंजनकम् अतथ्यञ्चेति मिथ्याशौर्योदार्याद्युक्तिरतिशयोक्तिनामालङ्कारः।

जहाँ आश्चर्यकारी वस्तु असत्य, शूरता और उदारता आदि वर्णित हो वहाँ अत्युक्ति अलङ्कार होता है। जैसे—हे राजेन्द्र! आपके दाता रहते हुए साक्षात् कल्पवृक्ष भी याचक हो गये। अर्थात् आपने इतना दान किया है कि वे स्वयं धनिक बनकर अन्य याचकों को कल्पवृक्ष के समान द्रव्य दान करने लगे अथवा कल्पवृक्ष स्वयं याचक हो गया, आपके पास लोकोत्तर धनराशि की याचना करने लग गया।

यहाँ राजा के दान से याचकों का धनिक बनकर कल्पवृक्ष के समान हो जाना अथवा कल्पवृक्ष का स्वयं याचक बन जाना। इस तरह का वर्णन आश्चर्यकारी है और असत्य भी है। राजा के दान की उदारता भी वर्णित है। अतः यह अत्युक्ति अलङ्कार हुआ।

विशेष—राजा की उदारता के वर्णन में याचकों का कल्पवृक्ष होना या कल्पवृक्ष का याचक बन जाना अद्भुत और तथ्यहीन भी है। कल्पतरु स्वर्ग का वृक्ष है जो याचकों की कामनाएँ पूर्ण करता है। याचक कल्पतरु हो गये का भाव यह है कि राजाने अपने याचकों को इतना दे दिया है कि वे स्वयं दूसरों की सभी इच्छाएँ पूर्ण करने में समर्थ हो गये।

कल्पतरु याचक हो गया का अर्थ है कि आपके पास असीम और अलभ्य सम्पत्ति इतनी है, जो कल्पतरु का सीमित और सामान्य समृद्धि से भी अधिक है कि जिससे वे कल्पतरु याचक होकर उन सम्पत्तियों का संग्रह करना चाहते हैं।

अन्तर—यह अलङ्कार अतिशयोक्ति से बहुत मिलता-जुलता है, अद्भुत मिथ्या बात की प्रधानता होने से इसे पृथक् अलङ्कार माना गया है। नागेश भट्ट इसका अन्तर्भाव उदात्त अलंकार में करते हैं, किन्तु अद्भुत मिथ्या बात की ही प्रधानता इसे उक्त अलंकार से अलग करती है॥ ११६॥

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः ॥ ११७॥
भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः।
अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः॥ ११८॥

अन्वयः—रस-भाव-तदाभास-भावशान्तिनिबन्धनाः रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहित-मयाभिधाः (चत्वारः—अलङ्कारा भवन्ति) भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः (गणनया) इमान् सप्त अलङ्कारान् केचित् मनीषिणः आहुः।

व्याख्या—कैश्चिदालङ्कारिकैः वक्ष्यमाणा अपि रसवदादयः सप्त अलङ्कारेषु परिगणिताः, अतस्तानपि श्लोकद्वयेन ब्रवीति। तत्रादौ रसवदादीन् चतुरोऽलङ्कारान् निरूपयति—रसभावेति। अलङ्काराणां प्राधान्यस्य युगे रसादीनां प्रतीतिः रसवदाद्यलङ्काररूपतया भवति एव, परन्तु रसप्राधान्ययुगे रसवदादीनां शब्दार्थोभय-निष्ठोपकारजनकद्वारा रसोपकारकत्वाभावान्न वास्तविकी अलंकारता स्वीकृता

किन्तु गौणस्तत्रालङ्कारप्रयोगः। काव्यप्रकाशे मम्मटेन रसवदादयोऽलङ्कारा गुणीभूतव्यङ्ग्यान्तर्गता अभिमताः। ध्वन्यालोके तु रसादीनां प्रधानतया रसवदादिस्थले मुख्यालङ्कारतैवाङ्गीकृता। एषां विकासक्रमो यथा—काव्यालङ्कारे भामहेन रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वत्-समाहिताख्याः चत्वारोऽलङ्काराः स्पष्टतः स्वीकृताः—

'प्रेयो रसवदूर्जस्वत्पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विप्रकारमुदात्तं च भेदैः श्लिष्टमपि त्रिधा॥'

दण्डिनाऽपि स्वकाव्यादर्शे एषां विलक्षणा अर्थाः कृताः—

'प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वद्रूढाहङ्कारयुक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥' २।२।७५॥

राजानकरुय्यकेन स्वकीयेऽलङ्कारसर्वस्वे रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वत्-समाहितातिरिक्ता भावोदय—भाव-सन्धि-भावशबलताभिधाः त्रयोऽलङ्कारा अपि अङ्गीकृताः सन्ति। साहित्यदर्पणे कुवलयानन्दे च सप्तैतेऽलङ्काराः स्पष्टतया उल्लिखिताः सन्ति। अत एव जयदेवेन सप्तैतानलङ्कारान् प्रदर्शयता कारिकायां 'केचिदाहुर्मनीषिणः' इत्युक्तम्। रसाः=शृङ्गारादयश्च भावाः = निर्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशत्सञ्चारिभावाः तयो रसभासयोः आभासाः=रसाभासा भावाभासाश्च भावसन्धिश्चेति रसभावतदाभासभावसान्धयः एता निबन्धनानि कारणानि येषां ते रसभावतदाभासशान्तिनिबन्धनाः, रसवांश्च प्रेयांसश्च ऊर्जस्वच्च समाहितश्चेति रसवत्प्रेय ऊर्जस्वत्समाहिताः तन्मया तद्रूपाः अभिधा = नामानि येषां ते रसवत्प्रेय ऊर्जस्वत्समाहितमयाभिधाः = रसवत्प्रेयऊर्जस्वत्समाहित्यख्या अलङ्कारा भवन्ति। तथा च रसवदलङ्कारः प्रेयोऽलङ्कारः ऊर्जस्वदलङ्कारः समाहितालङ्काराश्च।

अत्रेदं तात्पर्यम्—यत्रैको रसः रसान्तरस्य भावस्य वा अङ्गत्वेन उपवर्ण्यते तत्र रसोऽस्तीति व्युत्पत्त्या रसवदलङ्कारः। उदाहरणं यथा—महाभारते स्त्रीपर्वण्यश्चतुर्विंशाध्याये—

'अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥'

अत्र रणाङ्गणे निधनं गतस्य पत्युः भूरिश्रवसश्छिन्नं हस्तं विलोक्य तद्भार्याया विलाप इति शोकप्रधानत्वात् पूर्णतया वर्तमानः करुणरसः पीनस्तनविमर्दनेत्यादि तत्कार्यस्मरणो· दीपितेन विप्रलम्भशृङ्गारेण परिपोषं नीयते इति शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्। तेन चात्र रसवदलङ्कारः।

यत्र भावोऽपरस्याङ्गं तत्र प्रेयोऽलङ्कारः। प्रकृष्टप्रियत्वात् प्रेय इति संज्ञा। विभावादिपरिपुष्टा निर्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशद्भावा देवता-गुरु-राजविषयिणी रतिश्च भाव इत्युच्यते। उदाहरणं यथा—

'कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन!
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥'

अत्रामरतटिनीरोधसि वसन्नहं कदा वाराणस्यां दिवसान् नेष्यामीति चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावः शान्तिरसस्याङ्गमिति प्रेयोऽलङ्कारः।

यत्र रसाभासो भावाभासश्च अपरस्याङ्गं तत्रोर्जस्वदलङ्कारः। ऊर्जो बलं तदत्रास्तीत्यूर्जस्वत्। यत्र रसो भावश्च अनौचित्येन प्रवृत्तो भवति तत्र रसाभासः भावाभासश्च भवति। ऊर्जस्वदुदाहरणं यथा—

'वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम्॥'

अत्र परस्त्रीसुरतवर्णनेन शृङ्गाराभासः। स च राजविषयकरतिभावस्याङ्गमिति रसाभासरूप ऊर्जस्वदलङ्कारः। भावाभासस्योदाहरणं यथा—

'त्वयि लोचनगोचरं गते सफलं जन्म नृसिंह! भूपते!।
अजनिष्ट ममेति सादरं युधि विज्ञापयति द्विषां गणः॥'

अत्र प्रभुविषयकरतिभावस्य तद्विषयकद्विषन्निष्ठ इति रूपोऽङ्गमिति भावाभास ऊर्जस्वदलङ्कारः।

भावस्य प्रशाम्यवस्था न्यूनस्वरूपा भावशान्तित्वेन प्रसिद्धाः, सा च यत्र पराङ्गत्वेन कथ्यते तत्र समाहितालङ्कारः। अस्योदाहरणं यथा—

'अविरल करवाल-कम्पनैर्भ्रुकुटी-तर्जन-गर्जनैर्मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणं क्षणात्॥'

अत्र राज्ञोऽवलोकनानन्तरमेव वैरिमदस्य शान्तत्वाद् मदाख्यभावस्य प्रशान्तिः। सा च पुनर्नृपविषयकरतिभावस्याङ्गमिति समाहितालङ्कारः। भावोदयादीन् त्रीन-लङ्कारानाह—भावानामिति। भावानामुदयः=उद्गमावस्था भावोदयः, द्वयो-र्विरुद्धयोर्भावयोः सन्धिः=परस्परस्पर्धा भावसन्धिः, अनेकेषां भावानां शबलत्वं= मिश्रत्वं भावशबलता एतेषां पराङ्गत्वे तदाख्या एवालङ्काराः भावोदस्य पराङ्गत्वे

भावोदयः, भावसन्धेः पराङ्गत्वे भावसन्धिः, भावशबलतायाश्च पराङ्गत्वे भावशबलतेति त्रयोऽलङ्कारा इति ज्ञेयम् । तत्र भावोदय उदाह्रियते—

मधुपानप्रवृत्तस्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः ।
श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम् ॥

अर्थात् हे राजन् ! त्वन्नाम श्रुत्वा ते शत्रवस्त्रस्ता इति त्रासभावोदयो, राजस्तुताबङ्गमिति भावोदयोऽलङ्कारः । भावसन्धेरुदाहरणं यथा—

जन्मान्तरीण–रमणस्याङ्ग–सङ्ग–समुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥

अत्रौत्सुक्यलज्जाख्यभावयोः सन्धिः पार्वतीविषयकरतिभावस्याङ्गमिति भावसन्धिरलङ्कारः । भावशबलता उदाह्रियते—

पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वी परिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कश्चित् फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥

अत्र शंका–असूया–धृति–स्मृति–श्रम–दैत्य–विबोधौत्सुक्यानां भावानां शबलता राजविषयकदूतीभावस्याङ्गमिति भावशबलतालङ्कारः ।

एवञ्च रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वत्-समाहित-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताविधाः सप्त कैश्चिदेवालङ्कारकैराचार्यैः, अलङ्कारत्वेनाङ्गीकृता न तु सर्वैः । यतः किलालङ्काराणां शब्दार्थोभयनिष्ठोपकारजननद्वारा रसोपकारकत्वं रसादेश्चालङ्कार-कार्यत्वम् । विविधानि मतान्याकलय्य जयदेवकविः केचिदिति पदेनैषामलङ्कारत्वं प्रतिपादयामासेत्यलं पल्लवितेन ।

इस ग्रन्थकर्ता जयदेव कवि के मतानुसार अलंकार निरूपण समाप्त हुआ । अब अन्य आलङ्कारिकों के मत से गौण रूप में माने गये कुछ आवश्यक अलंकारों का निरूपण करते हैं ।

शृंगारादि रस, निर्वेदादि तैंतीस सञ्चारिभाव तथा गुरु-नृप-देवतादि विषयक रतिरूपभाव रसाभास भावाभास, और भावशान्ति एतन्मूलक अर्थात् रसभावादि घटित रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वत् और समाहित ये चार अलंकार होते हैं ।

इसी तरह इनके अतिरिक्त भावघटित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबल नामक ये तीन अलंकार होते हैं । रसभावघटित रसवदादि चार और भावघटित भावोदयादि तीन सब मिलाकर उक्त सात अलंकारों का कुछ आलङ्कारिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है । रसवदादि अलंकारों का स्वरूपनिरूपण उदाहरण के साथ इस प्रकार है—

(१) जहाँ कोई एक रस किसी दूसरे रसका अथवा भाव का अङ्ग हो जाय, वहाँ रसवद् अलंकार होता है। जैसे—'अयं स रसनात्कर्षी' महाभारत के स्त्री पर्व में मृत भूरिश्रवा के हाथ को गिरा देख कर उसकी पत्नी विलाप करती हुई कहती है—यह पूर्वानुभूत रमण के लिए करधनी को पकड़कर अपनी ओर खींचने वाला, पुष्टस्तनों को मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु, और जघन को स्पर्श करने वाला और साड़ी की ग्रन्थि को ढीला करने वाला हाथ है। यहाँ शृंगार के साथ मृतपति के निमित्त करुणोद्गार दिखाया गया है। अर्थात् शृंगार रस का वर्णन करुण रस का अङ्ग है। इसलिए रसवद् अलंकार है।

(२) जब कोई एक भाव दूसरे किसी भाव या रसादिका अङ्ग हो जाय, तब प्रेय अलङ्कार होता है। जैसे—'कदा वाराणस्याममरतटनी रोधसि वसन्'। अर्थात् वाराणसी में पतितपावनी भगवती भागीरथी के तटपर रहता हुआ, कौपीन को धारण किये मस्तक पर अञ्जलि जोड़कर हे गौरीनाथ, हे त्रिपुरविजयी, त्रिलोचन भगवान् शम्भु! अब आप प्रसन्न होवें। इस तरह करबद्ध प्रार्थनापूर्वक अपने समय को कैसे बिता सकूँगा। यहाँ मैं काशी में गंगा के तट पर कब भगवद्ध्यान परायण होऊँगा। यह चिन्ता नामक भाव शान्तरस का अङ्ग है। इसलिए प्रेम अलङ्कार है।

(३) जब रसाभास और भावाभास किसी रस या भावादिका अंग हो जाय, तब ऊर्जस्वदलंकार होता है। जैसे—'वनेऽखिलकलासक्ताः' अर्थात् किसी राजा की स्तुति में कोई राजभक्त कहता है—राजन्! बन में पुलिन्द समस्त कलाओं में प्रवीण अपनी स्त्रियों को छोड़कर आपकी शत्रुवनिताओं में रति करते हैं। यहाँ परस्त्री के साथ संभोग वर्णन के कारण शृंगाराभास है और यह राजविषयक रति भाव अंग है। इसलिए ऊर्जस्वत् अलंकार है।

(४) जब निर्वेदादि भावों में किसी भाव की शान्ति किसी रस अथवा भावादि का अंग हो जाय, तब समाहित अलंकार होता है। जैसे 'अखिलकरतालकम्पनैः' अर्थात्—हे राजन्! आपके शत्रु तलवार को निरन्तर लपलपाकर भौंहों को चढ़ाकर वीरता की जो लम्बी-लम्बी डींग हाकते रहते थे उनकी वह डींग आपके एकमात्र अवलोकन से क्षत्रमात्र में ही कहाँ चली गई, पता नहीं। तात्पर्य यह है कि आपकी निगाह शत्रुओं पर पड़ते ही उनका गर्व शान्त हो गया। यहाँ मदाख्य भाव राजविषयक रतिभाव का अंग है। इसलिए समाहित अलङ्कार है।

(५) जहाँ किसी भाव का उदय दूसरे किसी भाव का अङ्ग हो जाय, वहाँ भावोदय अलंकार होता है। जैसे—'मधुपानप्रवृत्तास्ते' अर्थात् हे राजन्! आपके शत्रु अपने मित्रों के साथ निर्द्वन्द्व होकर मधुपान कर रहे थे, इतने में ही किसी से आपका नाम सुनते ही फीके पड़ गये। यहाँ त्रास नामक भाव का उदय राजविषयक रतिभाव का अंग है। अतः भावोदय अलङ्कार है।

(६) जहाँ परस्पर दो विरुद्ध भावों की सन्धि होकर वह किसी भावका अंग हो जाय तो, भावसन्धि अलङ्कार होता है। जैसे—'जन्मान्तरीणरमणस्य' अर्थात्—पूर्व जन्म के प्रिय पति भगवान् शङ्कर के आलिंगन में अत्युत्कण्ठित, परन्तु सखी के समीप रहने के कारण

सलज्ज पार्वती हम लोगों का सर्वदा रक्षा करें। यहाँ सलज्जा और उत्कण्ठा रूपी दो भावों की सन्धि है और वह देवताविषयक रति का अंग है। इसलिए यह भावसन्धि है।

(७) जहाँ अनेक भावों का मिश्रण होकर वह किसी भाव का अङ्ग हो जाय, वहाँ भाव शबलता होती है। जैसे—'पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे!' अर्थात् पराजित होकर वन में रहने वाले किसी शत्रु राजा की कन्या के साथ किसी वनेचर की उक्तिद्वारा कोई राजभक्त राजा की स्तुति करता है—कोई राहगीर हम दोनों को इस निर्जन वन में देखकर दुष्टवृत्ति की भावना करेगा। इसलिए अरे चञ्चल वनेचर! मेरे साथ अन्यत्र चल (यह कन्या की उक्ति है) यहाँ से अन्यत्र गमन की कौन सी जल्दी है, सहसा यहाँ कोई आ नहीं सकता, (यह वनेचर की प्रत्युक्ति है) मैं कुमारी राजकन्या हूँ। अतः यदि किसी को जरा भी शंका हो गयी तो, महान् अनर्थ होगा, मैं फल-फूल के संचय करने में विशेष श्रान्त हो गयी हूँ (कन्या की उक्ति है)। यदि थक गयी हो तो मेरे हाथ का सहारा लो (यह वनेचर की उक्ति है) हहहा! (यह राज कन्या की दैन्यसूचक उक्ति है) राजकन्या होते हुए वनेचर का हस्तावलम्बन करना यह क्रम विरुद्ध है। बाद वनेचर कहीं छिप गया। अनन्तर कन्या कहती है, तुम कहाँ हो, कहाँ जा रहे हो। हे महाराज! इस तरह वन में रहने वाले आप के शत्रुओं की कन्यायें फल–फूल लाने के लिए अपनी झोंपड़ी से निकल कर तरुण वनेचर के साथ प्रेमालाप किया करती हैं। यहाँ शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दीनता, निबोध और औत्सुक्य भावों का मिश्रण है और वह राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है। अतः यह भावशबलता है और वह विप्रलम्भ शृंगार रस का परिपोषक होने से अलंकार के रूप को धारण कर लेती है।

इस प्रकार रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वत्, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता नाम इन सात अलङ्कारों को कोई-कोई विद्वान् नहीं मानते हैं, क्योंकि रस स्वयं प्रधान रूप से रहता है, वह अप्रधान होकर किसी का अलङ्कार नहीं हो सकता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने जो इनको अलङ्कार बतलाया है वह गौण समझना चाहिए।

मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में इनको गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्तर्गत माना है। इन सब मतों को देखकर चन्द्रालोकप्रणेता जयदेव कवि ने यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र करा दिया है।

विशेष—अलङ्कारों की प्रधानता के युग में रसवत् आदि अलंकार भी अलंकार के रूप में माने जाते थे, किन्तु रस की प्रधानता के समय इनकी उपेक्षा कर दी गयी। इनका प्रयोग गौणरूप से होने लगा, क्योंकि जो रस अलंकारों से भूषित होता है वह स्वयं अलंकाररूप नहीं हो सकता। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने रसवदादि अलंकारों को गुणभूत-व्यङ्ग्य के अन्तर्भूत माना है।

रसवदादि अलंकारों का क्रमविकास इस प्रकार है। सर्वप्रथम भामहने अपने काव्यालंकार में रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वत् और समाहित इन चार अलंकारों को माना है और आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इनका विलक्षण अर्थ किया है—रस से उत्पन्न आनन्द कारक कथन को रसवत् कहते हैं, अत्यन्त प्रिय कथन को प्रेय और अहंकार युक्त वर्णन

को ऊर्जस्वत् कहते हैं। ये अलंकार रुद्रट भट्टीय काव्यालंकार में भी माने गये हैं। ध्वन्यालोक में तो स्पष्ट लिखा गया है कि जहाँ रस आदि पदार्थ अन्य पदार्थ के अङ्ग हो जायँ वहाँ के अप्रधान होने के कारण अलंकार माने जाते हैं।

रजानक रुय्यक ने अपने अलङ्कार सर्वस्व में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वत् और समाहित इन चारों के आलावा भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता ये तीन अलंकार और माने हैं। कुवलयानन्द और साहित्य दर्पण में इन सातों अलंकारों का स्पष्ट उल्लेख है। अतएव जयदेव ने भी अपने चन्द्रालोक में इनका उल्लेख करते हुए कारिका में कहा है कि 'अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः' ॥ ११७–११८ ॥

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी ॥ ११९ ॥

अन्वयः—शुद्धिः एकप्रधानत्वम् तथा संसृष्टिसङ्करौ (अलङ्काराः) एतेषामेव विन्यासात् अमी अलङ्कारान्तराणि न।

व्याख्या—शुद्धयादीनां चतुर्णामलङ्कारान्तरत्वं निराकुरुते—शुद्धिरिति। शुद्धिः एकप्रधानत्वम्, तथा संसृष्टिसङ्करौ = संसृष्टिः, सङ्करश्च, एतेषां = पूर्वोक्तानाम् अलङ्काराणामेव विन्यासात् = रचनाविशेषात् अमी = चत्वारः अलङ्कारान्तराणि न सन्ति। तथा च शुद्धयादयो हि पूर्वोक्तालङ्कारेष्वेव अन्तर्भवन्ति, न तेभ्यः पृथग्भूताः, विन्यासभेदे स्वरूपभेदानुदयात्। स्वरूपभेदे तु रसानामपि विन्यासभेदे रसान्तरत्वापत्तेः।

यत्रैक एवालङ्कारस्तत्र शुद्धिः। द्वयोरलङ्कारयोर्यत्रैकोऽलङ्कारः अन्योपपादकः तत्रैकप्रधानत्वम्। तिलतण्डुलन्यायेन यत्र परस्परापेक्षाविरहेण शब्दार्थालङ्काराणां पृथक्-पृथक् स्थितिः तत्र संसृष्टिः। शब्दालङ्काराणामर्थालङ्काराणामुभयेषां च परस्परानपेक्षया स्थित्या त्रिविधैषा।

नीर-क्षीरन्यायेन यत्रालङ्काराणां स्थितिः तत्र सङ्करः। अलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावत्वेऽङ्गाङ्गिभावसङ्करः। एकाश्रयास्थितौ एकवाचकानुप्रवेशसङ्करः। सन्दिग्धत्वे च सन्देहसङ्कर इति त्रयो भेदाः। तत्रादौ प्रथमा संसृष्टिर्यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

अत्रोत्प्रेक्षोपमयोः तिलतण्डुलन्यायेन परस्परानपेक्षया स्थित्यार्थालङ्कारसंसृष्टिः। द्वितीया यथा—

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरुदधिः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गना ॥

अत्र पिनष्टीव, लिम्पतीवेति सजातीयैरुत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः । तृतीया च यथा—

आनन्दमन्थर पुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-मञ्जीर-सिञ्जित-मनोहरमम्बिकायाः ॥

अत्रोपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ।

अङ्गाङ्गीभावसङ्करोदाहरणं यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

अत्र सन्ध्यादिवसपदयोः लिङ्गसाम्यघटितया नायकनायिकाप्रतीतौ उपस्थिता समासोक्तिः, अनुरागरूपकारणे सत्यपि समागमरूपकार्यस्यानुदयात् उपस्थितायाः विशेषोक्तेः अङ्गमिति अङ्गाङ्गीभावसङ्करः ।

द्वितीयसङ्करोदाहरणं यथा—'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इवेत्युपमा, अथवा चन्द्र एवेति रूपकं ? इत्यङ्गाङ्गिभावेन स्थितोभयालङ्कारान्यतरस्य कस्यचनैकस्य साधकबाधकप्रमाणाभावतया निश्चयानुपलम्भात् अत्र कस्यचनप्राधान्यमिति सन्देहः ।

सङ्करतृतीयोदाहरणं यथा—

मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी ।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥

अत्र मुरारिनिर्गतेत्यर्थश्लेषोद्भवाया उपमाया नरकप्रतिपन्थिनीति शब्दश्लेषोद्भवायाश्च इवेत्येकपदप्रतिपाद्यत्वात् तृतीयः सङ्करः ।

तथा च एतेषामेव प्रागुक्तानामलङ्काराणां विन्यासात् = रचनाविशेषात् अलङ्कारान्तराणि = अत्र प्रतिपादितालङ्कारेभ्यो भिन्ना अलङ्काराः न सन्ति । शुद्ध्यादयोऽलङ्काराः उक्तालङ्कारेष्वेवान्तर्भूताः, न तेभ्यः पृथग्भूता इति भावः ।

शुद्धि एक प्रधानत्व, संसृष्टि और संकर इन चारों में अलंकारत्व का निरास करते हैं। जहाँ एक ही अलंकार रहे वहाँ शुद्धि, जहाँ दो अलंकारों में एक ही की प्रधानता हो वहाँ एक प्रधानत्व तिलतण्डुल न्यास से जहाँ शब्द और अर्थ के अलंकार परस्पर निरपेक्ष रूप रहे वहाँ संसृष्टि, नीर-क्षीर न्याय से अलङ्कारों की एकस्थिति को सङ्कर कहते हैं। इस तरह ये चारों शुद्ध्यादि पूर्व कथित अलंकारों की रचना के प्रकार विशेष से ही स्वयं सम्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए इनको सर्ववादिमत समाप्त अलंकारों से पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष—प्रस्तुत करने में थोड़ा विन्यास भेद होने से अन्य अलंकार दूसरे नाम से

अभिहित नहीं किया जा सकता है। अतः ग्रन्थकार ने उक्त चारों को पूर्वोक्त अलंकारों में ही अन्तर्भूत कर दिया है।

अन्तर—जहाँ दो अलंकार अलग-अलग प्रगट होते हैं, आपस में मिल नहीं जाते वहाँ संसृष्टि होती है। इसे समझने के लिए तिल-तण्डुल न्याय का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार तिल और तण्डुल=चावल मिला देने पर भी अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार दो अलंकारों को एक साथ आने पर भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट होने पर संसृष्टि की स्थिति होती है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा तृतीय चरण में उपमा है, दोनों की सत्ता अलग-अलग स्पष्ट है। इसी प्रकार शब्दालंकार और अर्थालङ्कार का संसृष्टि होने से तीन भेद होते हैं।

संकर—जहाँ दो अलङ्कार एक दूसरे से विलीन हो जायँ, वहाँ संकर अलंकार होता है। इसको समझने के लिए नीरक्षीर न्याय का प्रयोग किया जाता है। नीर (पानी) और क्षीर (दूध) के आपस में मिल जाने पर उन्हें अलग-अलग देख पाना संभव नहीं, उसी प्रकार जहाँ मिले हुए दो अलंकार अलग-अलग न पहचाने जाते हैं, वहाँ संकर होता है। इसका उदाहरण—

अनुरागवती सन्ध्या दिव्यत्तत्पुरःसरः।

यहाँ सन्ध्या और दिवस नायक और नायिका की प्रतीति होती है। अतः यहाँ समासोक्ति है। कारण अनुराग होने पर कार्य, समागम न होने के कारण विशेषोक्ति भी है। तही शब्द और अर्थ दोनों का आधार है। अतः इन मिले-जुले अलङ्कारों की स्थिति होने से यहाँ संकर है। पूरे में विशेषोक्ति और एक अंश में समासोक्ति होने पर दोनों की स्थिति क्रमशः अंग और अंगी है। इस आधार पर इस भेद का नाम अङ्गाङ्गीभाव संकर है।

जहाँ भी दो अलंकार होगे वहाँ या तो संसृष्टि होगी या संकर इस दृष्टि से ये अलंकार अलंकार बड़े महत्त्व के हैं।

अलंकार शोभाधायक होते हैं। अलग-अलग अलंकार जब एक साथ पहने जाते हैं तो विशेष शोभाप्रद होते हैं, उसी प्रकार काव्य में दो अलंकारों के साथ आने पर एक अपूर्व शोभा हो जाती है। अधिक शोभाधायक अलंकार संसृष्टि और संकर है।

उद्भट ने सर्वप्रथम संसृष्टि और संकर को अलग-अलग उल्लिखित किया है। भामह, दण्डी और भोज की संसृष्टि, संकर और संसृष्टि का मिश्रण है। वामन ने संसृष्टि का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया है। अप्पयदीक्षित तथा मम्मट के अनुसार संकर के तीन तथा पाँच भेद हैं॥ ११९॥

सर्वेषां च प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम्।
उपाधिः क्वचिदुद्भिन्नः स्यादन्यत्रापि सम्भवात्॥ १२०॥

अन्वयः—प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम् सर्वेषां, उद्भिन्नः उपाधिः क्वचित् अन्यत्र अपि सम्भवात् स्यात्।

व्याख्या—शुद्धयादीन् निराकर्तुं दूषणान्तराण्याह—सर्वेषामिति । प्रतिद्वन्द्वः=विरोधितया न्यूनता च प्रतिच्छन्दः=आधिक्यं च प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दौ ताभ्यां भिदां=भेदं बिभ्रतीति प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृतः तेषां प्रतिद्वन्द्वप्रतिच्छन्दभिदाभृताम्=न्यूनाधिक्यभेदवताम् । यद्वा प्रतिद्वन्द्वः = विसदृशं = प्रतिच्छन्दः सदृशं ताभ्यां भिन्नानां सर्वेषां = समेषाममुत्रान्यत्र चोक्तानामलङ्काराणाम्, उद्भिन्नः = कथितः; उपाधिः = प्रकारः, क्वचित् = कुत्रापि अन्यत्रापि = उक्तशुद्धयाधिस्थलेऽपि सम्भवात् = उत्पन्नत्वात् अलङ्कारत्वं स्यात् = भवेत् । इदं तात्पर्यम्—यावन्तोऽलङ्काराः प्राचीनैरर्वाचीनैश्चालङ्कारिकैरङ्गीकृता वर्तन्ते तेषु प्रत्यलङ्कारं न्यूनाधिक्यपरिवर्तनरूपः कश्चन भेदो भवत्येव । यदि तमेव भेदमुररीकृत्य अलङ्कारपरिगणनं क्रियेत तदानन्त्यादनवस्थापाताच्च तेषां परिगणनमेव न स्यात् । इत्थं च सादृश्यरूपकापेक्षया पृथक्स्थितसादृश्यरूपकस्य आधिक्यात् इवादिपदाभावे लुप्तोपमायाश्च पूर्णोपमापेक्षया न्यूनत्वान्नैते सादृश्यरूपकादयोऽलङ्काराः रूपकोपमादितो भिन्नाः तथैवेमे शुद्धयादयोऽलङ्कारा अपि नालङ्कारान्तराणीति भवितुमर्हन्तीति भावः ।

उक्त शुद्धि आदि को अलंकारत्व मानने में और भी दूषण देते हैं—प्रतिद्वन्द्व (न्यूनता) प्रतिच्छन्द (अधिकता) की उपाधि से कोई भी अलंकार अछूता नहीं है । प्रत्येक अलंकारों में अलंकारान्तार की अपेक्षा किसी न किसी अंश में न्यूनता या अधिकता कुछ न कुछ रहती ही है । यदि इस भेद को अलङ्कारों की कसौटी मान लिया जाय तो अनवस्था होगी और इनकी गणना का अन्त नहीं हो पायेगा ।

यही कारण है कि पृथक् कथित सादृश्य रूपक में सादृश्य रूपक की अपेक्षा अधिक होने पर भी लुप्तोपमा में पूर्णोपमा की अपेक्षा न्यूनता होने पर भी उन दोनों को पृथक् अलङ्कार नहीं मानते । इसलिए उक्त शुद्धि, संसृष्टि आदि माने हुए अलंकरों से अतिरिक्त नहीं हो सकते । जिस प्रकार सादृश्य रूपक और लुप्तोपमा ये दोनों अलङ्कार रूपक और उपमा से भिन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार शुद्धि संसृष्टि आदि अलंकार भी अलंकारान्तर नहीं हो सकते ।

विशेष—भाव यह है कि शुद्धि आदि को अलङ्कार मानने पर अनन्त अलङ्कार मानने पड़ेंगे । जिस आधार पर शुद्धि को अलङ्कार माना गया है उसी आधार पर हर अलङ्कार के न्यून, अधिक, सदृश एवं विसदृश रूप देखकर कई भेद मानने पड़ेंगे ।

सदृशता के आधार पर सादृश्य रूपक को रूपक के अतिरिक्त अलंकार माना गया है । इसी तरह अन्य अलंकारों में भी भेद किये जा सकते हैं । उपमा के अतिरिक्त लुप्तोपमा अलंकार इव या अन्य उपमावाचक शब्द की न्यूनता कर मानी जा सकती है । इससे व्यर्थ विस्तार होगा । अतः जयदेव ने ये भेद नहीं मानकर विशेष चमत्कार और विशेष अन्तर होने पर अलंकार माने हैं । इनके मत से केवल वे ही अलङ्कार स्वीकार किये जा सकते हैं जहाँ कोई विशेष चमत्कार है ॥ १२० ॥

माला परम्परा चैषां भूयसामनुकूलके।
मनुष्ये भवतः क्वापि ह्यलङ्कारङ्गतां गते ॥ १२१ ॥

अन्वय:—भूयसाम् एषां माला परम्परा च अलङ्काराङ्गतां गते अनुकूलके मनुष्ये (इव) क्वापि (काव्येऽपि) भवतः।

व्याख्या—मालोपमा-रशनोपमादीनामपि नालङ्कारान्तरत्वमिति व्याचष्टे—मालेति। भूयसां=बहूनामेषां=उक्तानामलङ्काराणां, माला=मालाकारेण विन्यासः, परम्परा=रशनाद्याकारेण विन्यासश्च, अलङ्काराङ्गतां=अलङ्कारोपकारकत्वं गते=प्राप्ते अनुकूलके=चमत्कारजनके मनुष्ये इव क्वापि=काव्येऽपि भवतः=स्तः। मनुष्ये यथा मालापरम्परा च शोभाजनके भवतः तथा काव्येऽपि अलङ्काराणां मालापरम्परा च शोभाजनके भवतः। तथा च मालोपमा-रशनोपमादीनां रशना-रूपक-मालारूपकादीनां च नालङ्कारत्वमिति भावः।

इसी तरह मालोपमा और रशनोपमा भी पृथक् अलंकार नहीं माने जा सकते, मनुष्यों के शरीर में माला रूप से अथवा रशना के रूप से किया हुआ आभूषणों का विन्यास जैसे लोकोत्तर शोभा का आधायक होता है उसी प्रकार मालोपमा, रशनोपमा और मालारूपक रशनारूपक भी काव्य में केवल शोभा के ही वर्धक माने गये हैं। ये उपमा और रूपक से भिन्न नहीं हैं।

यह श्लोक अधूरा सा प्रतीत होता है। मनुष्य की तरह काव्य में भी ये अलङ्कार शोभावर्धक एवं उपकारी होने के कारण अलङ्कार हो सकते हैं, पर इस आधार पर व्यर्थ भेद बढ़ाने से अनन्तता आयेगी। क्वापि का अर्थ कहीं-कहीं काव्य में लगाकर इसे मनुष्य के पीछे जोड़कर अर्थ लगाना अच्छा नहीं है।

माला और परम्पर में भेद यह है कि माला में कई समान फूल एक डोरे की शोभा बढ़ाते हैं, परम्परा में करधनी की तरह एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुटी होती है और आपस में मिलकर कड़ियाँ शोभावृद्धि करती हैं।

यहाँ अनुकूले, और गते स्त्रीलिंग और द्विवचन विशेषण हैं, जो माला और परम्परा की विशेषता बताते हैं। दो अलङ्कारों की पृथक्-पृथक् शोभायें होती हैं, पर एक साथ होने से एक तीसरी शोभा भी आ जाती है, जो माला या परम्परा के रूप में होती है।

ग्रन्थकार ने इस तरह अलंकारों के अति विस्तार को देखकर संक्षेप किया है। कुछ के ये भेद ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं हैं। अतः विस्तार से नहीं कहा है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष चमत्कार देखकर उन्होंने मालादीपक को तो अलंकार के रूप में वर्णित कर दिया है तथा शेष को उतना महत्त्वपूर्ण न देखकर संक्षेप में स्वीकार कर लिया है।

कभी-कभी यह माला या परम्परा अत्यन्त शोभा जनक होती हैं। अतः इसके कुछ उदाहरणों का दिग्दर्शन किया जाता है।

मालोपमा—जिस उपमा में एक उपमेय के कई उपमान होते हैं वह मालोपमा होती है, जैसे—

श्यामा लतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे।
हंसीव कलाकलापा चैतन्यं हरति निद्रेव॥

अर्थात्—श्यामालता की तरह पतली, चाँदनी की भाँति अतिस्वच्छ, हंसिनी के समान कल आलाप वाली वह प्रिया के सदृश मेरा चैतन्य हर लेती है। इस उपमा में एक उपमेय तन्वी के कई उपमान–श्यामा, चन्द्रकला, हँसी तथा निद्रा होने से मालोपमा है।

मालारूपकः—जिस रूपक में एक उपमेय कई उपमान होते हैं उसे मालारूपक कहते हैं। जैसे—

मनोजराजस्य सीतातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः।
विराजते व्योम सरः सरोजं कर्पूरपूरप्रममिन्दुविम्वम्॥

अर्थात् राजा कालदेव का श्वैत छत्र, दिशा सुन्दरी का चन्दन से अंकित चित्र, और आकाश सरोवर का कमल चन्द्रमण्डल कपूर के प्रवाह की भाँति शोभित हो रहा है। इस रूपक में एक उपमेय चन्द्रमण्डल कें कई उपमान, आतप्रत्र, श्रीखण्ड, चित्र तथा व्योमसर सरोज होने से माला रूपक है।

रशनोपमा—जिस उपमा में हर उपमेय आगे हो जायें और नये-नये उपमेय आते जायें वह रसनोपमा होता है। जैसे—

चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः॥

अर्थात्—हंसी, श्वेत कान्ति से चन्द्र सी, सुन्दरी, सुन्दर गति से हंसी सी जल स्पर्श सुख से सुन्दरता और आकाश स्वच्छता से जलसा हो रहा है। इस उपमा में हंसी, सुन्दरी- और जल पहले उपमेय बाद में उपमान की तरह तथा सुन्दरी जल और आकाश नये-नये रूप में आये हैं। अतः यहाँ रशनोपमा है।

रसनारूपक—जिस रूपक में हर उपमान आगे उपमेय हो जायें और नये उपमान आते जायें वह रशना रूपक है, जैसे—

किसलकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां जगज्जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः॥

अर्थात्—कामदेव लताओं के किसलय करों से, कामिनियों के कर कमलों से कमलिनियों के कमलमुखों से तथा स्त्रियों के मुखचन्द्रों से संसार को जीतता है। यहाँ कई उपमान—कर, कमल, मुख और इन्दु उपमान और बाद में उपमेय की तरह आये हैं तथा उपमान नये-नये कमल मुख और इन्दु आते गये हैं। अतः यह रसना रूपक है॥ १२१॥

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे वाक्यार्थस्तबके तथा।
एते भवन्ति विन्यासाः स्वभावातिशयात्मकाः॥ १२२॥

अन्वयः—एते विन्यासाः शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे तथा वाक्यार्थस्तबके स्वभावातिशयात्मकाः भवन्ति।

व्याख्या—अतिशयोक्त्यन्तर्गता एव सर्वेऽलङ्कारा इति परेषां मतं दूषयितुमादौ तत्स्वरूपं प्रदर्शयते शब्द इति—कस्यापीति च पद्यद्वयेन। शब्दे=शब्दालङ्कारे—अनुप्रासयमकादयः पदार्थे=अर्थालङ्कारे—उपमारूपकादयः वाक्यार्थे=वाक्यार्थगतालङ्कारे—दृष्टान्तादयः तथा वाक्यार्थस्तबके=अनेकवाक्यार्थगतालङ्कारे निदर्शनादयः इत्येते=इमे विन्यासाः=रचनाविशेषाः, स्वभावातिशयात्मकाः-स्वाभावात्=निसर्गात् अतिशयः=अतिशयोक्तिः आत्मनि येषां ते स्वभावातिशयात्मकाः=अतिशयोक्तिस्वरूपाः एव भवन्ति=सन्ति।

कुछ आलंकारिकों का कहना है कि अतिशयोक्ति से अछूता कोई अलंकार नहीं है। जैसे अनुप्रास-यमकादि शब्दालंकार, उपमा, रूपक आदि अर्थालङ्कार, दृष्टान्त आदि वाक्यार्थ गतालङ्कार, निदर्शन आदि अनेक वाक्य गतार्थालङ्कार प्रभृति सभी की रचना शैली अतिशयोक्ति मूलक ही है अर्थात् इनकी रचना=विन्यास विशेष अतिशयोक्ति के रूप से भिन्न नहीं है।

विशेष—अलङ्कार शब्द, पद, वाक्य, और वाक्य स्तबक में होते हैं। अतः शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ और वाक्यस्तबक में अलंकार विन्यासों का होना कहा गया है। सामान्य बात कहने पर अलंकार नहीं होता, कुछ-न-कुछ विशेषता लाने पर ही अलंकार होता है। यह विशेषता अतिशय कहलाती है और इसी अतिशय की उक्ति अतिशयोक्ति है। अलंकारों का आधार ही अतिशय होने पर स्वभाव से ही उन अलंकारों का अतिशयात्म होना कहा गया है ॥ १२२ ॥

कस्याप्यतिशयस्योक्तेरित्यन्वर्थविचारणात्।
प्रायेणामी ह्यलङ्कारा भिन्ना नातिशयोक्तितः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—प्रायेण अमी कस्यापि अतिशयस्य उक्तेः अन्वर्थविचारणात् अतिशयोक्तितः भिन्नाः न (सन्ति)।

व्याख्या—सर्वेषामलङ्काराणामतिशयोक्तिसारूप्यं स्पष्टयति—कस्यापीति। प्रायेण=प्रायः, अमी=सर्वे पूर्वोक्ता अनुप्रासोपमादयोऽलङ्काराः कस्यापि=कस्यचनापि अतिशयस्य=आधिक्यस्य, उक्तेः=कथनात्, अन्वर्थं=सार्थकं विचारणं=विचारः तस्मात् अन्वर्थविचारणात्=अतिशयकथनरूपयौगिकार्थसद्भावात्, अतिशयोक्तितः=अतशयोक्त्यलंकारात् भिन्नाः=पृथक् न सन्ति, अपितु सर्वेऽलङ्कारा अतिशयोक्त्यात्मका एव सन्तीति भावः। अत एव काव्यप्रकाशस्य दशमोल्लासे विशेषालंकारप्रस्तावे मम्मटाचार्येणाभिहितम्—सर्वत्रैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्रायत्वेनावतिष्ठते, तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। अत्र एवोक्तम्—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थोऽवगम्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

अत्र वक्रोक्तिरतिशयोक्तेः पर्यायः, उभयोरत्यन्तं साम्यात् ।

सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति सारूप्य का स्पष्टीकरण करते हैं—ये सभी अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार किसी न किसी रूप में अतिशयोक्ति अलङ्कार से अछूते नहीं हैं। इसलिए अतिशयोक्ति अन्वर्थ विचार से सभी अतिशयोक्ति के अन्तर्गत ही हैं—इससे भिन्न कोई नहीं हैं।

विशेष—यहाँ सभी अलंकारों का अतिशयोक्ति मूलक होना पूर्व श्लोक के सातत्य में स्वीकार किया गया है और अतिशयोक्ति की व्युत्पत्ति की व्यापकता के कारण सभी अलंकारों का उसमें समा जाना संभव बताया गया है ॥ १२३ ॥

अलङ्कारप्रधानेषु दधानेष्वपि साम्यताम् ।
वैलक्षण्यं प्रतिव्यक्ति प्रतिभाति मुखेष्विव ॥ १२४ ॥

अन्वयः—साम्यतां दधानेषु अपि अलङ्कारप्रधानेषु प्रतिव्यक्ति मुखेषु इव वैलक्षण्यं प्रतिभाति ।

व्याख्या—अतिशयोक्तिवादिनां मतं दूषयति—अलङ्कारेति । साम्यतां= तुल्यतां दधानेष्वपि=दधत्स्वपि अलङ्कारप्रधानेषु=अलंकारा उपमादयः प्रधानानि=प्रमुखानि यत्र तानि तेषु वाक्येषु प्रतिव्यक्ति=प्रतिशरीरम्, मुखेषु= वदनेषु इव=यथा वैलक्षण्यं=विलक्षणता भेदो वा प्रतिभाति=प्रतीयते । प्रत्यक्षत उपलभ्यत एव । यथा असंख्यमुखेषु मुखत्वेन समानेष्वपि मुखेषु प्रतिव्यक्तिमुखं विलक्षणं भवति सर्वेषां समानं जायते तद् तथैवाशियोक्तित्वेन समानेष्वपि उपमाद्यलंकारेषु प्रातिस्विकभेदोऽस्त्येवेति भावः । तेनैवालङ्कारा अतिशयोक्तितो भिन्ना एव, अपलापानर्हत्वादिति भावः ।

अतिशयोक्ति वादी का मत खण्डन करते हैं—जैसे मनुष्यों के मुखों में कर्ण, नेत्र, नासिका आदि के कारण एकता=समानता होने पर प्रति मनुष्य के मुख में विलक्षणता=भेद प्राप्त होती है उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों में अतिशयिता रूप से समानता होने पर भी परस्पर भेद आवश्यक है। अतः ये सभी अलंकार अतिशयोक्ति से भिन्न हैं। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं।

विशेष—पूर्वोक्त श्लोकों में निश्चित किया गया है कि अतिशयोक्ति अलंकार में सभी अलङ्कारों का अन्तर्भाव हो सकता है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, जब अतिशयोक्ति में सभी अलङ्कार अन्तर्भूत हो जाते हैं तब इतने अलङ्कारों की पृथक् चर्चा क्यों कही गयी है ?

इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार जयदेव कवि का कहना है कि सभी मुखों में मुखत्व के समान रूप से होने पर भी प्रत्येक मुख में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है ही, उसी प्रकार प्रत्येक अलङ्कार युक्त वाक्यत्व के सभी वाक्यों में समान रूप से होने पर भी प्रत्येक वाक्य

में अन्तर है जिससे पृथक्-पृथक् परिभाषायें दी गयी हैं और भिन्न-भिन्न नाम करण हुआ है। इस प्रकार अलङ्कार या अतिशयोक्ति के समान रूप से रहने पर भी अपनी-अपनी विशेषता के कारण अलङ्कारों में भेद किये जाते हैं ॥ १२४ ॥

अलङ्कारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम् ।
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यदि तथ्येषु अलङ्कारेषु मनीषिणां अनास्था तत् अर्वाचीनभेदेषु नाम्नां आम्नायः न इष्यताम् ।

व्याख्या—निजकल्पितालंकारेष्वलंकारत्वं व्यवस्थापयति जयदेवकविः—अलङ्कारेष्विति । यदि तथ्येषु = सत्येषु अपि प्राचीनेषु अलङ्कारेषु = कुण्डलादिभूषणेषु मनीषिणां = विदुषां, अनास्था = अनादरः तदा अर्वाचीनभेदेषु = आधुनिककविकल्पितेषु उपमादिषु नाम्नां = उपमादिसंज्ञानां, आम्नायः = पाठः न इष्यताम् = न क्रियताम् ।

अत्रायमाशयः—यदि नवीनशैलीमनुरुध्य निर्मितेषु स्वर्णालङ्कारेषु अलङ्कारत्वं न स्वीक्रियते तदा प्राचीनाचार्यलिखितेषु अलङ्कारेष्वपि अलङ्कारता मा भवतु । चेत्तत्र स्वीक्रियते तर्हि अत्रापि स्वीकारे का हानिः ?

प्राचीन अलङ्कारों से अतिरिक्त स्वकल्पित अलङ्कारों में अलङ्कारत्व की स्थापना करते हुए उपसंहार करते हैं—प्राचीन शैली से भिन्न नवीन शैली से बने हुए शरीर शोभा परिपोषक वास्तविक अलङ्कारों में यदि बुद्धिमानों की अश्रद्धा हो तो आधुनिक कविकल्पित नवीन अलङ्कारों में भी वह रहे। अर्थात् उनमें भी अलङ्कारत्व का व्यवहार न करें। परन्तु यदि वहाँ अलङ्कार रूप से व्यवहार करते हैं तो यहाँ भी उसे स्वीकारें।

जब कुण्डल आदि आभूषणों के भेद को स्वीकार करते हैं तब उपमा आदि अलङ्कारों के भेद को भी स्वीकार करना पड़ेगा ही। यह बात विशेष भङ्गिमा से कहते हुए ग्रन्थकार जयदेव कवि ने यह श्लोक लिखा है। अभिप्राय यह है कि जो अज्ञ व्यक्ति आभूषणों के कुण्डल, कंकण आदि अलग-अलग नामों का खण्डन करता है वही अलङ्कारों के उपमा आदि पृथक् पृथक् नामों का खण्डन करें। विद्वान् कभी ऐसा नहीं करते।

अर्वाचीन का अर्थ ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त या बाद के ग्रन्थकारों के द्वारा प्रयुक्त लग सकता है। पहले केवल अलङ्कार जाति स्वीकार की गई थी। जैसे-जैसे सूक्ष्म विचार होता गया वैसे-वैसे अलङ्कारों के भेद भी बढ़ते गये। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय मुनि द्वारा वज्र नामक राजा से किए गये अलङ्कार कथन से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्होंने उस समय प्रचलित कुछ ही अलङ्कारों की चर्चा की है।

जैसे आभूषणों के नये-नये प्रकार निकलते हैं और लोग उन्हें बड़े प्रेम से अपनाते जाते हैं। इसी प्रकार समझदारों को भी नव विकसित अलङ्कारों का समादर करना चाहिए ॥ १२५ ॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
चतुर्थः सैकोऽयं सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥ १२६ ॥

इति श्रीजयदेवकविप्रणीते चन्द्रालोके पञ्चमो मयूखः समाप्तः ।

अन्वयः—सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः महादेवः तद्भक्तिप्रणिहितमतिः, सुमित्रा (च) यस्य पितरौ (आस्ताम्) अनेन सुकविजयदेवेन रचिते चन्द्रालोके अयं सैकः चतुर्थः मयूखः सुमनसः चिरं सुखयतु ।

व्याख्या—अथ ग्रन्थकर्ता जयदेवः कविः स्वपरिचयपूर्वकं पञ्चममयूखसमाप्तिं निर्दिशति—महादेव इति । सत्राणि = अनेकदिनसाध्या यज्ञाः प्रमुखानि = प्रधानानि येषां ते तथाभूता ये मखाः = यज्ञाः तेषां या विद्याः = श्रौत-स्मार्त-कर्मकाण्डरूपाः तस्याम् एकचतुरः = परमप्रवीणः इति सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः महादेवः = महादेवनामा तथा तस्य महादेवस्य भक्तौ = सेवायां प्रणिहितमतिः = प्रकर्षेण निहिता स्थापिता मतिः = बुद्धिः यस्याः सा तद्भक्तिप्रणिहितमतिः = प्रतिव्रता, सुमित्रा — सुमित्रानाम्नी च यस्य=जयदेवकवेः पितरौ-माता च पिता च पितरौ=जननी-जनकौ आस्ताम् । अनेन=तेन, सुकविजयदेवेन=सुकविश्चासौ जयदेवः सुकविजयदेवः तेन सुकविजयदेवेन रचिते = प्रणीते चन्द्रालोके—चन्द्रस्यालोक इव आलोको यस्मिन् स चन्द्रालोकः, तस्मिन् चन्द्रालोके = चन्द्रालोकाख्ये ग्रन्थे, अयं = एषः एकेन सह सैकः — एकाधिकः चतुर्थः=पञ्चमः मयूखः—मिमीते इति मयूखः= किरणः, सुमनसः = पण्डितान् देवांश्च चिरं = चिरकालम्, सुखयतु — प्रीणयतु ।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्याऽलङ्कारविचारनामके
पञ्चमे मयूखे पण्डित-श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

युगाग्निव्योमनेत्राब्दे वैक्रमे वत्सरे शुभे ।
मार्गशीर्षेऽसिते पक्षे पञ्चम्यां गुरुवासरे ॥
त्रिपाठ्युपाह्व-श्रीकृष्णमिश्रशास्त्री सुतां मुदे ।
चन्द्रालोकस्य विमलां व्याख्यां वै कृतवानिमाम् ॥
सरसे काव्यसाहित्ये सुहृदां हृदयाम्बुधौ ।
अनया व्याख्यया नूनं चन्द्रालोकः प्रकाशताम् ॥

अनेक दिनों में साध्य सत्र=(यज्ञ-विशेष) विद्या में अद्वितीय अग्निहोत्री विद्वान् महादेव तथा उनकी सेवा में सदा सन्नद्ध पतिव्रता सुमित्रा जी जिसके माता-पिता हैं। उस सुकवि जयदेव के द्वारा रचित इस चन्द्रालोक का पंचम मयूख विद्वानों को चिरकालतक आनन्द देता रहे।

विशेष—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार १३ दिन से १००० वर्षपर्यन्त निरन्तर चलने वाले यज्ञ को सत्र कहते हैं। जिस प्रकार चन्द्र के आलोक से विश्व का कल्याण होता है उसी प्रकार इस चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ से विद्वानों को प्रकाश मिलेगा। चन्द्रलोक के विषय-विभाजक प्रकरणों का नाम प्रमुख है। मयूख कहते हैं चन्द्रमा की किरण को। चन्द्रालोक ग्रन्थ का मयूख के नाम से प्रकाशक का विभाग अन्वर्थक है। पंचम मयूख का नाम अलंकार विचार है। अतः इसमें प्रमुख रूप से अलंकारों का विचार हुआ है ॥ १६ ॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के पञ्चम मयूख पर डा० श्रीपति अवस्थी
द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधानामक
व्याख्या समाप्त।

षष्ठो मयूखः

अथ रसाः

आलम्बनोद्दीपनात्मा विभावः कारणं द्विधा ।
कार्योऽनुभावो भावश्च सहायो व्यभिचार्यपि ॥ १ ॥

अन्वयः—आलम्बनोद्दीपनात्मा कारणं विभावः द्विधा (भवति) अनुभावः कार्यः, व्यभिचारी अपि भावः सहायः च ।

व्याख्या—काव्यलक्षणोद्देशक्रमेण आवश्यकस्य रीतिनिरूपणस्य रसनिरूपणोपजीव्यतयाऽवसरसंगत्या पूर्वं रसान् निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथ रसा इति । रसज्ञानमन्तरा रीतिज्ञानं न सम्भवतीति प्रथमं रसा अभिधीयन्ते इति भावः । रस्यते = आस्वाद्यते असाविति रसः । रसशब्दो हि भेदे सोमरसजलादिवाचकः । 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (२।७) इति तैत्तिरीयोपनिषदि आनन्दार्थकोऽपि दृश्यते ।

रसादिपरिपुष्ट एव स्थायिभावो रस इति प्रतिपादयिष्यन् जयदेवकविः विभावानुभावव्यभिचारिभावैः आहितोत्कर्षस्य स्थायिभावस्य रसत्वप्रतिपादनात् तत्प्रतिपादकतया प्रथमं विभावादीनभिधत्ते—आलम्बनेति । लोके यत्कारणमभिधीयते तदेव काव्ये नाट्ये च विभावपदेनोच्यते । रसमात्रे विभावः कारणं, विशेषेण भावयन्ति = आस्वादयोग्यान् जनयन्ति रत्यादीन् इति व्युत्पत्त्या निष्पन्नो विभावः रसमात्रं प्रतिकारणमित्यर्थः । सोऽयं विभावः आलम्बनश्च उद्दीपनश्चेति आलम्बनोद्दीपनौ, तौ आत्मा = स्वरूपं यस्य स आलम्बनोद्दीपनात्मा = आलम्बनस्वरूप उद्दीपनस्वरूपश्चेति भेदात् द्विधा = द्विप्रकारको भवति । यथाऽऽह अग्निपुराणे—

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥

तथा च आलम्बनोद्दीपनतया द्विविधो विभावो रसमात्रे कारणम् । यमालम्ब्य रत्यादिर्भवति स आलम्बनविभावो यथा शृङ्गारे नायिकादिः । यश्च रत्यादिकमुद्दीपयति स उद्दीपनविभावो यथा चन्द्र-चन्द्रिकारोलम्बसगुद्यानादिः, अनु=पश्चात् स्थाय्युद्बोधनानन्तरं रत्यादीन् भावयन्ति=आस्वादयन्ति इति अनुभावः = यद्वा अनु = पश्चाद् भावः = उत्पत्तिर्यस्येति व्युत्पत्त्याऽनुभावः कार्यः = लौकिकस्य रत्यादेः कार्यरूपः । यथा कटाक्षभुजविक्षेपादिः । तथा हि—

स्मितं गीतं कटाक्षश्च भुजक्षेपश्च हुंकृतिः ।
अनुमोहन-जृम्भादिश्चानुभावः प्रकीर्तितः ॥

अपि च—भ्रूविक्षेपकटाक्षादि-विकारो हृदयस्थितम् ।
भावं व्यनक्ति यः सोऽयमनुभाव इतीरितः ॥

विशेषेण अभि = अभितः स्थायिभावान् शरीरे चारयति = सञ्चारयति यः स व्यभिचारी अपि सहायः = सहकारी । उक्तञ्च सरस्वतीकण्ठाभरणे—

विशेषेणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये ।
अनुभावादिहेतूंस्तान् वदन्ति व्यभिचारिणः ॥

एवं लोके यत् कारणमभिधीयते तदेव काव्ये नाट्ये च विभावपदेनोच्यते । लोके यत्कार्यमुच्यते तदेव काव्ये नाट्ये चानुभावपदेन व्यपदिश्यते । लोके यत्सहकारिकारणं तत् काव्ये नाट्ये च व्यभिचारिपदेन निर्दिश्यते । एते च विभावानुभावव्यभिचारिभावाः प्रतिरसं भिन्ना भवन्ति । एभिरेव परिपुष्टः स्थायीभावो रसतामापद्यते । तथा चोक्तं—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा यथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥

रस का कारण विभाव है । वह दो प्रकार का होता है, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, अनुभाव उस कारण का कार्य होता है और व्यभिचारी भाव उस अनुभाव का सहायक होता है ॥ १ ॥

विशेष—चन्द्रालोक के प्रथम मयूख में काव्यलक्षण 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा' में सरीति (रीति से युक्त) शब्द का प्रयोग हुआ है । इसके अनुसार लक्षण निरूपण के अनन्तर ही रीति निरूपण आवश्यक था, किन्तु रस निरूपण के बिना रीति निरूपण हो नहीं सकता, क्योंकि बिना रस को समझे रीति को समझना संभव नहीं है। इसलिए ग्रन्थकार जयदेव कवि रीतिनिरूपण के पहले रसनिरूपण करते हैं ।

नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव इन तीनों के योग से रस की सिद्धि कही है । ये तीनों विभावादि रस के अङ्ग हैं । इन्हीं तीनों के मिश्रण से सहृदय-हृदय साहित्यिकों के हृदय में आविर्भूत होने वाला पदार्थ रस कहा जाता है । इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट स्थायीभाव रस होता है । अतः ग्रन्थकार इस प्रथम श्लोक से विभावादि का निरूपण करते हैं । लोक में जो रत्यादि (प्रेम) के कारण (उत्पादक) होते हैं वे ही काव्य या नाटक में विभाव कहे जाते हैं । रत्यादि को आस्वाद्ययोग्य बनाना ही विभाव पद का यौगिक अर्थ है । यह विभाव आलम्बन और उद्दीपन भेद से दो प्रकार का होता है । रति को उत्पन्न करने वाले कारणों को आलम्बन विभाव जैसे नायिका आदि और उद्दीप्त (उत्तेजित) करने वाले कारणों को उद्दीपन विभाव कहते हैं, जैसे—चन्द्रमा, चाँदनी आदि । इसी तरह विभाव के अनन्तर उत्पन्न होने वाले अवस्थाविशेष को अनुभाव कहते हैं, जो विभाव के कार्य कहे जाते हैं—जैसे हास्य, कटाक्ष, भ्रूक्षेप, भुजचालन, जृम्भा

आदि। इसी प्रकार रत्यादि का सहकारी कारण काव्य नाट्य में व्यभिचारी भाव या संचारीभाव कहे जाते हैं—जैसे चिन्ता आदि।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझिये—किसी नायिका को देखकर किसी नायक के मन में प्रेम उत्पन्न हुआ। इस दशा में वह नायिका आलम्बन विभाव है, क्योंकि नायक के हृदय में जो प्रेम उत्पन्न हुआ, उसका एकमात्र कारण वह नायिका ही है। यदि वह नायिका न होती तो नायक के मन में उसके प्रति प्रेम नहीं होता। इसी अवस्था में पपीहा का पिहकना, कोयल का कुहकना, चाँदनी का चटकना, बनलताओं का कुसमित होना, भ्रमरों का गुञ्जारव, मलयाचल की मनमोहक हवा आदि के होने से नायक के हृदय में उत्पन्न वह प्रेम उद्दीप्त होता है। इसलिए उक्त पपीहा का पिहकना आदि उद्दीपन विभाव हुए, क्योंकि नायक के हृदय में उत्पन्न नायिका विषयक प्रेम इन्हीं भावों द्वारा उत्तेजित हुआ है। अब अपनी उस प्रेमपात्री नायिका के न प्राप्त होने पर उसके विरह में अश्रुपात का होना, कहीं दिखाई देने पर मुसकुराना आदि नायक के हृदय में होने वाले भावों को अनुभाव कहा करते हैं, क्योंकि ये भाव विभाव के बाद ही हुआ करते हैं। इसी तरह इसके साथ ही साथ उसके सहकारी चिन्ता आदि भाव उत्पन्न होते हैं और उस समय नायक सोचने लगता है कि यह नायिका मुझे कैसे प्राप्त होगी। क्या वह भी मेरे लिए मेरी तरह ही व्याकुल होती होगी? इस तरह के भावों को व्यभिचारीभाव अथवा संचारी भाव कहते हैं। ये विभावानुभाव, सञ्चारिभाव प्रत्येक रस के प्रति भिन्न-भिन्न होते हैं। इनसे परिपुष्ट स्थायी भाव ही रसस्वरूप को धारण करता है ॥ १ ॥

गलद्वेद्यान्तराद् भेदं हृदयेष्वजडात्मनाम्।
मिलन्मलयजालेप इवाह्लादं विकासयन्॥ २॥
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायिभावो रसः स्मृतः॥ ३॥

अन्वयः—मिलन्मलयजालेप इव अजडात्मनाम् हृदयेषु गलद्वेद्यान्तरोद्भेदं; आह्लादं विकासयन् काव्ये च नाट्ये कार्ये च विभावाद्यैः विभावितः आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायिभावः रसः स्मृतः।

व्याख्या—रससामान्यलक्षणमाह—गलदिति। मलये = मलयप्रदेशे, मलयोपवने वा जायते इति मलयजः=चन्दनं तस्यालेपः मलयजालेपः मिलंश्चासौ मलयालेपश्च मिलन्मलयजालेपः = मृगमदसंवलितचन्दनालेपः इव = यथा, न जडः अजडः अजडः आत्मा येषां ते तेषाम् अजडात्मनाम् – विदुषां, रसज्ञानाम्, हृदयेषु— अन्तःकरणेषु, वेदितुं योग्यं वेद्यम् अन्यद् वेद्यं वेद्यान्तरं तस्योद्भेदो वेद्यान्तरोद्भेदः। यस्मिन् कर्मणि यथा तथा गलद्वेद्यान्तरोद्भेदम्=ज्ञानान्तरानुभावशून्यम् आह्लादं— आनन्दं, उल्लासम् विकासयन् = प्रकाशयन् काव्ये—श्रव्यकाव्ये च नाट्ये—नृत्यगीता-

रूपके नाटके कार्ये = नाटकावलोकने च, विभावाद्यैः = विभावा आद्याः = आदयो येषां ते, तैः विभावाद्यैः = विभावानुभावव्यभिचारिभिः भावैः विभावितः = रूपान्तरे परिणतः, आस्वाद्यमाना = व्यञ्जनया ज्ञायमानाः एका तनुः = शरीरं यस्य स आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायीभावः = तिष्ठतीति स्थायी तादृशः रत्यादिर्भावः, रसः = रस इति नाम्ना स्मृतः = विद्वद्भिः कथितः, तथा च उक्तप्रकारकः सामाजिकनिष्ठो रत्यादिस्थायिभावो रस्यते = आस्वाद्यते इति व्युत्पत्त्या रस इत्युच्यते। तदुक्तं—

रसते स्वादनार्थत्वात् रस्यन्ते इति ते रसाः।

दशरूपकेऽपि—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायिभावः रसः स्मृतः॥

भोजराजो हि—चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बन्ध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥

रसा यथा—शृङ्गार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च रसाः पूर्वैरुदाहृताः॥

एषां स्थायिभावाश्च—रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा-विस्मयशमाः स्थायिभावा नव क्रमात्॥

एवं च वासनारूपतया स्थितान् विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरतिरस्कृतप्रवाहान् रत्यादीन् विभावयन्ति = अस्वादयोग्यान् जनयन्ति ते विभावाः। ये च पुनरनुभावयन्ति = तत्रैवोत्कर्षाधानं कुर्वन्ति तेऽनुभावाः। विशेषेण अभितः स्थायिनः शरीरे चारयन्तीति व्यभिचारिभावाः। तथा च प्राक्तनवासनावासितानां हृदयेषु विभावादिभिः परिपुष्टो रत्यादिः पौनःपुन्येनानुशील्यमानः सन् रसतां लभते इति भावः। तथाचोक्तं भरतमुनिना—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अयमभिप्रायः—लोके रत्यादेः स्थायिनो भावस्य यानि ललनोद्यानप्रभृतीनि कारणदीनि जायन्ते तान्येव यदि काव्यादावुपनिबध्यन्ते तदा अलौकिकविभावादिवशेन कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावादिशब्दवाच्यतां भजन्ते। स च स्थायिभावः प्रतीतैः तैरभिव्यञ्जितः सभ्यानां वासनात्मना संस्थितः तेनैव सर्वहृत् संवादी चर्वणैकप्राणः विभावादि-परामर्शविधिजीवितो बहिरन्तश्च परिस्फुरन् सर्वाङ्गमालिङ्गन्निव आनन्दसिन्धुमवगाहयन्निव विगलितवेद्यान्तरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिरूपो रस इति भावः।

एवम्भूत ब्रह्मानन्दसहोदरोऽयं रसः, न कार्यः, न नित्यः, न भावी, न वर्तमानः, न परोक्षः, नाप्यपरोक्षः, न निर्विकल्पकज्ञानसंवेद्यः, न सविकल्पकज्ञानसंवेद्यः, न वा वाच्यः, किन्तु अखण्डः, स्वप्रकाशः, आनन्दमयः, चिन्मयः, वेद्यान्तरसम्पर्क-रहितः, ब्रह्मसाक्षात्कारसमः, अलौकिकः, चमत्कारैकप्राणश्चेति सर्वं सर्वत्राकर-ग्रन्थेषु ग्रन्थकृद्भिः प्रपञ्चितं वर्तते इति दिक् ।

जिस समय रस की प्रतीति होती है उस समय सहृदयों के हृदय में रसातिरिक्त अन्य किसी दूसरे ज्ञेयपदार्थ का आविर्भाव नहीं होता। केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य से मिश्रित चन्दन के लेप की तरह सम्मिलित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव सहृदयों के आनन्द का विकार करता हुआ काव्य, नाटक तथा चित्र आदि में प्रतिफलित होकर आस्वाद्यमान मूर्तिवाला रति (प्रेम) आदि स्थायिभाव रस कहा जाता है ॥ २–२ ॥

तात्पर्य यह है कि रत्यादिक की वासना से युक्त सहृदय पुरुषों के हृदय में विभावादिक से परिपुष्ट रत्यादिक स्थायीभाव बार-बार निरन्तर भावना करने पर रस होते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में यही लिखा है—विभावानुभावव्यभिचारिभावाद् रस-निष्पत्तिः—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से परिपुष्ट रत्यादि स्थायीभाव रस हुआ करता है। जिस प्रकार शर्बत पीते समय पानकरने वाले व्यक्ति को अलग-अलग चीनी, मिर्च, नीबू, अदरख आदि की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार समूहालम्बनात्मक रसाभिव्यक्ति में भी विभावादि की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती, किन्तु हृदय में प्रवेश करके रोम-रोम में व्याप्त होकर सर्वांगीण आलिङ्गन करता हुआ, ब्रह्मानन्द के आस्वाद का अनुभव करता हुआ लोक-विलक्षण चमत्कारी समूहालम्बनात्मक यह भावपदवी को प्राप्त होता है। उस समय बाहरी ज्ञेय पदार्थ का तनिक भी भान नहीं होता। बाहर-भीतर जिधर दृष्टि जाती है उधर आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। रस नौ हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इन नवों रसों के क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम स्थायीभाव हुआ करते हैं ॥ २–३ ॥

> रत्याख्यस्थायिभावात्मा वल्लभादिविभावितः ।
> आलस्येर्ष्याजुगुप्साभ्यो विना संचारिभिर्युतः ॥ ४ ॥
> अनुभावैः कटाक्षाद्यैरुन्मादाद्यैर्यथाक्रमम् ।
> संभोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधो मतः ॥ ५ ॥

अन्वयः—रत्याख्यस्थायिभावात्मा, वल्लभादिविभावितः, आलस्येर्ष्याजुगुप्साभ्यः विना सञ्चारिभिः कटाक्षाद्यैः अनुभावैः, उन्मादाद्यैः युतः शृङ्गारः (रसः) द्विविधः मतः यथाक्रमं संभोगः विप्रलम्भश्च ।

व्याख्या—तत्रादौ नवसु रसेषु पद्यद्वयेन शृङ्गारमाह—रत्याख्येति । रतिः = मनोऽनुकूलविषयं सुखात्मकं संवेदनम् आख्या=नाम यस्य स रत्याख्यः, रत्याख्यः—

रतिनामधेयस्थायिभावः आत्मा = स्वरूपं यस्य सः रत्याख्यस्थायिभावात्मा = रति-स्थायिभावात्मकः, वल्लभादिभिः = कान्ताकान्तरूपैरालम्बनविभावैः चन्द्रचन्द्रिका-रोलम्बादिभिः उद्दीपनविभावैश्च विभावितः = द्विविधैरेतैर्विभावैर्युक्तः, उभय-विधविभावविषयः, आलस्यं च ईर्ष्या च जुगुप्सा च आलस्येर्ष्याजुगुप्साः ताभ्यो व्यभिचारिभावेभ्यः, विना = अन्तरेण सञ्चारिभिः = व्यभिचारिभिः कटाक्षाद्यैः, अनुभावैः = उन्मादाद्यैः व्यभिचारिभिः युतः = युक्तः शृणाति चरमदशाप्रापणेन हिनस्ति कामुकानिति शृङ्गं = मन्मथोद्भेदः शृङ्गमृच्छति = प्राप्नोति अनेनेति शृङ्गारः = शृङ्गाररसः द्विविधः—द्वे संख्याके विधे = प्रकारौ यस्य सः द्विविधः = द्विप्रकारकः मतः = विद्वद्भिः कथितः, यथाक्रमं = क्रमेण सम्भोगः विप्रलम्भश्च = सम्भोगविप्रलम्भभेदाद् द्विविधः। तदुक्तम्—

जायापत्योर्मिथो रत्यावृत्तिः शृङ्गार उच्यते।
सम्भोगो विप्रलम्भश्चेत्येष तु द्विविधो मतः॥

सम्भोगशृङ्गारस्वरूपं यथा—

दर्शन-स्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः॥

शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है। नायिका एवं नायक आलम्बन विभाव हैं। चन्द्र, चन्द्रिका, रोलम्ब, उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्षक्षेप, भुजचालन, जृम्भा आदि अनुभाव हैं। तैंतीस संचारिभावों में आलस्य, ईर्ष्या तथा जुगुप्सा इन तीन भावों को छोड़कर तीस भावों से युक्त यह शृङ्गाररस सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का है।

विशेष—शृङ्गार की व्युत्पत्ति के अनुसार शृङ्गार का अर्थ है कि जिससे मनुष्य कामोद्रेक की प्राप्ति करता है। इस प्रकार शृङ्गार शब्द अन्वर्थक और सार्थक है। संभोग वह शृङ्गार है, जिसमें मिलन बना रहता है, और विप्रलम्भ वह शृङ्गार है जिसमें विछोह का नायक-नायिका के वियोग का वर्णन रहता है॥ ४–५॥

विप्रलम्भ शृङ्गार में नायक का प्रवास चित्रित किया जाता है, जिसमें काम की निम्नांकित दस दशायें प्रगट होती हैं (१) अङ्गों की मलिनता, (२) ताप, (३) पीलापन, (४) दुर्बलता, (५) अरुचि, (६) अधैर्य, (७) असहायता, (८) तन्मयता से उन्माद, (९) मूर्च्छा, और (१०) मरण।

परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन आदि के कारण संभोग शृङ्गार के असंख्य भेद माने गये हैं, तथापि इसे भेदरहित मानते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छने-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

कमरा को सूना देखकर धीरे से उठकर नींद का बहाना बनाये पति के मुखको देर तक ध्यान से अवलोकन कर विश्वासपूर्वक कपोल और नेत्र का चुम्बन लेकर पति का गण्डस्थल रोमाञ्चित देखकर लज्जा से झुक गये मुखवाली अपनी तरुणी नायिका का हँसते-हँसते प्रिय पति ने चुम्बन किया।

विप्रलम्भ शृंगार का उदाहरण मेघदूत में देखिए—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥

विरही यक्ष मेघद्वारा अपनी प्रिय के पास सन्देश भेजते हुए अपनी उन्माद दशा का वर्णन करता है—प्रिये ! प्रणय से कुपित तुम्हारा चित्र गेरु से पत्थर पर बनाकर जैसे ही मनाने के लिए तुम्हारे पैरों पर गिरना चाहता हूँ वैसे ही रह-रह कर संचित अश्रुओं से मेरी दृष्टि भर जाती है। क्रूर विधाता वैसी स्थिति में भी हम दोनों का मिलन नहीं सह पाता॥ ४-५॥

हासस्थायी रसो हास्यो विभावाद्यैर्यथाक्रमम्।
वैरूप्यफुल्लगण्डत्वावहित्थाद्यैः समन्वितः॥ ६॥

अन्वयः—यथाक्रमम्, वैरूप्यफुल्लगण्डत्वावहित्थैः विभावाद्यैः समन्वितः हासस्थायी हास्यो रसः (स्मृतः कविभिः)।

व्याख्या—हास्यस्वरूपमाचष्टे—हासस्थायीति। यथाक्रमम् = क्रममनतिक्रम्य वैरूप्यं च फुल्लगण्डत्वं च अवहित्था चेति वैरूप्य-फुल्लगण्डत्वावहित्थाः सा आद्या येषां ते, तैः वैरूप्यफुल्लगण्डत्वावहित्थैः, विभावाद्यैः = विभावानुभावव्यभिचारिभिः, समन्वितः=सहितः, हासस्थायी = हास्यः = अङ्गक्रीडा जन्मा चेतो विकारः स्थायी= स्थायिभावः यस्य स हासस्थायी रसः हास्यः = हास्येति नाम्ना स्मृतः।

यस्य हासः स्थायिभावः, नायकनायिकादिरालम्बनविभावः, वैरूप्यादिरुद्दीपन-विभावः, फुल्लगण्डत्वादिरनुभावः, अवहित्थादिव्यभिचारिभावः स हास्यरस इत्यर्थः। अस्योदाहरणं यथा—

गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः॥

हास्य रस का स्थायी भाव हास है, नायक-नायिका आलम्बन विभाव है, विकृत रूप पुरुष का आलोकन उद्दीपन विभाव है, फुलाये हुए गाल आदि अनुभाव है, और अवहित्था (आकार गोपन), निद्रा, आलस्य आदि संचारि भाव है। इसका वर्णन श्वेत है, प्रथमादि शिवगण इसके देवता हैं॥ ६॥

अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लान्यादिभिः क्रमात् ।
विभावाद्यैर्युतः शोकस्थायी स्यात् करुणो रसः ॥ ७ ॥

अन्वयः—क्रमात्, अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लान्यादिभिः, विभावाद्यैः युतः शोकस्थायी, रसः करुणः (स्यात्) ।

व्याख्या—करुणस्वरूपमाचष्टे—अभीष्टेति । क्रमात् = क्रमशः अभीष्टस्य = प्रियस्य विप्रयोगः = वियोगः अभीष्टविप्रयोगः, अभीष्टविप्रयोगश्च अश्रुपातश्च ग्लानिश्चेति अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लानयः त आदौ येषां ते, तैः अभीष्टविप्रयोगाश्रुपातग्लान्यादिभिः, विभावाद्यैः = विभावानुभावव्यभिचारिभिः युतः = सहितः, शोच्यत इति शोकः शोकः स्थायी यस्य स शोकस्थायी रसः करुणः = करुणनामधेयः स्यात् = भवेत् ।

अस्य शोकः स्थायीभावः, नायको नायिका चालम्बनविभावः, अभीष्टस्य पुत्रादेर्वियोगो दूरगमनरूपो मरणं चोद्दीपनविभावः, अश्रुपातादिरनुभावः, ग्लान्यादिर्व्यभिचारिभावः । अयं कपोतवर्णो यमदैवतश्च ।

इस करुण रस का स्थायी भाव शोक है, जो कि अत्यन्त प्रियवस्तु के वियोग हो जाने पर उत्पन्न होता है । नायक–नायिका आलम्बन विभाव, प्रियवस्तु का वियोग उद्दीपन विभाव है, आँसुओं का बहाना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं । इसका वर्ण कबूतर सा है और देवता यम हैं । उदाहरण जैसे—

अयि जीवितनाथ ! जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया ।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

प्रिय नाथ ! जीवित हो ? यह कहकर उठी हुई रति ने अपने सामने पृथ्वी पर शिव की क्रोधाग्नि की पुरुषाकृति वाली राख ही देखी । कुमार संभव के चतुर्थ सर्ग में शिव की क्रोधाग्नि से मदन के दग्ध हो जाने पर रतिविलाप में और रघुवंश के अष्टम सर्ग में आकाश कुसुम के आघात से इन्दुमती के निर्जीव हो जाने पर अज के विलाप में करुण रस के पर्याप्त उदाहरण हैं ॥ ७ ॥

क्रोधस्थायी रसो रौद्रो विभावाद्यैः समन्वितः ।
मात्सर्यहस्तनिष्पेषसमोहाद्यैर्यथाक्रमम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—यथाक्रमम्, मात्सर्यहस्तनिक्षेपसंमोहाद्यैः विभावाद्यैः, समन्वितः क्रोधस्थायी रसः रौद्रः (स्मृतः कविभिः) ।

व्याख्या—रौद्ररसस्वरूपमाह—क्रोधस्थायीति । यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमं=क्रमशः, मात्सर्यं च हस्तनिक्षेपश्च सम्मोहश्च मात्सर्यहस्तनिष्पेषसम्मोहाः ते आद्या येषां ते तथाभूताः तैः मात्सर्यहस्तनिष्पेषमोहाद्यैः विभावाद्यैः = विभावा-

नुभावव्यभिचारिभिः समन्वितः = युक्तः क्रोधः प्रतिकूलेषु वैलक्षण्यस्यावबोधः स्थायी यस्य स क्रोधस्थायी रसः रौद्रः रौद्रनामा स्मृतः कविभिः। अस्य रुद्रो देवता, वर्णश्चास्य रक्तोऽस्ति।

इसका स्थायीभाव क्रोध है। शत्रुभूत नायक-नायिका आलम्बन विभाव है। मत्सरता, हस्तमर्दन, मुष्टिप्रहार आदि उद्दीपन विभाव हैं। और सम्मोह आदि संचारी भाव है। इसका वर्ण लाल और रुद्र देवता हैं।

वीरचरित, वेणीसंहार, महाभारत आदि में परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन, सात्यकि आदि की उक्तियाँ इसके उदाहरण हैं। वीरचरित में राम के प्रति परशु राम की उक्ति देखिए—

नवोच्छलित-यौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद् गलत्-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥

निर्भयतापूर्वक मेरे आराध्यदेव शिव का धनुष तोड़ देने वाले नव यौवन से देदीप्यमान और अत्यधिक गर्व के ज्वर वाले व्यक्ति पर निर्दय होकर मेरा वह महाभयंकर कुठार पड़े जो पीस डाले गये घमण्डी राजाओं के गले से गिरते हुए रुधिर के पान के लिये लोलुप है॥८॥

'उत्साहाख्यस्थायिभावः प्रभावादिविभावभूः।
वीरोऽनुभावैः स्थैर्याद्यैर्भावैर्गर्वादिभिर्युतः॥९॥

अन्वयः—उत्साहाख्यस्थायिभावः, प्रभवादिविभावभूः, स्थैर्याद्यैः अनुभावैः, गर्वादिभिः भावैः युतः (रसः) वीरः (भवति)।

व्याख्या—वीरं व्याचष्टे—उत्साहेति। उत्साह एव आख्या यस्य स उत्साहाख्यः, स्थायी चासौ भावः स्थायिभावः, उत्साहाख्यश्च स्थायिभावश्चेति उत्साहाख्यस्थायिभावः, अथवा उत्साहाख्य एव स्थायिभावो यस्येति उत्साहाख्यस्थायिभावः। प्रभावादिभ्यो विभावादिभ्योर्भवतीति प्रभावादिविभावभूः, स्थैर्याद्यैः = स्थिरत्वादिभिः अनुभावैः, गर्वादिभिः, भावैः=व्यभिचारिभिः भावैः युतः = समन्वितः रसः वीरः= वीररसो भवति।

वीररसो हि महेन्द्रदैवतः हेमवर्णश्च भवति। अस्योत्साहः स्थायिभावः, नामक आलम्बनविभावः, प्रभावादिरुद्दीपनविभावः, स्थैर्यादिरनुभावः, धृति-मति-स्मृति-गर्व-तर्क-रोमाञ्चादिः व्यभिचारिभावः। अयं दानवीर-धर्मवीर-युद्धवीर-दयावीरभेदाच्चतुर्धा भवति। तत्र क्रमशः उदाहरणम्—

(१) दानवीरो यथा—

मीयतां कथमीप्सितमेषां दीयतां द्रुतमयाचितमेव ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः ॥

(२) धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये ।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम् ॥

(३) दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त-
मद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्
किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

(४) युद्धवीरो यथा श्रीरामः—

सङ्ग्रामाङ्गणमागते दशमुखे सौमित्रिणा विस्मितं
सुग्रीवेण विचिन्तितं हनुमता व्यालोलमालोकितम् ।
श्रीरामेण परन्तु पीनपुलक-स्फूर्जत्कपोलश्रिया
सान्द्रानन्दरसालता निदधिरे बाणासने दृष्टयः ॥

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, विजेतव्य शत्रु आदि आलम्बन विभाव, प्रभाव, बल, मद आदि उद्दीपन विभाव, स्थिरता आदि अनुभाव और गर्व आदि संचारी भाव हैं। इनका वर्ण सुवर्ण का है, और देवता महेन्द्र हैं। दानवीर, धर्मवीर, दयावीर और युद्धवीर भेद से ये चार प्रकार के होते हैं। इन चारों के उदाहरण संस्कृत व्याख्या में दे दिये गये हैं। इनका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

दानवीर के उदाहरण का अर्थ—

(१) इनकी इच्छाओं को कैसे जान लिया जाय और बिना माँगे ही इनको शीघ्र कैसे दान दे दिया जाय। उसे तो धिक्कार है जो इच्छा जानता हुआ भी याचक के बोलने के अवसर को सह लेता है।

धर्मवीर के उदाहरण का अर्थ—

(२) राज्य, धन, शरीर, स्त्री, भाई, पुत्र आदि जो मेरे अधीन है वह धर्म के निमित्त सदा तैयार रहता है। यहाँ धर्मार्थ राज्य, धन आदि के त्याग से धर्मराज युधिष्ठिर के उत्साह की प्रतीति होती है।

दयावीर के उदाहरण का अर्थ—

(३) अरे गरुड़ जी, मेरी शिराओं के अग्रभाग से तो अभी खून बह ही रहा है,

शरीर में मांस है, अभी आप की तृप्ति भी नहीं देख रहा हूँ, फिर आप मेरे भक्षण से क्यों विरत हो रहे हैं?

युद्ध वीर के उदाहरण का अर्थ—

(४) रावण के रणप्राङ्गण में अवतरित होने पर लक्ष्मण जी आश्चर्य में पड़ गये, सुग्रीव सोचने लग गये, हनुमान् जी अत्यन्त चंचलता से देखने लगे, किन्तु रामचन्द्रजी ने प्रचुर रोमाञ्च से फूट पड़ी कोमलकान्ति के कारण आनन्द रस से मन्थर दृष्टियाँ धनुष पर निहित कर दीं अर्थात् उस प्रबल शत्रु रावण को मारने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाया ॥ ९ ॥

व्याघ्रादिभिर्विभावैस्तु वेपिताद्यनुभावभृत् ।
भावैर्मोहादिभिर्युक्तो भयस्थायी भयानकः ॥ १० ॥

अन्वयः—व्याघ्रादिभिः विभावैः, मोहादिभिः भावैः (च) युक्तः वेपिताद्यनुभावकृत् भयस्थायी तु (रसः) भयानकः (भवति)।

व्याख्या—भयानकरसस्वरूपमाचष्टे—व्याघ्रादिभिरिति। व्याघ्रादिभिः विभावैः =उद्दीपनविभावैः, मोहाद्यैः भावैः व्यभिचारिभिश्च युक्तः=समन्वितः वेपिताद्यनुभावकृत् भयस्थायी=भयं स्थायि यस्य स भयस्थायी, भावः तु रसः भयानकः= भयानक इति नाम्ना प्रोच्यते। तथा च नायिकादिभिः आलम्बनविभावैः, व्याघ्रादिभिरुद्दीपनविभावैः मोहादिभिः सञ्चारिभावैश्च युक्तः वेपिताद्यनुभावकृत् रसः करुणः कथ्यते कविभिः। अयं भूताधिदैवतः कृष्णवर्णो भयानकरसः।

अत्र भयं स्थायीभावः, नायकादिरालम्बनविभावः, व्याघ्रादिरुद्दीपनविभावः, कम्पादिरनुभावः, संमोहादिः व्यभिचारिभावश्च। बालकालम्बनभयानकोदाहरणं यथा—

घोरमम्भोधरध्वानं निशम्य व्रजबालकाः।
मातुरङ्के निलीयन्ते सकम्पविकृतस्वराः॥

अत्र व्रजबालानां मेघध्वनितो भयमुत्पन्नमिति मेघध्वनिरुद्दीपनः, कम्पोऽनुभावः, आवेगादिर्व्यभिचारिभावः, भयं च स्थायीभाव इति भयानकरसप्रतीतिः।

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। स्त्री, निम्न जाति के लोग तथा बालक आदि आलम्बन विभाव हैं। व्याघ्र प्रभृति भयोत्पादक हिंस्र जन्तु उद्दीपन विभाव हैं, काँपना, आत्म-रक्षा के लिए भागने का मार्ग खोजना आदि अनुभाव हैं, और कर्तव्याकर्तव्य शून्य हो जाना संचारी भाव है। इसका वर्ण काला है और भूत-प्रेत-पिशाच देवता हैं।

उदाहरण जैसे—

स्फूर्जद्भुजाविंशतिकं समन्तात् समुच्छ्वसद्भीषण-वक्त्रपङ्क्तिम्।
दृष्ट्वैव रौद्रं दशवक्त्रदेहं सीताऽतिभीता बत मूर्च्छिताऽऽसीत्॥

स्थायी जुगुप्सा बीभत्सो विभावाद्यैर्यथाक्रमम् ।
अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याः संमताः क्रमाद् ॥ ११ ॥

अन्वयः—यथाक्रमम्, विभावाद्यैः (युतः, यस्य) स्थायी जुगुप्सा (अस्ति सः) बीभत्सः । (अत्र) अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याः संमताः (सन्ति) ।

व्याख्या—बीभत्सस्वरूपमाह—स्थायीति । यथाक्रमं = क्रममनतिक्रम्य विभावाद्यैः = विभावानुभावव्यभिचारिभिः भावैः युतः, यस्य स्थायी = स्थायिभावः जुगुप्सा = दोषेक्षणसमुद्भवा गर्हा वर्तते स बीभत्सः=बीभत्सनामा रसः । अत्र अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याः—अनिष्टस्य = वस्तुनः ईक्षणं = दर्शनं निष्ठीवः=वान्तिः, मोहः=मूर्च्छा एते आद्या यत्र ते अनिष्टेक्षणनिष्ठीवमोहाद्याश्च संमताः (सन्ति) ।

अस्यायं भावः—यस्य जुगुप्सा स्थायिभावः, अनिष्टस्य कदर्यस्य वस्तुनः दुर्गन्धमांसादेः ईक्षणमालम्बनविभावः, तत्र कृमिपातादिरुद्दीपनविभावः निष्ठीवादिरनुभावः सम्मोहादिर्व्यभिचारिभावः स बीभत्सरसो भवतीति भावः । अयं च नीलवर्णो महाकालदैवतश्च समुदीरितः । बीभत्सरसस्योदाहरणं यथा—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम् ।
आननेष्वनुलिम्पन्ति दृष्टा वेतालयोषितः ॥

अत्र शवा आलम्बनं, अन्त्रादिविदारणमुद्दीपनम्, आक्षिप्तरोमाञ्चनेत्रनिमीलनादिरनुभावः, आवेगादिश्च व्यभिचारिभावः । एभिः परिपुष्टा जुगुप्सा भवति बीभत्सनामको रसः ।

इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, दुर्गन्ध मांस, रक्त आदि आलम्बन विभाव है। इसी में कीड़ों–मकोड़ों का उत्पन्न हो जाना उद्दीपन विभाव है, वमन प्रभृति अनुभाव हैं । और मूर्च्छा आदि संचारी भाव हैं । इसका वर्ण नीला है और देवता महाकाल हैं । संस्कृत व्याख्या में उद्धृत 'नखैर्विदारितान्त्राणाम्' बीभत्सरस का उदाहरण है। यहाँ मृत मनुष्यों के रुधिर वर्णन से जुगुप्सा की प्रतीति होती है । अतः बीभत्स रस है ॥ ११ ॥

विशेष—मूल श्लोक की भाषा ऊटपटांग सी है, पदों का अन्वय ठीक-ठीक नहीं बैठता, केवल शब्द इस प्रकार रख दिये गये हैं कि पहले से जानने वाला ही उनसे किसी तरह अपने मनोऽनुकूल अर्थ समझ ले । इसलिए पदों को तोड़-मड़ोरकर अन्वय और व्याख्या कर दी गयी है, जिससे पाठक इस पद्य का वास्तविक प्रतिपाद्य अर्थ समझ लें ॥ ११ ॥

अद्भुतो विस्मयस्थायी मायादिकविभावभूः ।
रोमाञ्चाद्यनुभावोऽयं स्तम्भादिव्यभिचारिकः ॥ १२ ॥

अन्वयः—मायादिकविभावभूः, रोमाञ्चाद्यनुभावः, स्तम्भादिव्यभिचारिकः विस्मयस्थायी अयम् अद्भुतः (वर्तते) ।

व्याख्या—अद्भुतरसस्वरूपमाचष्टे—अद्भुत इति। माया आदौ येषां ते मायादिकादयः मायादिकादिभ्यो विभावेभ्यो भवतीति मायादिकविभावभूः, रोमाञ्चादयो अनुभावा यस्य स रोमाञ्चानुभावः, स्तम्भादयो व्यभिचारिणो यस्य स स्तम्भादिर्व्यभिचारिकः, विस्मयः = स्थायी यस्य स विस्मयस्थायी अयम् अद्भुतः= अद्भुतरसो वर्तते।

अस्य विस्मयः स्थायीभावः अलौकिकवस्तु आलम्बनविभावः, नटादिकृतमायादिरुद्दीपनविभावः, रोमाञ्चादिरनुभावः, स्तम्भादिर्व्यभिचारिभावः रसः अद्भुतरसो भवति। अयं च रसः पीतवर्णो गन्धर्वदेवतश्चास्ति, अद्भुतरसस्योदाहरणं यथा—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्यास्ति हृतचेतना॥

भगवते बालकृष्णस्य मुखमवलोकितवत्या मातुर्यशोदाया इयमुक्तिः। अत्र वदनमालम्बनं, अन्तर्जगच्चराचरदर्शनमुद्दीपनं, हृतचेतनागम्यं रोमाञ्चादिः अनुभावः, त्रासादिश्च व्यभिचारिभावः। एभिः परिपुष्टो यशोदाविस्मयोऽद्भुतरसो जायते सामाजिकानां मनःसु।

विस्मय इसका स्थायीभाव है, लोकविलक्षण वस्तु आलम्बन विभाव है, माया (इन्द्रजाल, जादू) आदि उद्दीपन विभाव है, रोमाञ्च आदि अनुभाव और स्तब्ध हो जाना आदि संचारी भाव हैं। इसका पीला और देवता गन्धर्व हैं। इस अद्भुत रस का उदाहरण निम्नलिखित है—

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः॥

यह महान् पुरुष विचित्र है, यह अवतार आश्चर्य जनक है, यह कान्ति कहाँ मिल सकती है, यह भङ्गिमा नई है, धैर्य अलौकिक है, प्रभाव का क्या कहना है, यह आकृति अनिर्वचनीय है, यह सृष्टि नई प्रतीत होती है॥ १२॥

निर्वेदस्थायिकः शान्तः सत्संगादिविभावभूः।
क्षमादिकानुभावोऽयं स्तम्भादिव्यभिचारिकः॥ १३॥

अन्वयः—सत्सङ्गादिविभावभूः, क्षमादिकानुभावः, स्तम्भादिव्यभिचारिकः निर्वेदस्थायिकः अयं शान्तः (भवति)।

व्याख्या—शान्तरसं निरूपयति—निर्वेदेति। सत्सङ्गादिभ्यो विभावेभ्यः भवतीति सत्सङ्गादिविभावभूः = सत्पुरुषसंगमाद्युद्दीपनविभावजन्यः, क्षमादिकोऽनुभावो यस्य स क्षमादिकानुभावः, स्तम्भादयो व्यभिचारिणो यस्य स स्तम्भादि-

व्यभिचारिकः निर्वेदः = संसारदुःखानुभवः स्थायी यस्य स निर्वेदस्थायी अयं = प्रस्तुतः रसः शान्तः = शान्तरसो भवति ।

अस्य आत्मनोऽवमानरूपः, संसारे हेयत्वबुद्धिरूपो वा निर्वेदः स्थायीभावः, परमात्मस्वरूपमालम्बनविभावः, सत्सङ्गादिरुद्दीपनविभावः, क्षमादिरनुभावः, स्तम्भादिर्व्यभिचारिभावः स रसः शान्ताभिधो भवतीति भावः ।

अयं हि शुभ्रवर्णः नारायणदेवतश्च शान्तस्य सत्त्वगुणजन्यत्वात् सत्त्वस्य च नारायणाधिष्ठितत्वात् ।

शान्तरसस्योदाहरणं यथा वैराग्यशतके—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद है, परमात्मा का स्वरूप या समस्त संसार को अनित्य समझकर उसे तुच्छ मानना आलम्बन विभाव है, सत्सङ्ग आदि उद्दीपन विभाव है, क्षमा प्रभृति अनुभाव और परमात्मस्वरूप में निमग्न होने पर स्तब्ध हो जाना आदि संचारी भाव हैं। इसका वर्ण शुभ्र है और देवता नारायण हैं। इसका उदाहरण संस्कृत व्याख्या में निर्दिष्ट है, जो एक शिवभक्त का कथन है, जिसका अर्थ यह है—

सर्प या माला, बलिष्ठ शत्रु या मित्र, फूलों की शय्या या शिलापृष्ठ, तृण या स्त्री सम्बन्धी वस्तु में समान दृष्टि रखने वाले तथा किसी पवित्र वन में शिव, शिव, शिव की रट लगाते हुए मेरे दिन बीत रहे हैं।

विशेष—महाभारत में शान्तरस का परिपाक सुन्दर हुआ है। प्रवृत्तिमार्ग वालों के लिए श्रृंगाररस तथा निवृत्तिमार्ग वालों के लिए शान्तरस है। संसार में ये ही दो मार्ग मुख्य हैं। अतः इन दोनों रसों की प्रधानता दी जाती है, अन्य रस इनके सहायक और पोषक हैं। नाटक में इस रस की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः इसे पृथक् दिखाया जाता है।

इस रस की विशेष महत्ता स्वीकार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने इस बात का खण्डन किया है कि—नाटक में आठ रस ही होते हैं। उनके अनुसार नाटक में भी नौ रस होते हैं। आठ रस मानने वाले नट में रस मानते हैं और नट सुख-दुःख से परे नहीं हो सकता, क्योंकि उसे क्रियायें करनी पड़ती हैं। रस प्रेक्षक में होने से अनुकूल स्थिति के होते ही उसका स्थायीभाव निर्वेद रस में बदल जायेगा। उन्होंने प्रमाण के लिए संगीत-रत्नाकर का यह पद्य रसगंगाधर में उद्धृत किया है—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥

नाटक में शान्त को रस न मानने का कारण धनिक ने अच्छी तरह बताया है। वे शान्त रस का लक्षण उद्धृत करते हुए खण्डन करते हैं—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न रागद्वेषौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तो कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु रसप्रधानः॥

इस तरह ऐसी परिभाषा होने और इसके स्वरूप की प्राप्ति मोक्षावस्था में होने के कारण यह शान्तरस विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। फिर सूक्ष्म वस्तुएँ भी शब्द प्रतिपाद्य होती हैं। अतः शान्त रस काव्य का विषय हो सकता है॥ १३॥

रतिर्देवादिविषया सन्ति च व्यभिचारिणः।
वेद्यमाना निगद्यन्ते भावाः साहित्यवेदिभिः॥ १४॥

अन्वयः—देवादिविषया रतिः वेद्यमाना व्यभिचारिभावाः साहित्यवेदिभिः भावाः निगद्यन्ते।

व्याख्या—इत्थं रसनिरूपणानन्तरं भावान् निरूपयति—रतिरिति। देवादिविषया = विभावानुभावाभ्याममभिव्यक्ता देवादिविषयिणीं, रतिः=अनुरागः (अत्रादिपदेन नृपमुनिगुरुसुता अपि गृह्यन्ते) तथा अनुपदं वक्ष्यमाणाः निर्वेदादयो ये व्यभिचारिणो भावाः सन्ति ते यदा वेद्यमानाः = व्यज्यमानाः सन्तः काव्यव्यङ्ग्या भवन्ति तदा साहित्यवेदिभिः = साहित्यमर्मज्ञैः भावा इति निगद्यन्ते = कथ्यन्ते।

तथा च देव-नृप-मुनि-गुर्वादिविषया रतिः, रसपदवीमापाद्यमानाश्च स्थायिनोभावाः भावशब्दवाच्या भवन्तीति भावः।

देव, नृप, मुनि, गुरु आदि सम्बन्धी अनुराग (भक्ति) को तथा व्यञ्जना से प्रतीयमान वक्ष्यमाण तैंतीस व्यभिचारी भाव को अलङ्कारिकों ने भाव के नाम से कहा है।

देवविषयक रति का उदाहरण है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासः नरके वा नरकान्तकप्रवासः।
अवधीरित-शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

नृपविषया रति यथा—

त्वद्वाजिराजि-निर्धूत-धूलीपटल-पङ्किलाम्।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः॥

मुनिविषया रति जैसे—

विलोकनेनैव तवामुना मुने! कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बर्हितांहसः।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते॥ २४॥

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥ १५॥
व्रीडा चपलता हर्षं आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च॥ १६॥

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ १७ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्याः, तथा असूयामदश्रमाः, आलस्यं च एव दैन्यं च मोहः, स्मृतिः धृतिः व्रीडा, चपलता, हर्षः, आवेगः, तथा जडता, गर्वः, विषादः, औत्सुक्यं, निद्रा अपस्मारः च एव सुप्तं, प्रबोधः, अमर्षः, च, अपि, अवहित्था, अथ च उग्रता, मतिः, व्याधिः तथा उन्मादः तथा मरणं, एव च, त्रासः च एव वितर्कः च नामतः समाख्याताः इमे त्रयस्त्रिंशत् तु व्यभिचारिणः भावाः विज्ञेयाः ।

व्याख्या—अथ त्रयस्त्रिंशन्निर्वेदादीनाह—निर्वेदेति । निर्वेदः=तत्त्वज्ञानादिभ्यः स्वावमानना, ग्लानिः = आधिव्याधिरत्यायासजन्यबलहानिसंभवो वैवर्ण्यशिथिलाङ्गत्वदृग्भ्रमणकम्पकार्श्यादिदुःखविशेषः । शङ्का = मम किमनिष्टं भविष्यतीत्याकारकः कश्चित्वृत्तिविशेषः । निर्वेदश्च ग्लानिश्च शङ्का च निर्वेदग्लानिशङ्काः ता आख्या नामानि येषां ते निर्वेदग्लानिशङ्काख्याः । तथा असूया = परोत्कर्षासहिष्णुत्वम्. मदः = मद्यादिजन्यः, हर्षमोहसंकरः, श्रमः = अध्वसुरतादिजन्यः खेदः, असूया च मदश्च श्रमश्चेति असूयामदश्रमाः । आलस्यं = प्रयत्नमान्द्यात् क्रियाननुमुखत्वम् । च एव दैन्यं = दीनता । चिन्ता = अपेक्षितानवाप्तिमूलम् । मोहः = भीत्यादिभिर्वैचित्त्यमज्ञानम् । स्मृतिः=संस्कारजन्यं ज्ञानम् । धृतिः=धैर्यम्, व्रीडा= मनःसंकोचात्मिका लज्जा । चपलता = चञ्चलता । हर्षः = इष्टप्राप्तिप्रभृतिजन्या सुखविशेषः । आवेगः = अनर्थातिशयजनितः चित्तविभ्रमः । जडता=इतिकर्तव्यता ज्ञानशून्यत्वम् । गर्वः = विद्याबलैश्वर्यलावण्यजन्यः आत्मोत्कर्षाभिमानः परावहेलनारूपः । विषादः = राजापराधादिजन्योऽनुतापः । औत्सुक्यम् = अधुनैवास्य लाभो भवत्वितीच्छा, अभीष्टावाप्तौ कालक्षेपाक्षमत्वं वा । निद्रा=चेतःसम्मीलनम्, श्रमादिना नयनयोः सम्मीलनं वा । अपस्मारः = ग्रहभूताद्यावेशजन्यो मनोविक्षेपात्मको रोगविशेषः । च एव सुप्तं = निद्रामुपेतस्य जनस्य विषयाननुभवः, स्वप्नावस्था । प्रबोधः = निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधः । अमर्षः = अधिक्षेपावमाननादिप्रतिचिकीर्षया मनःप्रज्वलनरूपश्चित्तवृत्तिविशेषः । अपि च अवहित्थम्=हर्षादिकार्यजन्याकारविकृतेराकारगोपनम् । अथ च उग्रता = अपमानादिजन्यात्यन्तकोपनत्वम् । मतिः = शास्त्रादिविचारजन्यार्थनिश्चयः । व्याधिः=

वातादिदोषजन्यो ज्वरादिः तथा उन्मादः=कामशोकभयादिजन्यं पदार्थानां यथार्थ-ज्ञानकरणासामर्थ्यम् । मरणं=व्याध्यभिघाताभ्यां देहान्मनसः पार्थक्यम् । एवं च । त्रासः=विद्युदाद्योत्पत्तिकृमनक्षेपः । वितर्कः=सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहः । नामतः समाख्याताः=कथिताः इमे=एते त्रयस्त्रिंशत्=एतत्संख्याकाः, तु भावाः=व्यभिचारिणो भावा विज्ञेयाः=ज्ञातव्याः । इमे च व्यभिचारिणो भावा रससहकारिणो व्यपदिश्यन्ते ।

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शङ्का, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) आमर्ष, (२६) अवहित्थ, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क। ये ऊपर निर्दिष्ट ३३ व्यभिचारी भाव कहे गये हैं।

विशेष—ये ३३ व्यभिचारी भाव शरीर और मन को व्याप्त कर स्थायीभाव को परिपुष्ट करते हैं, रस के लिए क्षेत्र तैयार करने में इनका प्रमुख स्थान है। इसके बाद ही रस उत्पन्न होते हैं। अतः रस के ये सर्वाधिक निकटवर्ती उनके अविभाज्य अङ्ग माने जाते हैं। जब ये प्रधान रूप से व्यक्त किये जाते हैं और रस की कोटि तक नहीं पहुँच पाते हैं, तब इन्हें भावध्वनि कहते हैं। मरण को व्यभिचारी भाव मानने पर अमंगल-अश्लील होने का डर रहता है। अतः मरण की चर्चा मात्र की जाती है। उसका स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जाता है ॥ १५–१८ ॥

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया ।
अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्तिताः ॥ १९ ॥

अन्वयः—सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया, अनौचित्या, रसाभासाः, भावाभासाश्च कीर्त्तिताः ।

व्याख्या—रसाभासान् भावाभासांश्च व्याचष्टे—सर्वेति। सर्वेषां साधारणौ सर्वसाधारणौ प्रेमा च प्रश्रयश्च प्रेमप्रश्रयौ सर्वसाधारणौ च तौ प्रेमप्रश्रयौ सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयौ तौ आदौ स्वरूपं यस्याः सा तया सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया अनौचित्या=अनौचित्येन रसवद्भासन्ते ये ते रसाभासाः भाववद्भासन्ते ये ते भावाभासाः रसाभासाः भावाभासाश्च कीर्तिताः=कथिताः ।

एकस्या नायिकाया अनेकनायक-विषयकस्नेहवर्णने रसोऽपि रसाभासो भवति, एवमेकस्यां देवतायामनेकदेवताविषयकनत्यादिवर्णने भावोऽपि भावाभासो भवति ।

एक नायिका का अनेक पुरुषों के साथ प्रेम का होना अनौचित्य के कारण रसाभास और एक पुरुष की अनेक देवता में भक्ति अनौचित्य के कारण भावाभास होता है। अर्थात् अनुचित वर्णन में रसाभास होते हैं ॥ १९ ॥

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।
काव्यस्य काञ्चनस्येव कुङ्कुमं कान्तिसम्पदे ॥ २० ॥

अन्वयः— भावस्य शान्तिः, उदयः, सन्धिः, तथा शबलता (एतच्चतुष्टयम्) काञ्चनस्य कुङ्कुमम् इव काव्यस्य कान्तिपदे (भवति)।

व्याख्या—भावस्य=व्यभिचारिभावादेः शान्तिः = विनाशः भावशान्तिः, उदयः = उद्गमः भावोद्गमः, सन्धिः = भावद्वयस्य क्रमेण कथनम् भावसन्धिः। तथा शबलता = बहूनां भावानां कथनं भावशबलता, यथा काञ्चनस्य = सुवर्णस्य कुङ्कुमं इव केशरमिव, यथा काव्यस्य = कविकर्मणः कान्तिसम्पदे = रससम्पत्त्यै अलं भवन्ति।

तथा च भावशान्तिः, भावोदयः, भावसन्धिः, भावशबलता च सुवर्णस्य केसरमिव कवितायाः शोभासम्पत्तिवर्द्धनाय अलं भवन्तीति भावः।

भावशान्तेरुदाहरणं यथा—

सुतनु! जहीहि कोपं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित् कोप एवंविधोऽभूत्।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥

अत्र बाष्पमोचनेन ईर्ष्याख्यसञ्चारिभावस्य शान्तिः।

भावोदयस्य उदाहरणं यथा—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणात्
माभूत् सुप्त इवेत्यमन्दमवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥

अत्रौत्सुक्यभावस्योदयः यद्वा—

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्यदर्पितस्य भामिनी।
असंदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥

अत्र प्रियांशदेशवलयीकृतनिजबाहुलताकर्षणेन रोषाख्यभावस्योदयो व्यङ्ग्यः।

भावसन्धेरुदाहरणं यथा—

नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥

अत्र हर्षविषादयोः सन्धिः यथा वा—

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिता ।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः ॥

अस्मिन् पद्ये नयनसङ्कोचविकासाभ्यां व्रीडौत्सुक्ययोः सन्धिर्व्यज्यते ।

भावशबलताया उदाहरणं यथा—

नद्यः कुत्र पराः क्व दैवतसरिद् द्रक्ष्यामि भूयोऽपि तां
तद्ध्यानाद् बहुसम्पदो जलतया दृष्टापि हर्षप्रदा ।
स्थास्ये तद्विरहातुरः कियदहं जातैव सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि केन वपुषा सा दृक्पथं यास्यति ॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यवृत्तिचित्तानां शबलता ।

यद्वा—

पश्येत् कश्चित् चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद् विद्विषाऽरण्यवृत्तेः
कन्या कश्चित् फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥

अत्र-शङ्का-ऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-प्रबोधौत्सुक्यानां शबलताध्वनिः ।

व्यभिचारि भाव के विनाश को भावशान्ति, भाव की उत्पत्ति को भावोदय, दो भावों के क्रमिक कथन को भावसन्धि और अनेक भावों के वर्णन को भावशबलता कहते हैं । जैसे कुङ्कुम से सुवर्ण की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार भावशान्ति आदि से कविता की शोभा बढ़ जाती है ॥ २० ॥

आतुर्यमाससमं च यथेष्टैरष्टमादिभिः ।
समासः स्यात्पदैर्न स्यात्समासः सर्वथापि च ॥ २१ ॥
पाञ्चालिकी च लाटीया गौडाया च यथारसम् ।
वैदर्भी च यथासङ्ख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ॥ २२ ॥

अन्वयः—(यदा) आतुर्यं पदैः समासः स्यात् (तदा) पाञ्चालिकी रीतिः, आससमं लाटीया, अष्टमादिभिः यथेष्टैः (पदैः) गौडाया सर्वथापि च न समासः वैदर्भी (इत्थम्) यथारसं यथासङ्ख्यं च चतस्रः रीतयः स्मृताः (कविभिः) ।

व्याख्या—अथ पद्यद्वयेन रीतिनिरूपणं कुरुते—आतुर्यमिति। यदा आतुर्यं=आचतुर्थं द्वित्रिचतु:पदपर्यन्तम् यथा स्यात्तथा पदैः समासः स्यात्=भवेत्तदा पाञ्चालिकी=पञ्चालदेशप्रिया रीतिः यदा आसप्तमं=पञ्चषट्सप्तमपदपर्यन्तं यथा स्यात्तदा पदैः समासः स्यात्तदा लाटीया=लाटदेशप्रिया रीतिः। अष्टमादिभिः=यथेष्टैः समासो यदा तदा गौडीया=गौडदेशप्रिया रीतिः। सर्वथापि समासो यदा न स्यात्तदा वैदर्भी=विदर्भदेशप्रिया रीतिः। इत्थं यथारसं=रसमनतिक्रम्य=यथारसं यथासख्यं च चतस्रः=चतुःसंख्याकाः पाञ्चाल्यादिनामिका-रीतयः ऋषिभिः स्मृताः=कथिताः। अयमाशयः द्वित्रिचतुःपदानां समासे पाञ्चाली, पञ्चषट्सप्तमपदानां समासे लाटीया, अष्टमादियथेष्टसमासे गौडीया, सर्वथा समासाभावेऽल्पसमासा वा वैदर्भी रीतिरिति फलितम्। तथा च यस्मिन् रसे या रीतिरनुकूला सा तत्र कार्या। यथा शृङ्गारे वैदर्भी, रौद्रवीररसयोः गौडीया, एतदतिरिक्ते रसे पाञ्चाली लाटीये प्रयोज्ये। चतसृणामासां रीतीनां क्रमश उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते। तद्यथा—

पाञ्चाल्या रीतेरुदाहरणं यथा—

मदननृपतियात्राकालविज्ञापनाय स्फुरति जलधिमध्ये ताम्रपात्रीव भानुः।
अयमपि पुरुहूतप्रेयसीमूर्ध्नि पूर्णः कलश इव सुधांशुः साधुरुल्लालसीति॥

लाटीयारीतेरुदाहरणं यथा—

अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥

गौडीयारीतेरुदाहरणं यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणित-शोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

वैदर्भीरीतेरुदाहरणं यथा—

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं नु तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः॥

चार पदों तक समास करने पर पाञ्चाली, सात पदों तक समास करने पर लाटी, आठ या आठ से अधिक पदों के साथ समास करने पर गौड़ी और सर्वथा समास न करने पर (अथवा अल्प समास करने पर) वैदर्भी रीति मानी जाती है। इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थकार ने चार रीतियाँ मानी है। भिन्न-भिन्न देशों के उच्चारण के कारण रीतियाँ प्रसिद्ध हुई हैं॥ २१–२२॥

मधुरायां समाक्रान्ता वर्गस्थाः पञ्चमैर्निजैः।
लकारश्च लसंयुक्तो ह्रस्वव्यवहितौ रणौ॥ २३॥

अन्वयः—निजैः पञ्चमैः (वर्णैः) समाक्रान्ताः, वर्गस्थाः, मधुरायां (भवन्ति, तथा) रणौ ह्रस्वव्यहितौ लकारश्च लसंयुक्तो भवति।

व्याख्या—अथेदानीं काव्यलक्षणोद्देशक्रमेणावसरप्राप्ता मधुरा-प्रौढा-परुषा-ललिता-भद्रावृत्तीर्निरूपयिष्यन्नादौ मधुरां वृत्तिं व्याचष्टे—मधुरायामिति। वचनविन्यासक्रमो रीतिः, विलासविन्यासक्रमः वृत्तिः, वेषविन्यासक्रमश्च प्रवृत्तिः। इति काव्यमीमांसायाः प्रथमाधिकरणस्य तृतीयाध्याये लक्षणानि प्रख्यातानि। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

वेषभाषानुकरणात् तथाचारप्रवर्तनात्।
संक्षेपेण समाख्याता रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः॥

निजैः=निजवर्गस्थैः, पञ्चमैः=पञ्चमवर्णैः ङकारादिभिः ङ-ञ-ण-न-म-रूपैः समाक्रान्ताः=संयुक्ताः, वर्गस्थाः=कवर्गादिवर्गस्थिताः चत्वारो वर्णाः क-ख-ग-घादयः मधुरायां भवन्ति। तथा लसंयुक्तः=लकारेण सहितः, लकारश्च भवति। एवं रणौ=रेफणकारौ, ह्रस्वव्यवहितौ=ह्रस्वेन अक्षरेण अन्तरितौ भवतः। सा वृत्तिः मधुरा नाम।

अस्या उदाहरणं यथा—

अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला तरुणीस्मरतोरणम्।
तर्ककर्कशपूर्णोक्ति-प्रासोत्कटधियां वृथा॥

अब काव्य लक्षण में कही हुई मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा वृत्तियों का निरूपण करते हैं—जिस कविता में कवर्गादि पाँचों वर्गों के चार-चार अक्षर अपने-अपने वर्ग के पाँचवें ङ, ञ, ण, न, म इनसे संयुक्त हों, लकार लकार के साथ संयुक्त हो एवं रेफ और णकार ह्रस्वाक्षर से संयुक्त हो, तो वहाँ मधुरा वृत्ति समझनी चाहिए। इसका उदाहरण संस्कृत व्याख्या में निर्दिष्ट है॥ २३॥

रेफाक्रान्ता वर्ग्यंयणाष्टवर्गात्पञ्चमादृते।
कपाक्रान्तस्तवर्गः स्यात् प्रौढायां च कमूर्धता॥ २४॥

अन्वयः—प्रौढायां टवर्गात्, (तथा) पञ्चमात्, ऋते, वर्ग्यंयणाः, रेफाक्रान्ताः (भवन्ति तथा) तवर्गः, कपाक्रान्तः, (किञ्च प्रौढावृत्तिः) कमूर्धता (जायते)।

व्याख्या—प्रौढायां=वृत्तौ टवर्गात्=तथा पञ्चमात्=ङ-ञ-ण-न-मरूपा=दक्षरात् ऋते=विना टवर्गं पञ्चमाक्षराणि च वर्जयित्वा, वर्गे भवा वर्ग्याः क-ख-ग-घादयो। वर्णाः यश्च णश्चेति यणौ वर्गभवेभ्यः पञ्चमाक्षरेभ्यश्चावशिष्टाः कखगघादयो वर्णाः

यकारणकरौ च तथाभूताः ते रेफाक्रान्ताः = रसहिताः भवन्ति। तथा तवर्गः कपाक्रान्तः = ककारपकाराभ्यां व्याप्तः भवति तथा प्रौढावृत्तिः कस्य = ककारस्य मूर्धनि तकारो यस्यां सा कमूर्धता जायते। एवं च यस्यां वृत्तौ टवर्ग-तवर्गसंबानि पञ्चमाक्षराणि च वर्जयित्वा अन्यानि वर्गाक्षराणि यकार-णकारौ च रेफाक्रान्तौ तवर्गश्च ककारयकाराभ्यामाक्रान्त-तकारश्च ककारोऽवमुच्यते सा वृत्तिः प्रौढानाम।

उदाहरणं यथा—

तर्कचातुर्यपूर्णोक्ति-प्राप्तोत्कटधियां वृथा।

जहाँ टवर्ग और सभी वर्गों के पञ्च अक्षरों को छोड़कर अवशिष्ट वर्गों के अक्षर और यकार णकार रेफाक्रान्त हो, तवर्ग ककार और पकार से आक्रान्त हो और तकार का ककार के अनन्तर उच्चारण हो वहाँ प्रौढावृत्ति होती है ॥ २४ ॥

सर्वैरूर्ध्वैः सकारस्य सर्वै रेफस्य सर्वथा।
रहोर्द्वेधा तु संयोगः परुषायां शषौ स्वतः ॥ २५ ॥

अन्वयः—सकारस्य ऊर्ध्वैः सर्वैः संयोगः तथा रेफस्य (सर्वैः वर्णैः) सर्वथा (संयोगः) रहोः, द्वेधा (संयोगः) शषौ (च) स्वतः (भवतः)।

व्याख्या—परुषां वृत्ति व्याचष्टे—सर्वैरिति। सकारस्य ऊर्ध्वैः = उपरि स्थितैः सर्वैः = समस्तैः ककारादिभिः वर्णैः संयोगः तथा रेफस्य = रकारस्य सर्वैः वर्णैः सर्वथा = सर्वप्रकारेण उपरिभावेन अधोभावेन च संयोगः। एवमेव रहोः = रेफहकारयोः द्वेधा = उपर्यधोभागेन संयोगः भवेत् शषौ=शकारषकारौ च स्वतः = स्वतन्त्रौ, वर्णान्तरासंयुक्तौ, असंयुक्तौ, परुषायां = परुषवृत्तौ भवत इति शेषः।

अस्योदाहरणमग्रे वक्ष्यते—'वीप्सोत्सर्पन् मुखाग्रार्द्रं बर्हीं जह्ले कृशस्तनुम्।' इति।

जहाँ कवर्गादि सभी वर्ग के ककारादि अक्षर सकार के पूर्व हों, रकार का ऊपर या नीचे दोनों प्रकार से या उसके अन्त में रकार हो अथवा रेफ हकार भी उक्त रीति से दोनों प्रकार से सम्बन्ध हो तथा सकार और षकार स्वतन्त्र (असंयुक्त) हो तो परुष वृत्ति होती है ॥ २५ ॥

लकारोऽन्यैरसंयुक्तौ लघवो घमधाः रसौ।
ललितायां तथा शेषा भद्रायामिति वृत्तयः ॥ २६ ॥

अन्वयः—ललितायां, लकारः अन्यैः (वर्णैः) असंयुक्तः (तथा) घमधाः रसौ लघवः (भवन्ति) तथा भद्रायां शेषाः (उच्चार्यन्ते)।

व्याख्या—ललितां भद्रां वा वृत्ति व्याचष्टे—लकार इति। ललितायां वृत्तौ लकारः, अन्यैः=लकारभिन्नैः वर्णैः असंयुक्तः = न संयुक्तः तथा घमधाः = घकार-

भकार-धकारां:, रसौ=रकारसकारौ, एते वर्णाः लघवः=ह्रस्वाः, असंयुक्ता भवन्ति ।

तथा=एवं भद्रायां वृत्तौ शेषाः = उक्तवृत्तिचतुष्टयावशिष्टाः पकारादयो अन्यैः वर्णैः संयुक्ता असंयुक्ता वा उच्चार्यन्ते । इत्येताः पञ्च वृत्तयो भवन्ति ।

जहाँ लकार अन्य वर्णों से असंयुक्त हो, घ, म, ध, र और स लघु प्रयुक्त हों तो वहाँ ललित वृत्ति होती है । उपर्युक्त चारों वृत्तियों के अक्षरों से बचे हुए अक्षर संयुक्त अथवा असंयुक्त रूप से उच्चरित हों वहाँ भद्रा वृत्ति जाननी चाहिए ॥ २६ ॥

अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला तरुणी स्मरतोरणम् ।
तर्ककर्कशपूर्णोक्तिप्राप्तोत्कटधियां वृथा ॥ २७ ॥

अन्वयः—तर्ककर्कश-पूर्णोक्ति-प्राप्तोत्कटधियां, (कृते) अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला स्मरतोरणम्, तरुणी, वृथा ।

व्याख्या—मधुरा-प्रौढावृत्त्योरुदाहरणं ब्रूते—अङ्गभङ्गेति । तर्केण=नव्यन्याय-शास्त्रानुशीलनेन कर्कशाः=कठोराः पूर्णाश्च=व्याप्ताश्च या उक्तयः=वचनानि ताभिः प्राप्ता=लब्धा, उत्कटा=विकटा धीः=मतिः यैः ते, तेषां तर्ककर्कशपूर्णोक्ति-प्राप्तोत्कटधियां=तर्ककर्कशबुद्धीनां तार्किकाणां कृते अङ्गभङ्गेण=अवयवभङ्गिम्ना, उल्लसन्ती=शोभमाना लीला=विलासः यस्याः सा अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला= हावभावाङ्गविक्षेपेण शोभमानविलासा स्मरस्य=कामस्य तोरणं स्मरतोरणं= कामतोरणरूपा तरुणी=युवतिः, वृथा=व्यर्था, न सुखाय । परिशीलनरसिकानामेव सुखदेति भावः ।

अत्र ङकाराधःस्थौ गकारौ, लकारसंयुक्तौ लकारौ रेफणकारौ च ह्रस्वाक्षरा-न्तरिताविति अङ्गभङ्गेति पूर्वार्द्धे मधुरावृत्तिः । तर्ककर्कशेत्युत्तरार्द्धे वकारयकार-णकारा रेफाक्रान्ता; तकारः ककारपकराभ्यां संयुक्तः, 'त्क' इत्यत्र च ककारस्य मूर्धनि तकार इति प्रौढावृत्तिः । तथा च पूर्वार्द्धे मधुराया वृत्तेः उदाहरणम् उत्तरार्द्धे च प्रौढाया वृत्तेरुदाहरणम् ।

अङ्गों के विक्षेप से कामचेष्टाओं को अभिव्यक्त करने वाली काम की विजय वल्लरी रूप तरुण रमणी नव्यन्याय की कर्कश उक्तिवाले जरन्नैयायिकों के लिए व्यर्थ है । वह तो रसिक पुरुषों के लिए ही सुखदायक है ।

यहाँ पूर्वार्द्ध में ङकार के नीचे दो गकारों का संयोग है, दो लकारों का लकार से संयोग है, रेफ और णकार ह्रस्वाकारों से संयुक्त है । अतः मधुरा वृत्ति है । उत्तरार्द्ध में ककार, वकार और णकार रेफ से व्याप्त है, ककार और पकार से तकार युक्त है, त्क यहाँ ककार के ऊपर तकार का योग है । अतः प्रौढा वृत्ति है ॥ २७ ॥

वीप्सोत्सर्पन्मुखाग्रार्द्रं बर्ही जह्रे कृशस्तृषम् ।
ललना रभसं धत्ते घनाटोपे महीयसि ॥ २८ ॥

अन्वयः—महीयसि घनाटोपे कृशः बर्ही तृषम् वीप्सोत्सर्पन्मुखाग्रार्द्रं जह्रे ललना (च) रभसं धत्ते ।

व्याख्या—परुषा-ललिता-भद्रावृत्तीनामुदाहरणान्यभिधत्ते—वीप्सेति । अतिशयेन महानिति महीयान् तस्मिन् महीयसि = महत्तरे घनानां = मेघानाम् आटोपे = विस्तारे सति कृशः = क्षीणः बर्ही = मयूरः, तृषम् = पिपासाम्, वीप्सया = वारंवारं उत्सर्पत् = उच्चैः चलत् मुखस्य = वदनस्य अग्रं = अग्रभागः आर्द्रं = क्लिन्नं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा जह्रे = अत्यजत् । ललना = कामिनी तु रभसं = मोटारं, धत्ते = दधाति वहति । वर्षाकाले मयूरा नृत्यन्ति रमण्यश्च रमन्ते इति भावः ।

अत्र वीप्सोत्सर्पदिति पूर्वार्द्धे सकारोर्ध्वस्थौ षकार-तकारौ, पकार-गकार-दकाराश्च रेफस्योपर्यधः स्थापिताः, रकार-हकारौ च मिथः उपर्यधो भावापन्नौ शकार-षकारौ च असंयुक्ताविति परुषावृत्तिः । 'ललना रभसं धत्ते घना' इत्यत्र असंयुक्तो लकारः, रेफ-मकार-शकार-धकार-घकाराश्च लघवोऽसंयुक्ता इति ललिता-वृत्तिः । टोपे महीयसि' इत्यत्र सर्वेषां वर्णानामसंयुतत्वाद् भद्रावृत्तिः ।

मेघों के छा जाने पर दुर्बल मयूरों ने बार-बार अपनी चोंच ऊँची करके वर्षा की बिन्दुओं से प्यास शान्त की और कामियों ने हर्ष मनाया । यहाँ पूर्वार्द्ध में सकार के ऊपर पकार और तकार है और पकार, गकार तथा दकार इनमें से कोई रेफ के ऊपर हैं और कोई नीचे है । इस तरह रकार और हकार का ऊपर-नीचे दोनों तरह से सम्बन्ध है, श और ष ये दोनों स्वतन्त्रतया प्रयुक्त हैं । अतः यहाँ परुषा वृत्ति है । 'ललनारमसंधत्ते' यहाँ लकार अन्य वर्णों से असंयुक्त है और घ, क, ध, र और स ये वर्ण लघु प्रयुक्त हैं । इसलिए ललिता वृत्ति है । 'घनाटोपे महीयसि' सभी अक्षर असंयुक्त प्रयुक्त हैं, अतः भद्रावृत्ति है ।२८।

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति ऋतुसंख्यः सुखयतु ॥ २९ ॥

अत्र महादेव इति सर्वं प्राग्वत् । ऋतुसंख्यः = षट्संख्य इतीयानेव विशेषः । अस्य व्याख्यानं प्रथमे एव मयूखे षोडशे श्लोके कृतमस्ति ।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य रसादिविवेचने नामके षष्ठे मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

इस षष्ठ मयूख के २९वें श्लोक में महादेव इत्यादि पूर्ववत् है। केवल चतुर्थ पाद में 'ऋतुसंख्यः' इतना ही परिवर्तन है। अतः इसका पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रथम मयूख के अन्त में १६वें श्लोक में देखना चाहिए॥ २९॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के षष्ठ मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि-त्रिपाठी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधा नामक व्याख्या समाप्त।

सप्तमो मयूखः

वृत्तिभेदैस्त्रिभिर्युक्ता स्रोतोभिरिव जाह्नवी।
भारती भाति गम्भीरा कुटिला सरला क्वचित्॥ १॥

अन्वयः—त्रिभिः वृत्तिभेदैः युक्ता भारती (त्रिभिः) स्रोतोभिः (युक्ता) जाह्नवी इव क्वचित् गम्भीरा (क्वचित्) कुटिला क्वचिच्च सरला भाति।

व्याख्या—काव्यलक्षणनिर्दिष्टमधुरादिवृत्तीर्निरूप्येदानीं व्यञ्जनावृत्तिं निरूपयति—वृत्तिभेदैरिति। त्रिभिः=त्रिसंख्याकैः वृत्तिभेदैः वर्तते शब्दः अर्थेऽनयेति वृत्तिः तस्या भेदा वृत्तिभेदाः तैः वृत्तिभेदैः=शक्ति-लक्षणा-व्यञ्जनारूपैः वृत्तिविशेषैः, युक्ता=संयुक्ता भारती=वाणी त्रिभिः स्रोतोभिः=प्रवाहैः युक्ता=त्रिस्रोतेत्यन्वर्थनामसम्बद्धा जाह्नवी=जह्नोरियं जाह्नवी=जह्नुकन्या गङ्गेव क्वचित्=कुत्रचन गम्भीरा=व्यङ्ग्यार्थरूपगभीरार्थबोधनपरा क्वचित् कुटिला=लक्ष्यार्थरूपवक्रार्थबोधनपरा क्वचिच्च सरला=वाच्यार्थरूपातिविशदार्थबोधनपरा भाति=शोभते।

इदमस्य रहस्यम्—यथा त्रिपथगेयं भवभीतिभञ्जिका भव्या भगवती भागीरथी कुत्रचित् जलस्य अतलस्पर्शित्वात् अगाधा, कुत्रचन वक्रगामित्वात् कुटिला=वक्रगामिनी, कुत्रचन च जलस्याल्पत्वात् सरला=सुतरा, सन्तरणकलानभिज्ञैरपि पुरुषैः सुखेन पथं गन्तुं शक्येति लोके त्रिस्रोतो गामितयाऽऽत्मनस्त्रिस्रोतेति नाम सार्थकं कुर्वाणा शोभते तथैवेयं कविसरस्वती अपि (आपामरमभिधया) झटिति अर्थप्रत्यायकतया सरला, शक्यार्थपरित्यागेन लक्षणया अर्थान्तरप्रतीतिजनकतया कुटिला, व्यञ्जनयाऽतिगम्भीरा, इत्थं कविवाङ्मये त्रिस्रोतेति प्रसिद्धा। तथा चास्या अभिधावृत्त्या सरलत्वम्, लक्षणावृत्या कुटिलत्वम्, व्यञ्जनावृत्या च गम्भीरत्वमिति फलितम्।

जिस प्रकार पतितपावनी भव्या भगवती भागीरथी कहीं-कहीं जल के अथाह होने के कारण गम्भीर, कहीं-कहीं प्रवाह के टेढ़े-मेढ़े होकर जाने से कुटिल तथा कहीं जल के अत्यन्त अल्प होने के कारण सरल=सबके तरने योग्य हुआ करती है, वैसे ही भगवती कवि भारती

भी अभिधावृत्ति से वाच्यार्थ बोध में सरल, लक्षणावृत्ति से लक्ष्यार्थ बोध में कुटिल और व्यञ्जनावृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ बोध में गम्भीर प्रतीत होती है ॥ १ ॥

सांमुख्यं विदधानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरः ।
कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥ २ ॥

अन्वयः—अर्थान्तरे सांमुख्यं स्फुटं विदधानायाः गिरः व्यापारः लोलाक्ष्याः कटाक्ष इव व्यञ्जनात्मकः (भवति) ।

व्याख्या—निरूपितरसस्य व्यञ्जनावृत्तिबोध्यतया व्युत्क्रमेण कृतनिर्देशां प्रथमं व्यञ्जनावृत्तिमभिधत्ते—सांमुख्यमिति । अर्थान्तरे=शक्यलक्ष्यार्थभिन्ने विधत्तेऽसौ विदधाना तस्या विदधानायाः=कुर्वाणायाः, गिरः=वाण्याः, शब्दस्य यः व्यापारः=क्रियाकलापः लोलाक्ष्याः=चञ्चलनयनाया नार्यः कटाक्ष इव=नेत्र-विक्षेपः=अपाङ्गदृष्टिरिव व्यञ्जनात्मकः=व्यञ्जनैव आत्मा=स्वरूपं यस्य स व्यञ्जनात्मकः भवति । शक्यलक्ष्यार्थभिन्नार्थविषयकप्रतीतिं कुर्वतः शब्दस्य यो व्यापारः स व्यञ्जना नाम ।

यथा पुंसि सांमुख्यं भजमानायाः चञ्चलाक्ष्याः कामिन्याः कटाक्षो मनोऽनुकूलं स्वाभिलाषरूपमर्थान्तरं प्रेमातिशयं प्रकाशयति तथैवेयं व्यञ्जनावृत्तिरपि शक्य-लक्ष्यातिरिक्तमर्थान्तरं व्यनक्तीति भावः ।

जिस प्रकार पुरुषों की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखने वाली चञ्चलाक्षी नायिका के अवलोकन में नेत्रों की बाह्य क्रिया के अतिरिक्त एक दूसरा भी आन्तरिक भाव छिपा रहता है, उसी प्रकार शब्द के स्पष्टार्थ के अतिरिक्त उसके गर्भ में दूसरा भी अर्थ छिपा रहता है, जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं, जो व्यञ्जनावृत्ति के व्यापार से प्रगट हुआ करता है ॥२॥

अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ वाच्यमेव चेत् ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—वाच्यमेव चेत् अर्थान्तरे संक्रमितम् अत्यन्तं वा तिरस्कृतं (तदा) अविवक्षित-वाच्यस्य (ध्वनेः) द्वौ भेदौ (भवतः) ।

व्याख्या—व्यञ्जनां निरूप्य ध्वनिभेदकथनव्याजेन लक्षणामूलव्यञ्जनाभेदौ व्याचष्टे—अविवक्षितेति । उत्तममध्यमाधमभेदेन काव्यं तावत् त्रिविधं वर्तते । तत्र ध्वनिमत् काव्यमुत्तमम्, गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यं मध्यमम्, सर्वथा व्यङ्ग्यरहित-मधमम् । तत्राभिधामूल-लक्षणामूलत्वेन ध्वनेः द्वौ भेदौ । एतौ अविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यौ उच्येते । अविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिः, विवक्षित-वाच्योऽभिधामूल इत्यर्थः ।

वक्तुमिष्टं विवक्षितं न विवक्षितमविवक्षितम् अविवक्षितमनुपयुक्तं वाच्यं=

वाच्यार्थो यस्मिन् स अविवक्षितवाच्यः तस्य अविवक्षितवाच्यस्य = ध्वनेः द्वौ भेदौ भवतः। चेत् = यदि वाच्यमेव = अभिधेयार्थ एव अर्थान्तरे अभिधेयातिरिक्तलक्ष्यार्थे संक्रमितं = परिणतं भवेत् वा अथवा अत्यन्तं = सर्वांशेन तिरस्कृतं = परित्यक्तं भवेत्तदार्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिश्चेत्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्द्वौ भेदौ भवतः।

इदमस्य तात्पर्यम्—यत्र वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थोऽतिशयचमत्कारजनकः तत् काव्यमुत्तमम्। यत्र च गुणीभूतव्यंग्यतया वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थोऽतिशयचमत्कारजनको न भवति तत् काव्यं मध्यमम्। यत्र च व्यङ्ग्यार्थस्य सर्वथाऽभावः तत् काव्यमधमम् इति काव्यस्योत्तममध्यमाधमतया त्रयो भेदाः मम्मटेन काव्यप्रकाशे प्रदर्शिताः। तत्रोक्तकाव्यजीवितभूतस्य ध्वनेः अभिधामूललक्षणामूलतया द्वौ भेदौ। तत्राद्योऽभिधामूलो विवक्षितवाच्यध्वनिः, द्वितीयो लक्षणामूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनिः। अस्यापि वाच्यार्थान्तरसंक्रमितत्वात् अत्यन्ततिरस्कृतत्वाच्च द्वौ भेदौ भवतः।

तत्राद्यो यथा—

कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

द्वितीयो यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हुआ करते हैं। यदि वाच्य अर्थ अपने अनुकूल हो और अर्थान्तर में संक्रमित हो अथवा अत्यन्त तिरस्कृत हो। इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य॥ ३॥

द्वौ विवक्षितवाच्यस्य लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ।
चत्वारिंशद्युतैकेन भेदाः षट् चानयोः क्रमात्॥ ४॥

अन्वयः—विवक्षितवाच्यस्य लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ (भेदौ भवतः) अनयोः क्रमात् एकेन युता चत्वारिंशत् षट् च (यद्वा चत्वारिंशद्युतैकेन षट्) भेदाः (भवन्ति)।

व्याख्या—विवक्षितवाच्यस्य = ध्वनिभेदस्य लक्ष्यते = ज्ञायते इति लक्ष्यः = ज्ञायमानः, न लक्ष्यते = न ज्ञायते इत्यलक्ष्यः = अज्ञायमानः; लक्ष्यश्च अलक्ष्यश्च लक्ष्यालक्ष्यौ, लक्ष्यालक्ष्यौ क्रमौ ययोः तौ लक्ष्यालक्ष्यक्रमौ तावेवात्मानौ ययोस्तौ लक्ष्यालक्ष्यक्रमात्मकौ द्वौ = द्विसंख्याकौ भेदौ भवतः। एवं विवक्षितवाच्यस्य

लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्वौ भेदौ स्तः । अनयोः=संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या-ऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ययोश्च क्रमात्=क्रमशः चत्वारिंशता युतश्चासावेकः चत्वारिंशद्युतैकः तेन चत्वारिंशद्युतैकेन भेदेन उपलक्षिताः षट्=सप्तचत्वारिंशत् यद्वा एकेन युता चत्वारिंशत् षट् च (सप्तचत्वारिंशत्) भेदा भवन्ति (एते सर्वे भेदा वक्ष्यन्ते)।

विवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हैं, जिनका नाम संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम है। इन दोनों के क्रमशः एक के साथ चालीस (एकतालीस ४१) और ६ कुल ४७ भेद होते हैं। आगे (७।१२ में) ५१ भेद बताये जायेंगे। उनमें से अविवक्षित वाच्य ध्वनि के ४ भेद घटा देने पर ४७ भेद हो जाते हैं। अतः इनका विवरण आगे देखना चाहिए ॥ ४ ॥

त्रिधा शब्दार्थतद्युग्मशक्तिजन्मा स्फुटक्रमात् ।
रसभावतदाभासप्रमुखस्त्वस्फुटक्रमात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—स्फुटक्रमात् शब्दार्थतद्युग्मशक्तिजन्मा (ध्वनिः) त्रिधा (भवति)। अस्फुटक्रमात् तु रसभावतदाभासप्रमुखः ।

व्याख्या—एतानेव सप्तचत्वारिंशद्भेदान् प्रपञ्चयति—त्रिधेति । स्फुटः=लक्ष्यः क्रमो यस्य स तस्मात् स्फुटक्रमात्=संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्, शब्दश्च अर्थश्च तयोः युग्मं चेति शब्दार्थयुग्मानि तेषां शक्तिभ्यो जन्म यस्य स शब्दार्थतद्युग्मशक्तिजन्मा ध्वनिः त्रिधा=त्रिप्रकारकः, भवति । शब्दशक्तिजन्मा, अर्थशक्तिजन्मा, शब्दार्थोभयजन्मा चेति त्रयो भेदाः । यत्र किल शब्दः परिवृत्तिं न सहते तत्राद्यः । यत्र च परिवृत्तिं सहते तत्र द्वितीयः । शब्दप्रवृत्तिचमाक्षमत्वे न तृतीयः ।

अस्फुटक्रमात्=असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात् रसश्च भावश्च तयोः आभासश्चेति रसभावतदाभासाः ते प्रमुखाः=मुख्याः यस्मिन् स रसभावतदाभासप्रमुखः ध्वनिः एक एव भवति ।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के तीन भेद होते हैं—शब्द शक्ति जन्मा, अर्थ शक्तिजन्मा और शब्दार्थोभय शक्ति जन्मा। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रस, भाव, रसाभास, भावाभास एवं भावशान्ति स्वरूप हैं ॥ ५ ॥

वस्त्वलङ्कारयोर्व्यक्तेर्भेदौ द्वौ शब्दशक्तिजौ ।
अर्थशक्तिसमुत्थस्य भेदा द्वादश तद्यथा ॥ ६ ॥

अन्वयः—वस्त्वलङ्कारयोः व्यक्तेः शब्दशक्तिजौ द्वौ भेदौ (भवतः) अर्थशक्तिसमुत्थस्य (ध्वनेः) भेदाः द्वादश तद् यथा (अग्रे वक्ष्यते) ।

व्याख्या—वस्तु च अलङ्कारश्च वस्त्वलङ्कारौ तयोः वस्त्वलङ्कारयोः व्यक्तेः=व्यञ्जनात्, वस्त्वलङ्कारव्यञ्जनात् शब्दशक्तिजौ=शब्दशक्तिध्वनिजातौ शब्दशक्त्युद्भवौ द्वौ=द्विसंख्याकौ भेदौ भवतः तथा च वस्तुध्वनिः अलङ्कारध्वनिश्चेति

द्वौ भेदौ शब्दशक्तिजस्येति भावः, अर्थशक्तिसमुत्थस्य = अर्थशक्तिसमुद्भवध्वनेः भेदा द्वादश = द्वादशसंख्याकाः, भवन्ति, तत् = भेदकथनम् यथा = अग्रे लक्ष्यते ।

वस्तुध्वनिमुदाहरति—

पथिक: नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥

अलङ्कारध्वनेस्तूदाहरणम्—

शामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥

शब्द शक्ति से समुत्पन्न ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि तथा अर्थ शक्ति से उत्पन्न ध्वनि के वक्ष्यमाण १२ भेद होते हैं ॥ ६ ॥

चत्वारो वस्त्वलङ्कारमलङ्कारस्तु वस्तु तत् ।
अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति तत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यत् वस्तु (कर्तृ) अलङ्कारम् अलङ्कारस्तु वस्तु (कर्म) व्यनक्ति तत् चत्वारः (भेदा भवन्ति) ।

व्याख्या—यत् = यस्मात् कारणात् वस्तु = निरलङ्कारोऽर्थः अलङ्कारं = उपमाद्यलङ्कारं व्यनक्ति = व्यञ्जनावृत्त्या बोधयति अलङ्कारः = उपमाद्यलङ्कारः तु वस्तु (कर्म) व्यनक्ति = व्यञ्जनावृत्त्या बोधयति । तत् = तस्मात् कारणात् तस्य चत्वारो भेदा भवन्ति । तथा च वस्तुना अलङ्कारध्वनिः, अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः, अलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः, वस्तुना च वस्तुध्वनिः इत्येवं चत्वारो भेदा इति भावः ।

अर्थ शक्त्युद्भवध्वनि के चार भेद हैं—(१) वस्तु से अलङ्कार ध्वनि, (२) अलङ्कार से वस्तुध्वनि, (३) वस्तु से वस्तुध्वनि और (४) अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि ॥ ७ ॥

वक्तुः कविनिबद्धस्य कवेर्वा प्रौढिनिर्मितः ।
स्वसिद्धो वा व्यञ्जकोऽर्थश्चत्वारस्त्रिगुणास्ततः ॥ ८ ॥

अन्वयः—कविनिबद्धस्य वक्तुः प्रौढिनिर्मितः कवेः वा (प्रौढिनिर्मितः) स्वसिद्धः वा अर्थः व्यञ्जकः ततः चत्वारः त्रिगुणाः ।

व्याख्या—चतुर्णामेषां भेदानां पुनस्त्रैविध्यमाह—वस्तुरिति । कविनिबद्धस्य = कविकल्पितस्य वक्तुः प्रौढया = प्रतिभया, प्रतिभासामर्थ्येन निर्मितः = उत्पन्नः वा = अथवा कवेः = कवयितुः प्रौढिनिर्मितः = प्रतिभोत्थापितः वा स्वसिद्धः = स्वतः सम्भवी अर्थः व्यञ्जको भवति । तत् = तस्मात् कारणात् चत्वारः = अव्यवहिते पूर्वस्मिन् श्लोके कथिताः अर्थशक्त्युद्भवस्य ध्वनेः भेदाः त्रिगुणाः = त्रयो गुणाः आवृत्तयो येषां ते त्रिगुणाः = द्वादश भवन्ति । कविनिबद्धवक्तृ-

प्रौढोक्तिसिद्धाः चत्वारः, कविप्रौढोक्तिसिद्धाः चत्वारः, स्वसिद्धाः चत्वारश्चेति त्रिगुणसङ्कलनमेव द्वादशभेदा जायन्ते ।

उक्त चारों भेदों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं, जैसे (१) कविकल्पित वक्ता की प्रतिभा से उत्पन्न, (२) कवि की प्रतिभा से निर्मित तथा (३) स्वतःसिद्ध अर्थ, अतः चारों भेद त्रिगुणित होकर १२ हो जाते हैं ॥ ८ ॥

शब्दार्थोभयभूरेकः स च वाक्यैकसंश्रयः ।
पदैकदेशे रचनावर्णवाक्यपदेष्वपि ॥ ९ ॥

अन्वयः—च (हि) वाक्यैकसंश्रयः (अतः) सः शब्दार्थोभयभूः (ध्वनिः) एक एव (भवति) पदैकदेशे रचना-वर्ण-वाक्य-पदेष्वपि (व्यङ्ग्यव्यवहारो भवति) ।

व्याख्या—शब्दार्थोभयशक्तिजन्यध्वनिमुदाहरति—शब्देति । 'तु-हि-च-स्म-ह-वैपादपूरणे पूजने स्वती' इत्यमरसिंहानुशासनादत्रत्यचकारस्य हिपरकत्वम् । तथा च च—हि—यतः वाक्यमेव एकः संश्रयः=आश्रयो यस्य सः वाक्यैकसंश्रयः=केवलं वाक्यनिष्ठः अतः सः शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ शब्दार्थयोः उभयं शब्दार्थोभयं तेन भवतीति शब्दार्थोभयभूः=शब्दार्थोभयजन्मा ध्वनिः एक एव भवति । अत्र केषाञ्चिच्छब्दानां परिवृत्तिसहत्वं केषाञ्चिच्च पदानां परिवृत्त्यसहत्वमित्युभयस्य प्रधानतया व्यञ्जकत्वात् उभयशक्तिमूलाऽयं ध्वनिरिति भावः ।

इत्थं स्फुटक्रमस्य भेदानुपपाद्य अस्फुटक्रमस्याश्रयभेदेन षड्भेदानाह—पदैकेति । पदैकदेशे=पदस्य एकदेशे प्रकृतप्रत्ययादिरूपे पदांशे, रचना=पदसघटना वर्णा=अक्षराणि वाक्यं पदसमूहरूपं पदं चेति तेषु तथोक्तेषु अपि व्यङ्ग्यव्यवहारो भवति ।

शब्दार्थोभय शक्ति से उत्पन्न ध्वनि का भेद केवल वाक्य में ही हुआ करता है। इसलिए इसको एक ही प्रकार का माना गया है। असलक्ष्य क्रम ध्वनि के ६ भेदों में से ५ का विवरण इस प्रकार है—प्रकृति-प्रत्यय आदि रूप पद के एक देश में, रचना में, वर्णों में, काव्य में, पद मे व्यङ्ग्य व्यवहार होता है।

विशेष—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का १३ भेद समाप्त होने पर उत्तरार्द्ध में असंलक्ष्यक्रम के ६ भेदों में से केवल ५ भेदों की स्थिति बताई गई है। आश्रयभेद से यह व्यवस्था की गई है ॥ ९ ॥

प्रबन्धे चेति षोढासौ रसाद्याख्योऽस्फुटक्रमः ।
एषु सप्तदशस्वेकं परित्यज्यास्फुटक्रमम् ॥ १० ॥
ये षोडशाद्या द्विगुणास्ते स्युर्वाक्यपदाश्रयात् ।
प्रबन्धेऽपि द्वादश स्युरर्थशक्तिभुवो भिदः ॥ ११ ॥

अन्वयः—रसाख्यः अस्फुटक्रमः असौ (ध्वनिः) प्रबन्धे (च) इति षोढा (भवति) एषु सप्तदशसु एकं परित्यज्य आद्याः ये षोडशभेदाः ते वाक्यपदाश्रयात् द्विगुणाः स्युः अर्थशक्तिभुवः प्रबन्धेऽपि द्वादश भिदः स्युः ।

व्याख्या—अस्फुटक्रमस्य षष्ठं भेदं ब्रूते—प्रबन्धे चेति । रसादिराख्या यस्य स रसाद्याख्यः = रसादिव्यङ्ग्यः असौ अस्फुटक्रमः=असंलक्ष्यक्रमः व्यङ्ग्यः ध्वनिः प्रबन्धे = वाक्यसमूहे च इति अनया रीत्या षोढा = पदपदांश-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रबन्धगतत्वेन षड्विध इत्यर्थः । एषु पूर्वोक्तेषु सप्तदशसु भेदेषु एकम् अस्फुटक्रमं = असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं परित्यज्य अवशिष्टा आद्या ये षोडशभेदाः ते वाक्यपदाश्रयात्= वाक्यस्य पदस्य च आश्रयात् द्विगुणाः = द्विरावृत्ताः स्युः पदवाक्यगतत्वेन द्वात्रिंश-त्संख्याका भवन्तीति भावः । अर्थशक्त्या भवतीति अर्थशक्तिभूः तस्य अर्थशक्ति-भुवः = अर्थशक्तिजस्य प्रबन्धेऽपि = वाक्यसमूहेऽपि द्वादश भिदः = भेदाः स्युः ।

यह ध्वनि प्रबन्ध में भी होती है । अतः इसके ६ भेद होते हैं । इस प्रकार पद, पदांश, रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्धनिष्ठ होने से रसादिध्वनि के ६ भेद होते हैं । इन पूर्वोक्त १७ भेदों में अस्फुटक्रमव्यङ्ग्य को छोड़कर जो १६ भेद बचते हैं, वे पदगत और वाक्यगत होने से द्विगुणित होकर बत्तीस हो जाते हैं । शब्दार्थोभय शक्ति जन्मा ध्वनि केवल वाक्य में ही होती है । अतः उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है । अर्थ शक्ति से उत्पन्न १२ भेद प्रबन्ध में भी होते हैं ॥ १०-११ ॥

द्वात्रिंशद् द्वादशैकः षट् सर्वसङ्कलितध्वनेः ।
भेदाः स्युरेकपञ्चाशत् संभिन्नास्तु सहस्रशः ॥ १२ ॥

अन्वयः—द्वात्रिंशत् द्वादश एकः षट् (च इति) सर्वसंकलितध्वनेः एक-पञ्चाशत् भेदाः स्युः सम्भिन्नास्तु सहस्रशः (भवितुमर्हन्ति) ।

व्याख्या—ध्वनेरेकपञ्चाशद्भेदान् गणयन्नुपसंहरति—द्वात्रिंशदिति । एवं द्वात्रिंशत् = द्वादश एकः षट् च इति सर्वसंकलितध्वनेः = संकलितश्चासौ ध्वनिरिति संकलितध्वनिः सर्वश्चासौ संकलितध्वनिः सर्वसंकलितध्वनिः तस्य सर्वसंकलित-ध्वनेः = सर्वेषां भेदानां संकलनया एकपञ्चाशद् भेदाः स्युः = जायन्ते । सम्भिन्नास्तु-संकर-संसृष्टिभ्यां सं मलितास्तु सहस्रशो भेदाः असंख्याः स्युः = भवेयुः भवितुमर्हन्तीत्यर्थः ।

इस प्रकार बत्तीस, बारह, एक और छह सब मिलाकर एकावन भेद ध्वनि के होते हैं (३२+१२+१+६ = ५१) इसके अतिरिक्त संकर और संसृष्टि को सम्मिलित कर हजारों भेद हो सकते हैं ॥ १२ ॥

वक्तृस्यूतं बोधयितुं व्यङ्ग्यं वक्तुरभीप्सितम् ।
स्वाङ्कुरितमतद्रूपं स्वयमुल्लसितं गिरः ॥ १३ ॥

अन्वयः—वक्तुः बोधयितुम् अभीप्सितं व्यङ्ग्यं वक्तृस्यूतं (भवति) अतद्रूपं गिरः स्वयं उल्लसितम् स्वाङ्कुरितं (बोद्धव्यम्) ।

व्याख्या—मार्थीव्यञ्जनानिरूपणप्रसङ्गेन पुनर्व्यङ्ग्यस्य विभागमाह—वक्तृस्यूतमिति । वक्तुः = कथयितुः, बोधयितुं = कथयितुम्, अभीप्सितं = अभिलषितम्, यद् व्यङ्ग्यं तत् वक्तृस्यूतम् = वक्तृतात्पर्यविषयीभूतं व्यङ्ग्यं भवति । यच्च व्यङ्ग्यं, अतद्रूपं = वक्तृतात्पर्याविषयीभूतं गिरः = वाचः स्वयं—स्वभावादेव उल्लसितं = अभिव्यक्तं भवति तत् स्वाङ्कुरितं व्यङ्ग्यमवगन्तव्यम् । अयमाशयः—यत्र वक्ता स्वीयं तात्पर्यं बोधयितुं व्यङ्ग्यार्थप्रतिपादकान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते तद् वक्तृस्यूतं भवति, यत्र पुनरनभिलषितोऽपि वक्तुः केवलं शब्दस्वभावादेव बोद्धव्यः स्व-स्वाभिप्रायानुसारं व्यङ्ग्यार्थानवगच्छन्ति तत् स्वाङ्कुरितं व्यङ्ग्यं भवति ।

तत्राद्यस्योदाहरणं 'गङ्गायां घोषः' अत्रैतद्वाक्यप्रयोक्तुः शीतत्वपावनत्वादि-व्यङ्ग्यं बोधयितुमभीप्सितमत इदं वक्तृस्यूतम् ।

द्वितीयस्य यथा 'अस्तं गतो भानुः' इत्यत्र अभिसरणमुपक्रम्यताम्, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयान्, कर्मकरणान्निवर्तामहे, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्, दूरं मागाः, गावो गृहे प्रवेश्यन्ताम्, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्, इत्यादयो वक्तुरतात्पर्यभूता अपि नाना अर्था बोद्धव्यानुसारं तत्तद्वैशिष्ट्यात् पृथक्-पृथक् प्रतीतिपथमवतरन्तोऽभिव्यक्ता भवन्तीति ते स्वाङ्कुरितव्यङ्ग्याः एव ।

अब व्यञ्जना के प्रसंग से उसके और अन्य भेद बताते हैं—वक्ता के अभीष्ट अर्थ बोध कराने के लिए यदि व्यङ्ग्य का प्रयोग किया जाय तो उसे वक्तृस्यूत व्यङ्ग्य कहते हैं। और जहाँ वक्ता के अभीष्ट अर्थ बोध कराने के लिए व्यङ्ग्य का प्रयोग न किया गया हो, बल्कि वक्ता के अभीष्ट अर्थ की अपेक्षा न रखकर बोद्धागण अपने-अपने मतलब के अनुसार शब्द की महिमासे स्वयं उद्भूत व्यङ्ग्य का अनुभव कर रहे हों, वहाँ स्वांकुरित व्यङ्ग्य होता है ।

पहले भेद का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है । यहाँ वक्ता का आशय शीतलता, पावनता आदि का बोध व्यङ्ग्य के द्वारा कराना है ।

दूसरे भेद का उदाहरण 'अस्तं गतो भानुमान्' है । यहाँ वक्ता का आशय सामान्यरूप से सूर्यास्त का वर्णन है, किन्तु श्रोता अपने से इसके अनेक अर्थ लगा सकते हैं—सन्ध्या का समय हो गया, दूकान बढ़ाओ, दीपक जलावो, अभिसार के लिए तैयार हो जाओ, दूर मत जाओ, गायों को बाँध दो, सूर्य का ताप कम हो गया आदि असंख्य अर्थ निकल सकते हैं ॥ १३ ॥

कश्चित् साधारणः कश्चिदामन्त्र्य प्रतिबोधितः।
कश्चित्तटस्थः कश्चिच्च बोधितप्रतिबोधितः॥ १४॥

अन्वयः—कश्चित् साधारणः कश्चित् आमन्त्र्य प्रतिबोधितः कश्चित् तटस्थः कश्चिच्च बोधितप्रतिबोधितः (प्रतिवक्तृस्यूतव्यङ्ग्यस्य चत्वारो भेदाः)।

व्याख्या—तत्र बोद्धव्यचातुर्विध्येन वक्तृस्यूतस्य चातुर्विध्यं व्याचष्टे—कश्चिदिति। वक्तृस्यूते बोद्धुः चातुर्विध्यं भवति। यथा कश्चित् साधारणः=वक्तृतात्पर्यानभिज्ञो बोद्धा भवति। यथा 'अस्तं गतो भानुमान्' इत्यत्र वक्त्रा केन तात्पर्येणेदं वाक्यं प्रयुक्तमित्यनभिज्ञस्यापि जनस्य स्वाभिप्रायानुसारमर्थबोधो भवत्येव।

कश्चित् आमन्त्र्य=सम्बोध्य प्रतिबोधितो भवति यथा—पथिक! नात्र स्रस्तरमस्ति' इत्यत्र पथिकेति सम्बोध्योन्नतपयोधरादिशब्दैर्नायिकया 'उपभोगायात्रैव तिष्ठ' इति स्वाभिप्रायः प्रतिबोधितः।

कश्चित् तटस्थः बोद्धा भवति। यथा—

पश्य निश्चल निस्तब्धा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मल-मरकतभाजन-परिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव॥

इत्यत्र सखिं प्रति कथयन्त्या नायिकया अकृतसंबोधनं तटस्थं जनं प्रति स्वकीयं संकेतस्थानमुक्तम्। कश्चिच्च बोधितप्रतिबोधितः=बोधितेन प्रतिबोधितो बोद्धा भवति यथा—

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया तत्रैव नेया दिवसाः कियन्तः।
यत्र स्थितिर्युक्तिमती न देशे करा हिमांशोरपि तापयन्ति॥

अत्र नायिकाबोधितेन वक्त्रा उत्तमो नायकः प्रतिबोधितः। इति वक्तृस्यूतव्यङ्ग्यं बोद्धव्यचतुर्विध्येन चतुर्विधम्।

वक्तृस्यूत व्यङ्ग्य के चार भेद होते हैं—(१) साधारण, (२) आमन्त्र्यप्रतिबोधित, (३) तटस्थ और (४) बोधित-प्रतिबोधित।

साधारण वक्तृस्यूत उसे कहते हैं जहाँ साधारण श्रोता वक्ता के अभीष्ट अर्थ को न समझते हुए भी अपने मतलब के अनुसार उसके वाक्यार्थ को समझ ले। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' सूर्य अस्त हो गये। यहाँ वक्ता के तात्पर्य को न जानने वाले भिन्न-भिन्न आशय वाले बोद्धाओं को उनकी इच्छा के अनुसार बोध हो जाता है। जहाँ सम्बोधन करके मतलब समझाया जाय उसे आमन्त्र्य प्रतिबोधित कहते हैं। जैसे—हे पथिक! यहाँ पर्वतीय प्रदेश में-आस्तरण आदि नहीं है, फिर भी उभड़े हुए पयोधरों को देखकर रहना चाहते हो तो रहो। यहाँ नायिका ने पथिक को संबोधन कर के व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा यह कहा कि यहाँ पहाड़ी गाँव में शयनसामग्री शय्या आदि नहीं है, उभड़ा हुआ मेरा तारुण्य है। इसलिए यदि तुममें

उपभोग करने की क्षमता हो तो रह जाओ। तटस्थ वक्तृस्यूत उसे कहते हैं जहाँ श्रोताओं के बीच में कोई एक विशिष्ट श्रोता संबोधन न करने पर भी वक्ता के तात्पर्य को समझ लेता है। जैसे, 'पश्य निश्चलनिस्तब्धा' आदि। यहाँ नायिका ने अपनी सखी को सुनाकर एक तटस्थ श्रोता को अपना संकेतस्थान बता दिया। बोधित-प्रतिबोधित उसे कहते हैं जहाँ किसी अन्य के द्वारा प्रकारान्तर से अपने आशय को प्रगट किया जाय। जैसे 'प्रायेण विज्ञप्तिरियं मदीया' में नायिका ने अपने स्वामी को बोद्धा रखा है ॥ १४ ॥

इत्येवं बोद्धृवैचित्र्याद्वक्तृस्यूतं चतुर्विधम्।
उपेक्षानिह्नवाभ्यां च द्विधा स्वाङ्कुरितं मतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—इत्येवं बोद्धृवैचित्र्यात् वक्तृस्यूतं चतुर्विधं (भवति) स्वाङ्कुरितं च उपेक्षानिह्नवाभ्यां द्विधा मतम् ।

व्याख्या—वक्तृस्यूतभेदानुपसंहरति—इत्येवमिति। इत्येवं = इत्थम्, बोद्धुः वैचित्र्यं बोद्धृवैचित्र्यं तस्मात् बोद्धृवैचित्र्यात् = बोद्धव्यवैशिष्ट्यात् वक्तृस्यूतं व्यङ्ग्यं चतुर्विधं भवति। उपेक्षा च निह्नवश्चेति उपेक्षानिह्नवौ ताभ्यां उपेक्षानिह्नवाभ्यां गूढागूढाभ्यां च स्वाङ्कुरितं व्यङ्ग्यं द्विधा मतम्।

उपेक्षाविषयीभूतं निह्नवविषयीभूतं चेति स्वाङ्कुरितं द्वेधा भवतीति भावः।

इस प्रकार बोद्धाओं के वैचित्र्य से वक्तृस्यूत चार प्रकार का होता है। इसी तरह उपेक्षा और निह्नव भेद से स्वाङ्कुरित के दो भेद होते हैं। गूढव्यङ्ग्य और अगूढव्यङ्ग्य ॥ १५ ॥

भूतादिकालभेदेन निह्नवः स्यादनेकधा।
अनेनापि प्रभेदेन व्यक्तिवल्ली विजृम्भते ॥ १६ ॥

अन्वयः—भूतादिकालभेदेन निह्नवः अनेकधा स्यात्। अनेन अपि प्रभेदेन व्यक्तिवल्ली विजृम्भते।

व्याख्या—तत्र निह्नवस्यानेकरूपतां प्रतिपादयति—भूतादीति। भूतः आदिर्यस्यासौ भूतादिः भूतादिश्चासौ कालः भूतादिकालः तस्य भेदः भूतादिकालभेदः तेन भूतादिकालभेदेन = भूत-भविष्यद्वर्तमानकालभिदा, निह्नवः अनेकधा = अनेकप्रकारः भवति। तद्यथा—

श्वश्रूः क्रुध्यतु निर्दिशन्तु सुहृदो निन्दन्तु वा मातर-
स्तस्मिन् किन्तु न मन्दिरे सखि पुनः स्वापो विधेयो मया।
आखोराक्रमणाय कोणकुहरादुत्फालमातन्वती
मार्जारीनखरैः खरैः कृतवती कां कां न मे दुर्दशाम् ॥

अत्र भूतभविष्यद्वर्तमानसुरतगोपनं व्यङ्ग्यम् । अनेन प्रभेदेन = व्यङ्ग्यार्थमूलकस्वाङ्कुरितव्यङ्ग्यभेदेन अपि व्यक्तिवल्ली = लक्षणामूलव्यञ्जनारूपलता विजृम्भते = विकसति, अनेकभेदयुक्ता भवतीति भावः ।

भूतगोपन, भविष्यगोपन और वर्तमानगोपन आदि कालभेद से निह्नव के अनेक भेद होते हैं। जैसे लक्षणामूलक व्यञ्जना के अर्थान्तर संक्रमित आदि भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थमूलक, स्वाङ्कुरित इन भेदों से व्यञ्जनालता भी विस्तृत होती है ॥ १६ ॥

नानाप्रभेदा नियता क्वचित् प्रकरणादिना ।
अर्थेऽर्थमन्यं यं वक्ति तद्वाच्यव्यङ्ग्यमिष्यते ॥ १७ ॥

अन्वयः—नानाप्रभेदा प्रकरणादिना क्वचित् नियता (सती) यम् अन्यम् अर्थम् वक्ति तत् वाच्यव्यङ्ग्यम् ।

व्याख्या—अभिधामूलां व्यञ्जनां निरूपयन् वाच्यमूलं व्यङ्ग्यं व्याचष्टे—नानेति । नानाप्रभेदाः = नाना = अनेकाः प्रभेदाः = भिदः, यस्याः सा नानाप्रभेदाः = नानार्था वाक् प्रकरणादिना = प्रकरणाद्यनुरोधेन क्वचित् = कस्मिंश्चित् अर्थे नियता = नियमिता, एकार्थवाचत्वेन नियन्त्रिता सती यमन्यमर्थं = यं वाच्यातिरिक्तं द्वितीयमर्थं वक्ति = अभिदधाति तत् वाच्यव्यङ्ग्यम् इष्यते = अभिलष्यते । यथा—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनो विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग सततं करोऽभूत् ॥

अत्र प्रकरणादभिधा राजनि नियता । अतो राजरूपार्थे न केवलवाच्यो व्यङ्ग्यो वा, अपितु वाच्यः सन् व्यङ्ग्यो भवति ।

अयमाशय।—अनियमनदशायां वाच्यो भवति, प्रकरणादिना च नियमनदशायां व्यङ्ग्यो भवतीति विवेकः । तथाऽत्र व्यङ्ग्यार्थमूलं वक्तृस्यूतं, लक्ष्यार्थमूलं स्वाङ्कुरितम्, अभिधामूलं च व्यञ्जनया वाच्यव्यङ्ग्यम् ।

भिन्न-भिन्न अर्थवाली वाणी प्रकरणादिवश एक अर्थ में नियन्त्रित होकर जब अन्य अर्थ का बोध कराती है, तब उसे वाच्यव्यङ्ग्य कहते हैं ।

इस प्रकार यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थमूलक के वक्तृस्यूत, लक्ष्यार्थमूलक के स्वाङ्कुरित तथा अभिधामूलक के वाच्यव्यङ्ग्य यह व्यञ्जना के भेदों का निरूपण है ॥ १७ ॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति मुनिसङ्ख्यः सुखयतु ॥ १८ ॥

व्याख्या—अथ सप्तममयूखपर्यवसानमधिदधाति—महादेव इति। महादेव इति सर्वं पूर्ववत् वर्तते, किन्तु चतुर्थे पादे 'महति मुनिसंख्यः' इतीयानेव परिवर्तितमस्ति। मुनिसंख्य इत्यस्य सप्तसंख्यो मयूखः अर्थो ज्ञेयः। पुराणादिषु मुनीनां सप्तत्वमेवोदाहृतं वर्तते। तथाहि स्वायम्भुवमन्वन्तरे मरीचिः, अङ्गिराः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, वसिष्ठश्चेति सप्तमुनयो बभूवुः, किन्तु वैवस्वतमन्वन्तरीया विश्वामित्र-जमदग्नि-भरद्वाज-गोतमात्रि-वसिष्ठ-कश्यपाख्या सप्तमुनयो लोके प्रथिताः सन्ति।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य व्यञ्जनानिरूपणनामके सप्तमे मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता विमलाख्या व्याख्या समाप्ता।

इस सप्तम मयूख के १८वें श्लोक में महादेव आदि तीन पाद पूर्ववत् हैं, किन्तु केवल चतुर्थ पाद में 'मुनिसंख्य' इतना ही मात्र परिवर्तन है। अतः इस पद्य का पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रथममयूख के १६वें श्लोक में देखना चाहिए॥ १८॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के सप्तम मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधा नामक व्याख्या समाप्त।

अष्टमो मयूखः

यद् व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय स नो ध्वनिः।
अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमापतितं त्रिधा॥ १॥

अन्वयः—यद्व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय (भवति) स नः (मतेन) ध्वनिः। अन्यथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यम् त्रिधा आपतितं (भवति)।

व्याख्या—ध्वनिनिरूपणानन्तरं तत्प्रसङ्गादागतं गुणीभूतव्यङ्ग्यं नाम मध्यमं काव्यं साम्प्रतं व्याचष्टे—यदिति। यद् व्यज्यमानं = येन = काव्येन व्यज्यमानं = व्यञ्जनया प्रतीयमानं व्यङ्ग्यं, मनसः = काव्यार्थभावनापरिपक्वचेतसः स्तैमित्याय—स्तिमितस्य भावः स्तैमित्यं तस्मै स्तैमित्याय = आर्द्रीभावाय, आह्लादाय, भवति। स नः = अस्माकं मतेन ध्वनिः। एवं भूतं च तत् ध्वनिमत् काव्यमुत्तमं भवति। यत्र वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थस्यात्यन्तं चमत्कारजनकता तत्र ध्वनिरिति भावः। अन्यथा = व्यङ्ग्यस्य चमत्कारजनकत्वाभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं =

एतद्रूपं काव्यं मध्यमं भवति, तच्च गुणीभूतव्यङ्ग्यं त्रिधा आपतितं = त्रिप्रकारकं भवतीति भावः ।

जिस काव्य से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा प्रतीत हुआ व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होकर सहृदयों के मन को आनन्द से विकसित करे उसको ध्वनि कहते हैं। ऐसा काव्य उत्तम कहा गया है। वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारी न हो, उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं और वह मध्यम काव्य कहा जाता है। इस ग्रन्थकार के मत से गुणीभूत व्यङ्ग्य के तीन भेद हैं ॥ १ ॥

व्यक्त एव क्वचिद् व्यङ्ग्यः क्वचिदर्थस्वभावतः ।
क्वचिच्चारुतरस्याग्रे स विमुञ्चति चारुताम् ॥ २ ॥

अन्वयः—क्वचित् व्यक्तः क्वचित् अर्थस्वभावतः व्यङ्ग्यः क्वचिच्च चारुतरस्य अग्रे स चारुतां विमुञ्चति ।

व्याख्या—तदेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यं लक्षयति—व्यक्त इति। क्वचित् = कुत्रचन व्यक्तः = प्रकटः, अतिप्रस्फुटः (इत्येकः प्रकारः) क्वचित् = कुत्रचन अर्थस्वभावतः अर्थस्य = वाच्यार्थस्य स्वभावतः = स्वभावात् स्वाभाविकादर्थात् व्यङ्ग्यः = व्यङ्ग्यार्थः (इति द्वितीयः प्रकारः) क्वचिच्च = कुत्रचन चारुतरस्य = अतिरमणीयस्य वाच्यार्थस्य अग्रे स = व्यङ्ग्यः चारुतां = स्वीयां रम्यतां विमुञ्चति = परित्यजतीति (तृतीयः प्रकारः) ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य के तीन भेद हैं—कहीं व्यङ्ग्य प्रस्फुट होता है तो कहीं स्वाभाविक अर्थ से वह मनोहर नहीं होता, और कहीं अत्यन्त मनोहर वाच्य की अपेक्षा से अपनी सुन्दरता को छोड़ देता है ॥ २ ॥

अगूढं कलयेदर्थान्तरसंक्रमितादिकम् ।
विस्मृतः किमपां नाथ स त्वया कुम्भसम्भवः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अर्थान्तरसंक्रमितादिकम् अगूढं कलयेत् । अपां नाथ ! सः कुम्भसंभवः (किं) त्वया विस्मृतः ।

व्याख्या—अगूढव्यङ्ग्यं व्याचष्टे—अगूढमिति। अर्थान्तरसंक्रमितादिकम् = अर्थान्तरसंक्रमितम् आदौ यस्य तत्तथाभूतं गुणीभूतं व्यङ्ग्यम् अगूढं = स्फुटं, स्थूलबुद्धिभिरपि सहसैव ज्ञायमानम्, कलयेत् = जानीयात् । समुद्रं प्रति कस्यचिदुक्तिः हे अपांनाथ ! = जलनाथ ! सः = सर्वलोकप्रसिद्धः कुम्भसंभवः—कुम्भः = कलशः सम्भवः = उत्पत्तिस्थानं यस्यासौ कुम्भसम्भवः = चुलकीक्रियमाणसमुद्रः, समुद्रपानकर्ता, अगस्त्यः = अगस्त्यनामा महर्षिः किं त्वया = भवता विस्मृतः =

स्मृतिपथादपवाहितः, अपितु न विस्मृतः यतः स त्वच्छोषकः। नामशेषकर्तारं शत्रुं न कश्चित् कदाचिदपि विस्मरतीति त्वया = तस्मात् सदा विभेतव्यमिति भावः।

अत्र मिलितैः अर्थान्तरसंक्रमितादिध्वनिभिः स मुनिः त्वां पास्यति तस्मात्त्वया भेतव्यमिति ध्वन्यते इति अस्फुटम्।

अगूढ का अर्थ है प्रस्फुट। प्रस्फुट व्यंग्य में वैसा चमत्कार नहीं होता जैसा गूढ में चमत्कार होता है। जैसे कामिनी के कुचकलश कुछ प्रस्फुट और गूढ रहते हुए ही कामी पुरुषों को उत्कण्ठित करते हैं और अत्यन्त प्रस्फुट या अत्यन्त गूढ होने पर रमणीय नहीं मालूम पड़ते, उसी प्रार व्यङ्ग्य के प्रस्फुट होने पर उनमें अप्रधानता आ जाती है और गुणीभूत व्यङ्ग्य कहलाता है। इसका उदाहरण है—'विस्मृतं किमपां नाथ' हे समुद्र! तुम उस जलधिपान करने वाले अगस्त मुनि को भूल गये हो, नहीं कभी मत भूलना, तुमको उससे डरना चाहिए, क्योंकि वह एक चुल्लू में तुमको पी गया था।

यहाँ कुम्भसंभव पद से समुद्रपान करने रूप अर्थ की प्रतीति होने से इसमें अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यता, त्वया पद समुद्रपान की सामर्थ्य को जानने वाले रूप अर्थ के ज्ञान से अर्थान्तर से क्रमित वाच्यता और अपां नाथ! इस पद से जलनाथ रूप अर्थ की प्रतीति होने पर पदगत शब्दशक्ति मूलध्वनि और उसी तरह विस्मृतः इस पद से नहीं विस्मृत इस अर्थ का बोध होने से पदगत अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि होती है। ऊपर लिखी समस्त ध्वनियों को ध्यान में रखते हुए यदि तुम उस अगस्त्य मुनि से नहीं डरोगे तो वह तुम्हे पुनः पी जायेगा। वह ध्वनि प्रतीत होती है। वाच्य की तरह इसके अत्यन्त प्रस्फुट होने के कारण यह अगूढ नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य कहा गया है॥ ३॥

अपरस्य रसादेश्चेदङ्गमन्यद्रसादिकम्।
हा हा मत्कुचकाश्मीरलिप्तं भिन्नमुरः शरैः॥ ४॥

अन्वयः—अन्यत् चेत् अपरस्य रसादेः अङ्गम् (भवति, उदाहरति) मत्कुचकाश्मीरलिप्तम् उरः शरैः भिन्नम्।

व्याख्या—द्वितीयमपराङ्गमुदाहरति—अपरस्येति। अन्यत् = अपरम्, चेत् = यदि अपरस्य = स्वेतरस्य रसादेः = वीरादेः अङ्गम् = उत्कर्षकम्, भवेत्तदा अपराङ्गगुणीभूतं व्यङ्ग्यं भवति। उदाहरति—समरभूमौ पतितं स्वकान्तं विलोक्य तदीयप्रेयस्या इयमुक्तिः। मत्कुचकाश्मीरलिप्तं = मम कुचयोः स्थितेन काश्मीरेण= कुङ्कुमेन लिप्तं = संभोगावस्थायां दृढालिङ्गनसंलग्नं उरः = नायकस्य वक्षस्थलम्, शरैः=बाणैः भिन्नं = विदीर्णम्। अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गमिति अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

यदि एक रसादि व्यङ्ग्य दूसरे किसी रसादिका अङ्ग हो जाय तो वहाँ अपराङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। जैसे कोई नायिका संग्राम में गिरा हुआ अपने नायक को देखकर कहती है

कि हाय, मेरे स्तनों पर लगे हुए केशर से लिप्त मेरे पति का वक्षःस्थल शत्रु के बाणों द्वारा विदीर्ण हो गया।

यहाँ संग्राम में मृत पति को देखकर नायिका का रोना करुण रस का द्योतक है, संभोगावस्था में दृढालिङ्गन के समय पति के वक्षःस्थल पर अपने स्तनों के केशर को देखकर संभोग शृंगार की स्मृति विप्रलम्भ शृंगार का द्योतन कराती है और यह करुण रस की परिपोषक है। इसलिए यहाँ शृगार करुण रस का अंग है। अतः यहाँ अपराङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ ॥ ४ ॥

तथा वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गं नौरर्थो वारिधेर्यथा।
संश्रित्य तरणिं धीरास्तरन्ति व्याधिवारिधीन् ॥ ५ ॥

अन्वयः—वाच्यस्य सिद्ध्यङ्गम् यथा नौः अर्थः वारिधेः (अङ्गम् उदाहरति) धीराः तरणिं संश्रित्य व्याधिवारिधीन् तरन्ति।

व्याख्या—तृतीयं वाच्यसिद्ध्यङ्गमुदाहरति—तथेति। वाच्यस्य = वाच्यार्थस्य सिद्ध्यङ्गं = सिद्धेरुपपादकं यद् व्यङ्ग्यं तदपि वाच्यसिद्ध्यङ्गनामकं गुणीभूत व्यङ्ग्यं मध्यमं काव्यं भवति। यथा=प्रकृतोदाहरणे नौः=नौकारूपो व्यङ्ग्योऽर्थः वाच्यस्य वारिधिसम्बन्धिरूपकस्य सिद्धेरुपपादकः अङ्गम्। तदेषोदाहरति—संश्रित्येति। धीराः = गभीराशयाः तरणिं = सूर्यम् संश्रित्य = प्राश्रित्य व्याधय एव वारिधयः व्याधिवारिधयः तान् व्याधिवारिधीन् = व्याधिजलनिधीन् तरन्ति = पारं गच्छन्ति। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' इति वचनात् सूर्याराधनेन व्याधिनाशो भवतीति भावः।

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा वाच्यार्थ की सिद्धि होती है वहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग होता है। जैसे गभीर पुरुष सूर्य रूपी नौका के द्वारा व्याधि रूप समुद्र को पार कर जाते हैं।

विशेष—श्लोक के पूर्वार्द्ध में जो परिभाषा दी गयी है वह अधूरी है। गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम परिभाषा के आधार पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों से लेना पड़ता है। इस गुणीभूत व्यङ्ग्य का नाम वाच्यसिद्ध्यङ्ग भी है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है, जिसमें सूर्य का वर्णन आता है। अतः एकमात्र वाच्यार्थ सूर्य है, लेकिन वारिधि को पार करने के लिए आवश्यक नौका अर्थ भी इस तरह निकल जाता है जो व्यङ्ग्यार्थ है। इस प्रकार वाच्यार्थ वारिधितरण की सिद्धि में व्यङ्ग्यार्थ योग दान करता है। अतः वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है। सूर्य की स्तुति या सूर्य किरण सेवन से व्याधि नष्ट हो जाती है। पुराणों में कहा गया है कि आरोग्य की इच्छा सूर्य से करनी चाहिए—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' आयुर्वेद शास्त्र में भी सूर्य का व्याधिनाशक गुण मिलता है ॥ ५ ॥

ह्रस्फुटं स्वनयोरत्र कोकसादृश्यवन्मतम्।
कुङ्कुमाक्तं स्तनद्वन्द्वं मानसं मम गाहते ॥ ६ ॥

अन्वयः—अत्र स्तनयोः कोकसादृश्यवत् अस्फुटं मतम् । कुङ्कुमाक्तं, स्तनद्वन्द्वं, मम मानसं गाहते ।

व्याख्या—चतुर्थमस्फुटव्यङ्ग्यं ब्रूते—अस्फुटमिति । सहृदयैरपि विलम्ववेद्यत्वमस्फुटत्वम् । अत्र कुंकुमाक्तमित्युदाहरणे स्तनयोः मिथः सादृश्यं कोकसादृश्यवत्=चक्रवाकमिथुनवत् अस्फुटं=गुणीभूतव्यङ्ग्यं मतम् = इष्टम् । कस्यश्चिन्नायकस्योक्तिरियम्—कुङ्कुमाक्तं = केशररक्तं स्तनद्वन्द्वं = कामिनीकुचकलशद्वयं मम = मे मानसं = चित्तं गाहते = प्रविशति । अत्र कुङ्कुमाक्तत्वेन स्तनद्वन्द्वयोः कोक सादृश्यं व्यङ्ग्यं तच्च विलम्बवेद्यमिति अस्फुटं गुणीभूतव्यङ्ग्यं भवतीति भावः ।

काव्यमर्मज्ञ मनुष्यों को भी विलम्ब से व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है, तो अस्फुट व्यङ्ग्य होता है । 'कुङ्कुमाक्तं स्तनद्वन्द्वम्' इसका उदाहरण है—केशर से रंजित कामिनी के दोनों स्तन मुझे याद आते हैं । यहाँ स्तन में कोकसादृश्य की प्रतीति एकमात्र कुंकुमाक्त पद से होती है और यह प्रतीति रसिकों को विलम्ब से होती है । अतः इस तरह के व्यङ्ग्य को अस्फुट व्यङ्ग्य कहते हैं ॥ ६ ॥

सन्दिग्धं यदि सन्देहो दैर्घ्याद्युत्पलयोरिव ।
संप्राप्ते नयने तस्याः श्रवणोत्तंसभूमिकाम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यदि दैर्घ्याद्युत्पलयोः इव सन्देहः (तदा) सन्दिग्धम् (भवति, उदाहरणं च) तस्याः नयने श्रवणोत्तंसभूमिकां संप्राप्ते ।

व्याख्या—पञ्चमं सन्दिग्धप्राधान्यं व्याचष्टे—सन्दिग्धमिति । यदि = चेत् वक्ष्यमाणोदाहरणे दैर्घ्यं = दीर्घता आदि = आद्यं यस्य तत् दैर्घ्यादि दैर्घ्यादिविशालता च उत्पलं = कमलसाम्यं चेति दैर्घ्यादिविशालते तयोरिव सन्देहो भवेत्तदा सन्दिग्धं = सन्दिग्धप्राधान्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यं भवति । उदाहरति—संप्राप्ते इति । तस्याः = पूर्वानुभूताया मम नायिकायाः श्रवणोत्तंसभूमिकां श्रवणयोः = कर्णयोः अवतंसस्य = कर्णभूषणस्य भूमिमेव भूमिकां = स्थानं संप्राप्ते = जाते तस्या नेत्रे कर्णपर्यन्तं दीर्घे अतिविशाले च आस्तामित्यर्थः ।

अत्र कर्णान्तदीर्घे नयने इति वाच्योऽर्थः, कर्णावतंसीभूतकमलसदृशे नेत्रे इति व्यङ्ग्योऽर्थः । अत्रानयोर्मध्ये कस्य प्राधान्यमिति सन्देहः । सन्देहप्राधान्यादत्र सन्देहप्राधान्याख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

विशालता और कमलसाम्य की तरह वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता में सन्देह होने पर सन्दिग्ध प्राधान्य व्यङ्ग्य होता है । 'संप्राप्ते नयने तस्याः' यह इसका उदाहरण है । उस कान्ता के नेत्रों ने कर्णभूषण के स्थान को प्राप्त कर लिया । यहाँ उसके नेत्र कानों तक लम्बे हैं । यह वाच्यार्थ है । कर्णभूषणभूत कमल के सदृश उसके नेत्र हैं । यह व्यङ्ग्य

अर्थ है। इन दोनों में कौन सा अर्थ प्रधान है यह सन्देह होता है। इसलिए यहाँ सन्देह प्राधान्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है ॥ ७ ॥

तुल्यप्राधान्यमिन्दुत्वमिव वाच्येन साम्यभृत्।
कान्ते त्वदाननरुचा म्लानिमेति सरोरुहम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—वाच्येन साम्यभृत् इन्दुत्वमिव तुल्यप्राधान्यं (भवति, उदाहरणं च) कान्ते! त्वदाननरुचा सरोरुहं म्लानिम् एति।

व्याख्या—षष्ठं तुल्यप्राधान्यं व्याचष्टे—तुल्येति। वाच्येन = वाच्यार्थेन-साम्यं = तुल्यतां बिभर्तीति साम्यभृत् = सदृशं इन्दुत्वमिव = चन्द्रवत् तुल्यप्राधान्यं-तुल्यं = समानं प्राधान्यं यस्मिंतत् तुल्यप्राधान्यम् = तुल्यप्रधानता भवति। उदाहरति—कान्ते इति। कान्ते = सुन्दरि! त्वदाननरुचा = तव मुखकान्त्या सरोरुहं = कमलं ग्लानिं = मालिन्यमेति = प्राप्नोति पराभवमवाप्नोतीति भावः। अत्र यथा मुखे चन्द्रसाम्यं व्यङ्ग्यं तथैव चन्द्रेऽपि कमलपराभवसामर्थ्यमिति चन्द्रत्वरूप-व्यङ्ग्यस्य कमलपराभवरूपवाच्यस्य च साम्येन चमत्कारकारित्वादुभयोरपि व्यङ्ग्यवाच्ययोः समानप्रधानतेति तुल्यप्राधान्यनामकं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों की प्रधानता समान होने पर तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य होता है। इसका उदाहरण 'कान्ते त्वदाननरुचिः' है—हे सुन्दरि! तेरे मुख की कान्ति से कमल की कान्ति पराभव को प्राप्त होती है। चन्द्रमा कमल का पराजय करता है। अतः मुख में चन्द्रसादृश्य की प्रतीति व्यङ्ग्यद्वारा होती है। यहाँ चन्द्रसादृश्य रूपी अर्थ व्यङ्ग्य है और कमलपराजय रूपी वाच्य अर्थ है। इन दोनों में चमत्कार के कारण समान प्रधानता है। अतः यहाँ तुल्य प्राधान्य है ॥ ८ ॥

असुन्दरं यदि व्यङ्ग्यं स्यात् वाच्यादमनोहरम्।
सरस्यामीलदम्भोजे चक्रः कान्तां विलोकते ॥ ९ ॥

अन्वयः—यदि व्यंग्यं वाच्यात् अमनोहरं स्यात् (तदा) असुन्दरम् (भवति उदाहरणं च) आमीलदम्भोजे सरसि चक्रः कान्तां विलोकते।

व्याख्या—सप्तममसुन्दरं व्याचष्टे—असुन्दरेति। यदि = चेत् व्यङ्ग्यं = व्यङ्ग्योऽर्थः वाच्यात् = वाच्यार्थापेक्षया अमनोहरं = असुन्दरम् अचमत्कारि स्यात् = भवेत्तदा असुन्दरं गुणीभूतं व्यङ्ग्यं भवति। उदाहरति—सरसीति। अमीलन्ति = सङ्कुचन्ति अम्भोजानि = जलजानि यस्मिस्तत्तस्मिन् आमीलदम्भोजे सरसि = तडागे चक्रः = चक्रवाकः कान्तां = चक्रवाकीं, पश्यति, आवां विमोक्ष्याम इति दीन-दृष्ट्या विलोकयतीति भावः।

अत्र वियोगश्चक्रवाकयोर्भावीति व्यङ्ग्यम्। दीननेत्रेण कान्ताया विलोकनं च वाच्यम्। अनयोर्मध्ये वाच्यमेव चमत्कारीति व्यङ्ग्यस्यारमणीयता असुन्दरं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ में रमणीयता के कम होने पर असुन्दर व्यङ्ग्य होता है। इसका उदाहरण है 'सरस्यमीलदम्भोज'—तालाब में थोड़ा मुरझा रहे कमलों को देखकर चक्रवाक अपनी प्रिया चक्रवाकी को दीन दृष्टि से देखता है कि अब हम लोगों का वियोग होने वाला है। यहाँ चक्रवाक का कमलों के कुछ मुरझाने से रात निकट है। अतः अवश्यंभावी वियोग व्यङ्ग्य है और दीन दृष्टि से चक्रवाकी की ओर देखना वाच्य का अर्थ सुन्दर है अतः असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य है॥ ९॥

काकुस्थं प्रणयोऽम्भोधिरद्य माद्यतु रावणः।
इत्यष्टधा गुणीभूतव्यंग्यमङ्गीकृतं बुधैः॥ १०॥

अन्वयः—काकुस्थम् (नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम् उदाहरणं यथा) अम्भोधिः काकुस्थं प्रणतः अद्य रावणः माद्यतु।

व्याख्या—अष्टमं काक्वाक्षिप्तमुदाहरणमुखेन दर्शयति—काकुस्थमिति। काकुः= ध्वनेः विकारः तयाऽऽक्षिप्तं=झटिति प्रकाशितम्, मया काक्वा विना वाक्यार्थ एव नात्मानं लभते तया प्रकाश्यमिति यावत्। येन लङ्कायां गमनमतिदुष्करं सोऽम्भोधिः=समुद्रः काकुस्थं=काकौ तिष्ठतीति काकुस्थं=काकुनिष्ठं श्रीरामं प्रणतः= नतः, रावणः=दशाननः अद्य=साम्प्रतम्, माद्यतु=मदयुक्तो भवतु।

अत्र समुद्रसेतुद्वारा रामे लङ्कायां प्राप्ते रावणगतमद इति व्यङ्ग्यम्। यद्वा अम्भोधिः=क्षीरसागरः काकुत्स्थं श्रीरामं प्रणतः=नतः। रावणोऽद्य माद्यतु= गतप्रायो मद इति व्यङ्ग्यं काक्वाक्षिप्तम्। अनेन व्यङ्ग्याक्षेपेण विना वाक्यार्थबोधः साकाङ्क्षः, तेनात्र काक्वाक्षिप्ताख्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यम्। इतीत्थं बुधैः= कविभिः गुणीभूतव्यङ्ग्यमष्टधाऽङ्गीकृतं=स्वीकृतम्। यथा (१) अगूढम्, (२) अपराङ्गम्, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्गम्, (४) अस्फुटव्यङ्ग्यम्, (५) सन्दिग्धप्राधान्यम्, (६) तुल्यप्राधान्यम्, (७) असुन्दरं, (८) काक्वाक्षिप्तमिति। एवं मध्यमकाव्यभेदा निरूपिताः।

किसी प्रकार विशेष से बोलने पर काकु होता है। इस काकु के बिना जहाँ वाच्य अर्थ की समाप्ति न हो वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य होता है। जैसे—जिस समुद्र की ओट (आवरण) के कारण लङ्का में प्रवेश करना कठिन था, वही समुद्र आज रामचन्द्र जी की शरण में आ गया। अब रावण भले ही गर्व करे, उस गर्व से कोई हानि नहीं। रामजी लंका में जाकर उसके गर्व का नाश कर देंगे ही। यहाँ अब रावण का गर्व प्रायः नष्ट ही हो चुका है। यह

व्यङ्ग्य काकु द्वारा प्रतीत होता है। इसके बिना वाक्य का वाच्यार्थ पूर्णतया प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार विद्वानों ने (१) अगूढ, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्ध प्राधान्य, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) असुन्दर और (८) काक्वाक्षिप्त ये गुणीभूत व्यङ्ग्य के आठ भेद माने गये हैं॥ १०॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति वसुसंख्यः सुखयतु॥ ११॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारे गुणीभूतव्यङ्ग्य-निरूपणो नामाष्टमो मयूखः।

व्याख्या—अथाष्टममयूखसमाप्तिं प्रदर्शयति—महादेव इति। महादेवः सत्रेति प्रथममयूखस्य षोडशः श्लोक एव पादत्रये पूर्ववदस्ति, किन्तु चतुर्थे परिवर्तनं जातमस्ति। तद्यथा—'चिरं चन्द्रालोके महति वसुसंख्यः सुखयतु।' तथा च महति चन्द्रालोके वसुसंख्यः = अष्टसंख्याकः चिरं = चिरकालम्। सुखयतु = आनन्दयतु। इत्येतावानेव विशेषः। वसूनामष्टविधत्वं पुराणादौ प्रसिद्धम्।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यविचारनामके-
ऽष्टमे मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता।

इस अष्टम मयूख के ११वें श्लोक में प्रथम के तीन पाद पहले के मयूखों के अन्त में पठित १६ वें श्लोक के समान ही हैं किन्तु केवल चतुर्थ पाद में कुछ परिवर्तन है। जैसे 'चिरं चन्द्रालोके महति वसुसंख्यः सुखयतु' जिसका तात्पर्य है इस विशाल चन्द्रालोक का आठवाँ मयूख संसार को आनन्द प्रदान करे॥ ११॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के अष्टम मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा
की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधानामक व्याख्या समाप्त।

नवमो मयूखः

मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वाऽर्वाची च रूढितः ।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्ती लक्षणा मता ॥ १ ॥

अन्वयः—मुख्यार्थस्य, अविवक्षायां संबद्धम् (अर्थं) वदन्ती (वाक्) लक्षणा मता (सैव पुनः) रूढितः पूर्वा प्रयोजनाच्च अर्वाची (मता) ।

व्याख्या—शब्दस्य वृत्तित्रयान्यतमां व्यञ्जनावृत्ति निरूप्येदानीं लक्षणावृत्ति निरूपयति—मुख्यार्थस्येति । मुख्यः = प्रधानः, प्रमेयश्चासौ अर्थश्चेति मुख्यार्थः तस्य मुख्यार्थस्य = अविधानवृत्त्या बोधितस्यार्थस्य अविवक्षायां = तात्पर्यानुपपत्तौ, प्रतिपादनानिच्छायामिति यावत्, सम्बद्धं = मुख्यार्थसम्बद्धमर्थं वदन्ती = प्रतिपादयन्ती वाक् लक्षणा = लक्षणावृत्तिः, मता = अभीष्टा, सैव पुनर्लक्षणावृत्तिः रूढितः = लोकप्रसिद्धव्यवहारात् पूर्वा = निरूढलक्षणा, प्रयोजनात् = वक्तुस्तात्पर्यानुसन्धानहेतुकात् अर्वाची = अर्वाचीना प्रयोजनलक्षणा चेति भेदात् द्विधा मता । तथा च मुख्यार्थबाधमुख्यार्थसम्बन्धरूपिप्रयोजनान्यतरहेतुकत्वे सति मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नार्थबोधजनको व्यापारो लक्षणेति लक्षणं सम्पन्नम् । तत्र 'कलिङ्गः साहसिकः' इति निरूढलक्षणाया उदाहरणम् । 'गङ्गायां घोषः' इति प्रयोजनवत्या लक्षणाया उदाहरणम् ।

जहाँ वक्ता को मुख्य (अभिधेय) अर्थ अभीष्ट न हो और मुख्य अर्थ का अन्वय बाधित हो, वहाँ मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा वृत्ति मानी गयी है । इस तरह का अर्थ (लक्ष्यार्थ) जहाँ लोक प्रसिद्धि के कारण उपस्थित होता हो वहाँ पूर्वा (निरूढ लक्षण) और जहाँ किसी प्रयोजन विशेष के कारण उपस्थित होता हो वहाँ अर्वाचीना प्रयोजनवती लक्षणा होती है । इनका उदाहरण क्रमशः 'कलिङ्गः साहसिकः' और 'गङ्गायां घोषः' है । यहाँ पूर्वोदाहरण में वक्ताको "कलिंग देशवासी पुरुष साहसी हैं" अर्थ अभीष्ट है, मुख्य अर्थ केवल कलिंगदेश अभीष्ट नहीं । इसलिए यहाँ लक्षणा वृत्तिके द्वारा मुख्यार्थ कलिंग देश से सम्बन्ध रखने वाले कलिंग देशवासी पुरुष का बोध करानेवाली लक्षणा वृत्ति है । इस तरह के प्रयोग करने की प्रायः रूढि है । अतः यह निरूढ लक्षणा कही जाती है ।

दूसरे उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' में गंगा-जल-प्रवाह में घोष (झोपड़ी) यह मुख्य अर्थ है, किन्तु गंगाप्रवाह में झोपड़ी हो नहीं सकती । इसलिए यह मुख्यार्थ बाधित है । अतः मुख्यार्थ गंगा से सम्बन्ध रखने वाला तट रूप दूसरा अर्थ लक्षणा वृत्ति से उपस्थित होता है । यहाँ झोपड़ी एकान्त, शान्त तथा पवित्र स्थान में है, इस प्रयोजन को दिखाना वक्ता को अभीष्ट है । इसलिए यह अर्वाचीना प्रयोजनवती लक्षणा हुई ॥ १ ॥

लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्धसाध्यसाध्याङ्गभेदतः॥ २॥

अन्वयः—लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा, पुनः सा लक्षणा सिद्ध-साध्य-साध्याङ्गभेदतः त्रिधा (भवति)।

व्याख्या—इत्थं रूढिप्रयोजनभेदादस्या द्वैविध्यं प्रतिपाद्य पुनरन्यानपि भेदा-नाह—लक्षणीयेति। लक्षणीयं = लक्ष्यं यत् स्वं = वस्तु तस्य शब्दस्य = तद्वाचक-पदस्य मीलनं = कीर्तनम् · अमीलनम् = अकीर्तनं तयोर्मलनाऽमीलयोः समाहार इति मीलनामीलनं तस्मात् मीलनामीलनात् पूर्वोक्ता निरूढा प्रयोजनवती च लक्षणा द्विधा = द्विप्रकारा भवति, सा पुनः सिद्धसाध्यसाध्याङ्गभेदतः—सिद्धं = उद्देश्यं, साध्यं = विधेयं, साध्याङ्गं = विधेयान्वयीति भेदात् पुनः त्रिधा = त्रिप्रकारका तत्रोद्देशवाचकपदनिष्ठा सिद्धा, विधेयवाचकपदनिष्ठा साध्या, विधेयान्वयिवाचक-पदनिष्ठा च साध्याङ्गा।

जहाँ लक्ष्यार्थ वाचक पदका मीलन=अनुपादान हो और,लक्ष्यार्थ वाचक पदका अमीलन= उपादान हो इस तरह मीलन और अमीलन भेद से लक्षणा पुनः दो प्रकार की हुई। रूढि और प्रयोजन भेद से यह चार प्रकार की हो जाती है। पुनः यही सिद्ध, साध्य, साध्याङ्ग भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की होकर १२ प्रकार की यह लक्षणा हो जाती है।

इस श्लोक में पूर्वा अर्वाची में से प्रत्येक के २-२ भेद बताये गये हैं जिससे कुल ४ भेद हुए। इन ४ भेदों में से प्रत्येक के ३-३ भेद होने से कुल १२ भेद हो जाते हैं।

अर्थात् पहले लक्षणा निरूढा और प्रयोजनवती भेद से दो प्रकार की होती है। ये दोनों भेद उपादान और अनुपादान के कारण चार भेद वाले हो जाते हैं।

निरूढ लक्षण में लक्ष्यार्थ के बोधक शब्द का उपादान 'शुक्लो घटः' इस वाक्य में है और अनुपादान 'श्वेतो धावति' इस वाक्य में है। प्रयोजनवती लक्षणा में लक्षणीय शब्द का उपादान 'अग्निर्माणकः' इस वाक्य में और 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस वाक्य में है। इन चारों भेदों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और होते हैं। इस प्रकार चारों भेदों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से लक्षणा के १२ भेद हो जाते हैं। सिद्ध लक्षणा का उदाहरण 'भो पाषाण! उक्तं गृहाण' रे पत्थल! तू मेरे कथन को समझा है। साध्य लक्षण है 'कामिनीवचोऽमृतम्' कामिनी का वचन अमृत है। 'गङ्गायां घोपः' में साध्याङ्ग लक्षणा है॥ २॥

स्फुटास्फुटप्रभेदेन प्रयोजनमपि द्विधा।
विदुः स्फुटं तटस्थत्वादर्थगत्वाद् द्विधा बुधाः॥ ३॥

अन्वयः—स्फुटास्फुटप्रभेदेन प्रयोजनमपि द्विधा (भवति, पुनः स्फुटमपि) तटस्थत्वात् अर्थगतत्वात् (च) बुधाः द्विधाः विदुः।

व्याख्या—अथ प्रयोजनभेदेन लक्षणा भेदान् ब्रूते—स्फुटेति। स्फुटं = अगूढम्, अस्फुटं गूढं चेति स्फुटास्फुटे तयोः प्रभेदः तेन स्फुटास्फुटप्रभेदेन=अगूढगूढव्यङ्ग्य-भेदेन प्रयोजनमपि=लक्षणाप्रयोजनमपि द्विधा=द्विप्रकारकः। अगूढत्वम्=आपामर-जनवेद्यत्वम्। गूढत्वञ्च काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धि-विभवमात्रवेद्यत्वम्। तेनास्याः प्रयोजनवत्या अपि स्फुटव्यङ्ग्यतया अस्फुटव्यङ्ग्यतया च द्वौ भेदौ भवतः। तद् यथा 'अग्निर्माणवकः' इत्यत्राग्निसदृशातिशयतेजस्विताप्रतिपादनं प्रयोजनम्, एतच्चा-भिधेयवद् स्फुटम्। पटैकदेशे दग्धे 'पटो दग्धः' इति यद् प्रयुज्यते। तत्रावशिष्टपदे कर्मानर्हताप्रतिपादनं प्रयोजनम्, तच्चामात्रास्फुटम्। तत्र पुनः स्फुटमपि प्रयोजनं तटस्थत्वात्, अर्थगतत्वात् बुधाः = विद्वांसः द्विधा=द्विप्रकारकं विदुः = अभिदधुः। अगूढतया लक्षणा तटस्थप्रयोजना, अर्थगतप्रयोजना चेत्यर्थः। तत्र प्रयोजनस्य लक्ष्यलक्ष्यकेतरवृत्तितया प्रतीयमानत्वं तटस्थत्वम्। इदं च समासोक्तावुप-युज्यते। तद्यथा—

'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः।' इत्यत्र परनायिकासक्तनायक-प्रतीतिः प्रयोजनम्। एतदर्थमेव 'मुखं चुम्बति चन्द्रमा' इति लाक्षणिकपदप्रयोगः। अस्याग्रं स्पृशति इति लक्ष्यार्थः। अत्र परकलत्रासक्तिरूपं प्रयोजनं स्फटम्।

लक्षणा का प्रयोजन कहीं स्फुट और कहीं अस्फुट होने के कारण स्फुट प्रयोजन और अस्फुट प्रयोजन के भेद से यह प्रयोजनवती भी दो प्रकार की हुई। तटस्थत्व और अर्थगतत्व भेद से विद्वानों ने स्फुट प्रयोजन को दो प्रकार का माना है।

स्फुट प्रयोजन में व्यङ्ग्य स्पष्ट होता है, जिससे वह सामान्य व्यक्ति के द्वारा भी आसानी से जाना जा सकता है। अस्फुट प्रयोजन में व्यङ्ग्य गूढ होता है। अतः केवल काव्यवेत्ता ही उसे समझ सकते हैं। 'अग्निर्माणवकः' उदाहरण में बालक आग के समान तेजस्वी है। इस अर्थ की प्रतीति अभिधेयार्थ की भाँति तत्काल हो जाती है। अतः यहाँ स्फुट प्रयोजन है। 'पटोऽयं दग्धः' उदाहरण में कपड़े का एक हिस्सा जल गया है, अवशिष्ट भी कपड़े के खण्डित हो जाने से व्यर्थ है। इस अर्थ की प्रतीति काव्य मर्मज्ञों को ही होती है। अतः अस्फुट व्यङ्ग्य है। स्फुट प्रयोजन के २ भेदों में से पहला तटस्थ है। इसका उदाहरण समासोक्ति पाया जाता है। जैसे—'अयमैन्द्रीमुखं पश्य' 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' और पद गत का उदाहरण आगे आयेगा॥ ३॥

अस्फुटं चार्थनिष्ठत्वात्तटस्थत्वादपि द्विधा।
लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वादर्थसंस्थमपि द्विधा॥ ४॥

अन्वयः—अस्फुटम् अपि अर्थनिष्ठत्वात् तटस्थत्वात् च द्विधा (भवति) अर्थ-संस्थमपि लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वाद् द्विधा (भवति)।

व्याख्या—अस्फुटव्यङ्ग्याया भेदद्वयमाह—अस्फुटमिति। अस्फुटं=निगूढं प्रयोजनम्, अपि अर्थनिष्ठत्वात्=अर्थगतप्रयोजकत्वात्, तटस्थत्वात् च द्विधा=द्विप्रकारकं भवति, अर्थसंस्थमपि प्रयोजनं लक्ष्यं=लक्ष्यार्थः च लक्षकं=लक्षकपदार्थं च लक्ष्यलक्षके तयोः निष्ठं=स्थितं तस्य भावः तत्त्वं तस्मात् लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वात्=लक्ष्यनिष्ठत्वम्, लक्षकनिष्ठत्वाच्च द्विधा=द्विप्रकारकं भवति। प्रयोजनं चास्य रूपके वरीवर्ति।

इसी तरह अस्फुट प्रयोजन भी तटस्थ प्रयोजन और अर्थगत प्रयोजन भेद से दो प्रकार का हुआ करता है। अर्थगत प्रयोजन भी लक्ष्यार्थनिष्ठ और लक्षकपदार्थनिष्ठ होने से दो प्रकार का है॥ ४॥

लक्षकस्थं स्फुटं यत्र सा विचक्षणलक्षणा।
अस्फुटत्वं तटस्थत्वं लक्ष्यस्थत्वममुष्य च॥ ५॥

अन्वयः—यत्र लक्षकस्थं स्फुटं (भवति) सा विचक्षणलक्षणा (व्यपदिश्यते) अमुष्य, अस्फुटत्वम् तटस्थत्वम् लक्ष्यस्थत्वं च (इति भेदत्रयं भवति)।

व्याख्या—केचन अस्फुटप्रयोजनस्यैकमेव भेदं मन्यते तन्मते पूर्वोक्तमेव लक्षणायाश्चातुर्विध्यं ब्रूते—लक्षकस्थमिति। यत्र=यस्यां लक्षणायां लक्षकस्थं प्रयोजनं स्फुटं=अगूढं भवति सैवेका लक्षणा, सा च विचक्षणलक्षणेति नाम्ना व्यपदिश्यते। अस्या मुखं सर्वसौन्दर्यातिशायीति मुखनिष्ठपरमोत्कर्षप्रीतये 'इन्दुर्मुखम्' इत्यादिवाक्येषु मुखे लाक्षणिकमिन्दुपदमेव प्रयुज्यते इति लोकव्यवहारः। ईदृशोऽयं व्यवहारः प्रायो विचक्षणा एव विदधतीति एतस्या विचक्षणलक्षणेत्यभिधा। अमुष्य=अस्य प्रयोजनस्य अस्फुटत्वं तटस्थत्वं चेति भेदत्रयं भवति। इदमत्र तात्पर्यम्—अस्फुटप्रयोजना एकैव न तस्या भेदं यत् केषाञ्चिन्मतम्, तन्मतेऽनन्तरोदीरितं भेदत्रयं गृहीत्वाऽस्या भेदचतुष्टयवत्त्वं संपन्नं भवति।

किसी-किसी के मत में अस्फुट प्रयोजना एक ही प्रकार की मानी गयी है। जहाँ लक्षक पदार्थ में होने वाली लक्षणा स्फुट हो, वहाँ विचक्षण लक्षणा हुआ करती है। जहाँ प्रयोजन अस्फुट हो, तटस्थ हो और लक्ष्यस्थ हो वहाँ लक्षण लक्षणा के साथ मिला देने पर प्रयोजनवती लक्षणा चार प्रकार की होती है॥ ५॥

अन्यास्तिस्र इति व्यक्ता शक्तितः सा चतुर्विधा।
इन्दुरेवैष तद्वक्त्रमुत्कर्षो लक्ष्यते मुखे॥ ६॥

अन्वयः—अन्याः तिस्रः इति शक्तितः व्यक्ता सा चतुर्विधा भवति। एषः इन्दुरेव तस्याः वक्त्रं (इति वाक्ये कान्तायाः) मुखे उत्कर्षः लक्ष्यते।

व्याख्या—प्रयोजनवतीभेदानाह—अन्या इति। एका लक्षकस्थस्फुटप्रयोजना विचक्षणलक्षणा अन्याः पूर्वोक्तविचक्षणलक्षणा व्यतिरिक्ता तिस्र इति हेतोः शक्तितः =अभिधातो व्यक्ता=भिन्ना सा लक्षणा चतुर्विधा भवति। व्यञ्जनामन्तरेण प्रयोजनप्रतीतेरसम्भवात् तत्प्रतिपत्त्यर्थं लाक्षणिकस्यैव पदस्य प्रयोगः साधीयान् न वाचकस्येतीयं लक्षणा अभिधातो भिन्ना एवेति भावः।

लक्ष्यलक्षकस्थस्फुटप्रयोजनामुदाहरति—इन्दुरिति। एषः=दृश्यमानः इन्दुः एव=चन्द्र एव तस्याः=कान्तायाः वक्त्रम्=आननम्, इति वाक्ये कान्तायाः मुखे उत्कर्षो लक्ष्यते=प्रतीयते। अयं भावः 'तद् वक्त्रमिन्दुरेव' इत्यत्र वक्त्रपदेन वक्त्रतादात्म्यापन्न इन्दुर्लक्ष्यते इति वक्त्रपदमिन्दुलक्षकम्, इन्दुश्च लक्ष्यम्, उत्कृष्टताप्रतीतिश्च स्फुटं प्रयोजनम्। सा चेयमुत्कृष्टता लक्षकपदार्थमुखनिष्ठैव प्रतीयते इत्युदाहरणसंगतिः। एवमेव अत्रैव वाक्ये इन्दुपदेन इन्दुतादात्म्यापन्नं वक्त्रं लक्ष्यते इतीन्दुपदं वक्त्रलक्षकम्, वक्त्रं च लक्ष्यम्, उत्कृष्टताप्रतीतिश्च स्फुटं प्रयोजनम्। सा चोत्कृष्टता लक्ष्यपदार्थवक्त्रनिष्ठैव प्रतीयते इति लक्षकनिष्ठस्फुटप्रयोजनाया अप्यत्रोदाहरणम्।

लाक्षणिक पद के द्वारा ही प्रयोजन व्यक्त होता है, वाचक पद के द्वारा नहीं। इसलिए अभिधा शक्ति से भिन्न तीन प्रकार की यह लक्षणा लक्षकनिष्ठ स्फुट प्रयोजना विचक्षण लक्षणा के साथ मिला देने पर चार प्रकार की हुई। इनमें 'यह चन्द्रमा ही मुख है' यहाँ कान्ता के मुख में सौन्दर्योत्कर्ष की प्रतीति होती है। यहाँ इन्दु पद लक्षक है और मुख लक्ष्य है, लक्ष्य मुख में सौन्दर्य प्रतीति प्रयोजन है और स्फुट है। इसलिए यह लक्ष्यनिष्ठ स्फुटप्रयोजना का उदाहरण है। लक्षक में रहने वाले स्फुट प्रयोजना का उदाहरण 'उसका मुख ही चन्द्रमा है' वह वाक्य है। यहाँ चन्द्रमा लक्ष्य है, मुख लक्षक है, सौन्दर्यातिशय प्रतीति स्फुट प्रयोजन है। इसलिए यह लक्षकनिष्ठ स्फुट प्रयोजन का उदाहरण है। पहले उदाहरण में लक्षक इन्दु तथा लक्षण वक्त्र है और दूसरे उदाहरण में लक्षक वक्त्र और लक्ष्य इन्दु है। इस प्रकार अभिधा वृत्ति से लक्षणा का अन्तर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट है ॥ ६ ॥

प्रदीपं वर्धयेत्तत्र तटस्थं मङ्गलोदयः।
पटोऽयं दुग्ध इत्यादौ स्फुटं नास्ति प्रयोजनम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—प्रदीपं वर्द्धयेत् तत्र मङ्गलोदयः तटस्थं (नाम प्रयोजनम्) अयं पटः दग्धः इत्यादौ प्रयोजनं स्फुटं नास्ति।

व्याख्या—तटस्थनिष्ठां स्फुटास्फुटप्रयोजनामुदाहरति—प्रदीपमिति। दीपनिर्वापणेऽभिलषितेऽमङ्गलभिया 'दीपं निर्वापय' इत्यनुक्त्वा 'दीपं वर्द्धय' इत्येव प्रयोगो दृश्यते प्राचीनानां शिष्टपुरुषाणाम्। एतादृशप्रयोगश्च वृद्ध्यर्थक-वृधु-धातोः

व्यतिरेकसम्बन्धेन नाशे लक्षणया बोध्यः। साक्षात् नाशार्थकधातुप्रयोगे क्रियमाणे मङ्गलपरिहाररूपप्रयोजनानुपपत्तिः। तथा च 'दीपं वर्द्धय' इत्यत्र दीपनिर्वापणं लक्ष्यम्, अमङ्गलपरिहारपूर्वकं मङ्गलस्योदये प्रयोजनम्, तस्य च वक्तृश्रोतृनिष्ठत्वात्तटस्थत्वम्। दीपनिर्वापणकामनया 'दीपं वर्द्धय' इत्युच्यमाने तात्पर्यानुपपत्तौ लक्षणा। इदं च प्रकरणादि-वक्त्रादिसहकारे स्फुटं तदभावे चास्फुटमिति स्फुटास्फुटयोरिदमुदाहरणम्।

लक्षकनिष्ठास्फुटप्रयोजनवत्या उदाहरणमाह—पट इति। पटैकदेशे दग्धे 'पटोऽयं दग्धः' इति प्रयोगे कर्मानर्हताप्रतीतिः प्रयोजनं तच्च स्फुटं नास्ति।

अब तटस्थ स्फुट और अस्फुट प्रयोजन का उदाहरण देते हैं। जहाँ दीपक बुझाना हो वहाँ 'प्रदीपं वर्द्धय' दीपक को बढ़ाओ ऐसा प्रयोग शिष्ट समाज में किया जाता है और लक्षणावृत्ति से दीपक का बुझाया जाना जाता है। यहाँ प्रयोजन मङ्गलोदय=अमंगल का परिहार प्रयोजन है। यहाँ प्रकरणादि तथा वक्ता आदि का ज्ञान होने पर प्रयोजन स्फुट रहता है। इसलिए यह तटस्थनिष्ठ स्फुटास्फुट प्रयोजन का उदाहरण है।

लक्षकनिष्ठ अस्फुट प्रयोजन का उदाहरण है, 'पटोऽयं दग्धः' किसी कपड़े के एक प्रान्त के जल जाने पर यह वस्त्र जल गया ऐसा प्रयोग होता है। यहाँ जले हुए कपड़े का शास्त्रीय कर्म को योग्य का न होना इस प्रयोजन की प्रतीति स्फुट नहीं है। अर्थात् आपामर को यह प्रतीति नहीं होती। इसलिए अस्फुट है। यहाँ दग्ध पर लक्षक है। अतः लक्षकनिष्ठास्फुट प्रयोजन का यह उदाहरण है।

वृद्धि वाचक वृधु धातु का णिजन्त प्रक्रिया में वर्द्धयेत् यह रूप बनाता है। छेदनार्थक वर्धधातु से नहीं। इसे छेदनार्थक वर्धधातु का रूप मानने पर मुख्यार्थ बाध न होने से लक्षणा नहीं होगी, वृद्धिवाचक धातु का रूप मानने पर मुख्यार्थ बाध उपस्थित होता है और दीपनिर्वाण का ज्ञान लक्षणा के द्वारा होता है॥ ७॥

अमृतं सूक्तमित्यादौ लक्ष्यस्थमतिहृद्यता।
आभिमुख्यात् सन्निधानात्तथाऽऽकारप्रतीतितः॥ ८॥

अन्वयः—अमृतम् सूक्तम् इत्यादौ अतिहृद्यता लक्ष्यम् आभिमुख्यात् सान्निध्यात् आकारप्रतीतितः (लक्षणा भवति)।

व्याख्या—लक्ष्यस्यास्फुटप्रोजनवत्या उदाहरणमाह—अमृतमिति। अमृतं सूक्तमिति वाक्ये सारसं सुभाषितं काव्यं कथ्यते अतिहृद्यता प्रयोजनम्। तच्च लक्ष्यस्थम्। तथा चात्र लक्षकममृतं पदम्, लक्ष्यं रसवत्सुभाषितं काव्यम्, अतिरमणीयताप्रतीतिः प्रयोजनम्, तच्च लक्ष्ये काव्ये एवेति संगतिः।

इत्थं स्फुटप्रयोजनस्य लक्षक-लक्ष्य-तटस्थनिष्ठानाम् अस्फुटप्रयोजनस्य तटस्थ-लक्ष्य-लक्षकनिष्ठानाञ्च उदाहरणानि प्रदर्श्य सम्प्रति लक्षणाबीजसम्बन्धान् दर्शयति—

आभिमुख्याविति। अभिमुखस्य = सम्मुखस्य भावः आभिमुख्यं = सम्मुखावस्थानत्वं तस्मात् तथोक्तात् एतन्नामकसम्बधात् लक्षणा भवति। यथाहि 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' इत्यत्राङ्गुलिसंमुखस्थो यो देशः, तत्र करिशतं विद्यते इत्यर्थो लभ्यते। अत्र आभिमुख्यसम्बन्धात् अङ्गुल्यग्रपदेन अङ्गुलिसंमुखस्थो देशा लक्ष्यते, तस्याङ्गुलिसंमुखस्थत्वादित्याभिमुख्यसम्बन्धादङ्गुल्यग्रपदस्य तत्संमुखस्थदेशे विशेषलक्षणेति भावः।

सन्निधानं = सामीप्यं तस्मात् यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गातीरयोः समीपावस्थानात् सामीप्यसम्बन्धात् गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा। यत्र च वास्तवं सान्निध्यं नास्ति तत्राकारप्रतीतिः = सान्निध्याकारज्ञानतः लक्षणा भवति। यथा 'वृक्षाग्रे चन्द्रः' इत्यत्र यद्यपि चन्द्रस्य वृक्षाग्रसान्निध्यं वास्तविकं नास्ति, तथापि वृक्षस्यात्यन्तमोन्नत्यात् दूरतः तदग्रे एव चन्द्र इति भ्रमो जायते इति सान्निध्याकाररूपप्रतीतिसम्बन्धादत्र लक्षणा।

'अमृतं सूक्तम्' यहाँ लक्षणा द्वारा अमृत पद से सरस और सुभाषित काव्य का बोध होता है। काव्य की अत्यन्त रमणीयता का ज्ञान इसका प्रयोजन है। अमृत पद लक्षक है, सूक्त काव्य लक्ष्य है, रमणीयता रूप प्रयोजन की प्रतीति लक्ष्य काव्य में है। इसलिए लक्ष्यस्थ अस्फुट प्रयोजन का उदाहरण है।

अब लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों को दिखाते हैं। आभिमुख्य सम्बन्ध किसी वस्तु की संमुखस्थिति में हुआ करता है। जैसे, 'अंगुलि के आगे सौ हाथी हैं' यहाँ आगे=अग्रपद से सामने के प्रदेश का अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् अंगुलि के सामने जो देश है उसमें सौ हाथी हैं, यह अर्थ लक्षणा वृत्ति के द्वारा जाना जाता। है यहाँ अग्रपद का लक्ष्यार्थ शक्यार्थ है। आगे और सामने का देश। इसमें आभिमुख्य सम्बन्ध है। अतः लक्षणा हुई सन्निधान= सामीप्य सम्बन्ध, जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गंगा पद का शक्यार्थ प्रवाह है और लक्ष्यार्थ तीर है। प्रवाह में घोष बाधित है। इसलिए सामीप्य सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति के द्वारा गंगा पद से गंगातीर का बोध होने पर गंगा के तट पर घोष है। इस अर्थ की प्रतीति होती है।

जहाँ यथार्थ सान्निध्य नहीं है, वहाँ सन्निधान के सदृश प्रतीति होने पर सामीप्यता मानकर लक्षणा हो जाती है। जैसे 'वृक्ष के अग्रभाग (चोटी) पर चन्द्रमा है' यहाँ यद्यपि चन्द्रमा और वृक्ष का सामीप्य सम्बन्ध नहीं है तथापि दूर से देखने पर और वृक्ष बहुत ऊँचा रहने के कारण ऐसा मालूम पड़ता है कि वृक्ष के अग्रभाग पर ही चन्द्रमा है। यहाँ सामीप्य सम्बन्ध है और वृक्ष की अत्यधिक ऊँचाई लक्ष्यार्थ है। अतः यहाँ तथाकार प्रतीति लक्षणा होती है ॥ ८ ॥

कार्यकारणभावात् वा वाच्यवाचकभावतः।
इत्येवमादेः सम्बन्धात् किञ्चान्यस्माच्चतुष्टयात् ॥ ९ ॥

अन्वयः—कार्यकारणभावात् वाच्यवाचकभावतः इत्येवमादेः सम्बन्धात् सा (लक्षणा भवति) किञ्च अन्यस्मात् चतुष्टयात् (सम्बन्धादपि लक्षणा भवति)।

व्याख्या—अन्यानपि लक्षणाप्रयोजकसम्बन्धान् दर्शयति—कार्यकारणभावादिति। कार्यकारणभावसम्बन्धादपि लक्षणा भवति। यथा 'आयुर्वै घृतम्' इत्यत्र आयुष्करणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। घृतेतरमांसादिपदार्थेभ्यः आधिक्येन नियमेन चायुष्करत्वं प्रयोजनम्। अत्र घृतस्यायुर्जनकत्वात्तत्र करणत्वं, आयुषि च कार्यत्वम्।

वाच्यवाचकभावतः = वाच्यवाचकसम्बन्धात् अपि लक्षणा भवति। यथा द्विरेफपदे। केनचित् भ्रमरपदे उच्चारिते तदन्यः कश्चित् द्विरेफपदमुच्चारयति, इति वदति। अस्मिन् वाक्ये द्वौ रेफौ यस्मिंस्तत् इति योगवृत्त्या लक्ष्ये भ्रमरपदे वाच्यत्वसम्बन्धः। इमां नैयायिकाः लक्षितलक्षणां कथयन्ति।

ततश्च इत्येवमादेः सम्बन्धात् सा लक्षणा भवति। अत्रादिपदेन न्यायोक्ता अवशिष्टाः सम्बन्धा विज्ञेयाः। यथा इन्द्रार्थासु स्थूणासु अमी इन्द्राः इत्यत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः, राजकीये पुरुषे गच्छति राजाऽसौ गच्छति। अत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धः। हस्ताग्रमात्रेऽवयवे हस्तोऽयमित्यत्र अवयवावयविभावः सम्बन्धः। मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र बालेषु मञ्चत्वारोपे तात्स्थ्यसम्बन्धः। 'अयं राजा यमः' इत्यत्र राज्ञि यमत्वारोपे वृत्तसम्बन्धः। 'प्रस्थः सक्तुः' इत्यत्र सक्तौ प्रस्थत्वारोपे तन्मानकत्वसम्बन्धः। 'अयं कुलस्य राजा' इत्यत्र पुरुषे राजत्वारोपे कुलाधिपत्यसम्बन्धः। एवमन्येऽपि भेदाः स्वयमूहनीयाः।

किञ्च अन्यस्मात् = इतरस्मात् वक्ष्यमाणात् चतुर्णां समाहारः चतुष्टयं तस्मात् चतुष्टयात् सम्बन्धात् अपि लक्षणा भवति। ते च चत्वारः सम्बन्धा अग्रिमे श्लोके द्रष्टव्या।

लक्षणा के प्रयोजक और भी सम्बन्ध बतलाये जाते हैं। 'आयुर्घृतम्' यहाँ कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है, क्योंकि घृत सेवन से आयु की वृद्धि होती है। अतः आयु कार्य है और घृत उसका कारण है। द्विरेफ पद में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है। द्विरेफ पद से दो रेफ वाले भ्रमर की प्रतीति होती है। अतः भ्रमर का लक्षणा से बोध होता है इत्यादि सम्बन्धों के कारण लक्षणा होती है। यहाँ आदि पद से न्यायोक्त सम्बन्धों का भी ग्रहण करना चाहिए।

'मञ्चाः क्रोशन्ति' यहाँ बालकों में मञ्चत्वारोप तात्स्थ्य सम्बन्ध से होता है, 'अयं राजा यमः' यहाँ राजा में यम का आरोप तात्कर्म्य सम्बन्ध से होता है। 'अत्र कुलस्य राजा'

यहाँ कुलस्वामी में राजा का आरोप कुलाधिपत्य से होता है। इस प्रकार और भी अनेक सम्बन्ध होते हैं। ग्रन्थकार ने आगे निर्दिष्ट और चार सम्बन्धों से भी लक्षणा मानी है ॥९॥

साद‍ृश्यात् समवायात् सा वैपरीत्यात् क्रियान्वयात्।
सारोपाध्यवसानाख्ये गौणशुद्धे पृथक् पृथक् ॥ १० ॥

अन्वयः—साद‍ृश्यात् समवायात् वैपरीत्यात् क्रियान्वयात् सा (भवति) सारोपाध्यवसानाख्ये गौणशुद्धे पृथक् पृथक् (भवतः)।

व्याख्या—लक्षणाप्रयोजकान्यसम्बन्धचतुष्टयं ब्रूते—साद‍ृश्यादिति। साद‍ृश्यात्= गुणानां साद‍ृश्यसम्बन्धात् अपि लक्षणा भवति। यथा 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकपदेन सहान्वयमलभमानो गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसाद‍ृश्याद् वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्य जाड्याद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

समवायात्=समवायसम्बन्धात् अपि लक्षणा भवति। 'छत्रिणो यान्ति' अत्र समवायात् सम्बन्धात् लक्षणा। वैपरीत्यात्=विपरीतसम्बन्धादपि लक्षणा भवति। यथा अकुशले कुशलपदप्रयोगे वैपरीत्यसम्बन्धाल्लक्षणा एवं क्रियान्वयात्=तत्क्रिया-सम्बन्धादपीयं लक्षणा भवति। यथा 'युधिष्ठिरोऽयं राजा' इत्यत्र राज्ञि युधिष्ठिरत्वा-रोपः तत्क्रियाकारित्वात्। युधिष्ठिरवद्धर्मधुरन्धरो राजेति लक्ष्यार्थबोधः।

इत्थं लक्षणाप्रयोजकसम्बन्धान् प्रदर्श्य सांप्रतं प्रकारान्तरेण प्रयोजनवत्या भेदानाह—सारोपेति—आरोपश्च अध्यवसानं च आरोपाध्यवसाने ताभ्यां सहिते सारोपाध्यवसाने ते आख्ये ययोः ते सारोपाध्यवसानाख्ये=सारोपाध्यवसाने-त्यभिधेये गौणी च शुद्धा च गौणशुद्धे=एतद्घटके लक्षणे पृथक्-पृथक् भवतः।

इदं तात्पर्यम्—लक्षणा तावद् द्विविधा सारोपा, साध्यवसाना च द्विविधा-ऽप्येषा पुनः गौणशुद्धा चेति भेदतो द्विधा भूत्वा चतुर्धा जायते। साद‍ृश्यसम्बन्ध-घटिता गौणी, तदतिरिक्तसम्बन्धघटिता शुद्धेति भावः। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

'साद‍ृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ता सकला अपि।
साद‍ृश्यात्तु मता गौणी:………… ॥'

लक्षणा प्रयोजक अन्य चार सम्बन्ध हैं—(१) साद‍ृश्य, (२) समवाय, (३) वैपरीत्य और (४) क्रियान्वय।

(१) साद‍ृश्य सम्बन्ध—जहाँ गुणों की समानता होने पर लक्षणा होती है, वहाँ साद‍ृश्य सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे, 'गौर्वाहीकः' उदाहरण में वाहीक (हलवाहक) आदमी है, वह गौ (पशु) नहीं हो सकता, पर गौ में विद्यमान जडता—मन्दता आदि दुर्गुणों के साद‍ृश्य से दोनों का तादात्म्य दिखाकर लक्षणा की जाती है। यहाँ जडता की पराकाष्ठा प्रयोजन है।

(२) वैपरीत्य सम्बन्ध—समवाय (झुण्ड) को देखकर बहुलता के आधार पर सबका समावेश करने पर समवाय से लक्षणा मानी जाती है। जैसे, मेले-तमाशे में मनुष्यों की झुण्ड में कुछ छत्रधारी और कुछ विना छत्र के लोग जाते हैं, उन्हें देखकर 'छत्रिणो यान्ति' छत्रधारी जा रहे हैं, ऐसा प्रयोग किया जाता है। सभी छत्रधारी न होने पर भी उक्त प्रकार का प्रयोग बाधित होता है। इसलिए मनुष्यों की अधिकता में लक्षणा होकर छत्रधारी पुरुषों की अधिकता प्रतीत होती है।

(३) वैपरीत्य सम्बन्ध—उलटी बात कहने पर वैपरीत्य सम्बन्ध होता है। कुशल व्यक्ति के लिए 'कुशलोऽसि' प्रयोग जान-बूझकर करना, इस सम्बन्ध में की गयी लक्षणा का उदाहरण है। या अपकार करने वाले मनुष्य के सम्बन्ध में आपने तो बड़ा उपकार किया। उपकृतं बहु तत्र किमुच्यतां सुजनता प्रथिता भवतापरम्। ऐसा प्रयोग करने पर विपरीत सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा आपने बड़ा अपकार किया है, इस अर्थ की प्रतीति होती है।

(४) इसी प्रकार क्रियान्वय अर्थात् तत्क्रियाकारित्व सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है। जैसे 'युधिष्ठिरोऽयं राजा' यहाँ राजा युधिष्ठिर हैं। तत्क्रियाकारित्व सम्बन्ध से राजा में युधिष्ठिरत्व का आरोप करने से युधिष्ठिर के समान यह राजा परम धार्मिक है, इस लक्ष्यार्थ का बोध होता है।

सारोपा और साध्यवसाना के दो भेद गौणी और शुद्धा पृथक्-पृथक् होती हैं। इस प्रकार पहले लक्ष्य दो हुई। सारोपा और साध्यवसाना, पुनः उनके शुद्धा और गौणी दो-दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी और तदतिरिक्त सम्बन्ध से शुद्धा होती हैं॥ १०॥

गौणं सारोपमुद्दिष्टमिन्दुर्मुखमितीदृशम्।
गौणं साध्यवसानं स्यादिन्दुरेवेदमीदृशम्॥ ११॥

अन्वयः—इन्दुर्मुखम् इति ईदृशं (वाक्यम्) गौणं सारोपम् उद्दिष्टम्। इन्दुः एव इदम् ईदृशं (काव्यं) गौणं साध्यवसानं (स्यात्)।

व्याख्या—उदाहरणान्याह—गौणमिति। 'इन्दुर्मुखम्' इति = ईदृशं वाक्यं गौणं सारोपम् उपदिष्टं = निर्दिष्टम्। अत्रेन्दुपदेन इन्दुतादात्म्यापन्नमुखं लक्षितं भवति। इयं लक्षणा गुणयोगाद् गौणी। इन्दुः एव ईदृशं गौणं साध्यवसानं स्यात्। अत्र सादृश्यगुणयोगाद् गौणीलक्षणा। आरोप्यमाणेन इन्दुपदेन आरोपविषयस्य मुखपदस्य निगिरणान्मुखतादात्म्यप्रतीतेः साध्यवसानत्वम्। अत्र केवलमारोप्यमाणस्येन्दोरेवोपादानम्, सारोपाया तु आरोप्यविषयीभूतस्यापीति तयोर्भेदः।

'इन्दुर्मुखम्' यह वाक्य गौणी सारोपा का उदाहरण है। यहाँ गुणों के सादृश्य से लक्षणा हुई है। इसलिए यह गौणी है। और आरोप्यमाण इन्दु तथा आरोप विषय मुख इन दोनों का उपादान है। अतः सारोपा है।

गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है 'इन्दुरेवेदम्'। यहाँ भी आह्लाद जनकत्वादि गुण-सादृश्य सम्बन्ध है। इसलिए गौणी है। यहाँ आरोप का उपादान नहीं है, केवल आरोप्यमाण इन्दु का उपादान है। इसलिए गौणी साध्यवसाना है। इस प्रकार 'इन्दुर्मुखम्' चन्द्रमा मुख है, यह गौणसारोप कहा गया है। 'इन्दुरेवेदं मुखम्' चन्द्रमा ही यह तो है यह गौण साध्यवसान है ॥ ११ ॥

शुद्धं सारोपमुद्दिष्टमायुर्घृतमितीदृशम्।
शुद्धं साध्यवसानं स्यादायुरेवेदमीदृशम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—आयुः घृतम् इति, ईदृशं (वाक्यम्) शुद्धं सारोपम्, उद्दिष्टम्, आयुः एव इदम् ईदृशं (वाक्यम्) शुद्धं साध्यवसानम् (स्यात्)।

व्याख्या—सारोपामुदाहृत्येदानीं शुद्धामुदाहरति—शुद्धमिति। 'आयुर्घृतम्' इति ईदशं वाक्यं शुद्धं सारोपम् उद्दिष्टम् = कथितम्। अत्रायुः कारणं घृतं लक्षितं भवति कार्यकारणभावसम्बन्धः। अत्रारोप्यमाणमायुः लक्षकम्, आरोप्यविषयं घृतं लक्ष्यम् इति लक्ष्यलक्षकयोर्द्वयोरुपादानादियं सारोपा, आरोपेण सह वर्तते इति सारोपा, सादृश्येतरसम्बन्धात् शुद्धा। 'आयुरेवेदं घृतम्' इति ईदृशं वाक्यं शुद्धं साध्यवसानं स्यात्। कार्यकारणभावरूपसादृश्येतरसम्बन्धाद् आरोप्यस्वरूपेणैवा-रोपितविषयस्योक्तेः शुद्धा साध्यवसाना। अत्र केवलमारोप्यमाणपदस्यैवोपादानम्। सारोपायां तु आरोप्यमाणारोप्यविषयोरुभयोरप्युपादानम्।

'आयुर्घृतम्' यह उदाहरण शुद्धा सारोपा का है। यहाँ लक्ष्यार्थ घृत आयु को बढ़ाने-वाला है। कार्य-कारण भाव सम्बन्ध। सादृश्येतर सम्बन्ध होने के कारण यह शुद्धा लक्षणा है। लक्ष्य और लक्षक दोनों के उपादान से सारोपा है। इसलिए यह शुद्धा सारोपा हुई। 'आयुरेवेदम्' यह शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है। सादृश्य से भिन्न कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होने के कारण यह शुद्धा है और केवल आरोप्यमाण का ही उपादान है। इसलिए साध्यवसाना है ॥ १२ ॥

उपादानार्पणद्वारे द्वे चान्ये इति षड्विधा।
कुन्ता विशन्ति गङ्गायां घोषो निवसतीति च ॥ १३ ॥

अन्वयः—उपादानार्पणद्वारे द्वे अन्ये (लक्षणे भवतः) इति षड्विधा (लक्षणा भवति) कुन्ताः विशन्ति, गङ्गायां घोषः निवसति इति च (उदाहरणे)।

व्याख्या—शुद्धसारोप-शुद्धसाध्यवसानयोर्भेदद्वयमाह—उपादानेति। मुख्यार्थो गृह्यतेऽनेनेति उपादानम्, मुख्यार्थस्य ग्रहणं, अर्पणं मुख्यार्थस्य त्याग उपादानं च अर्पणं च उपादानार्पणे ते द्वारे = आदी ययोः ते उपादानार्पणद्वारे = उपादान-लक्षणा, अर्पणलक्षणा च द्वे = द्विसंख्याके अन्ये = अपरे लक्षणे भवतः। इति = एवं षड्विधा = षट्प्रकारा लक्षणा भवति।

क्रमेणोदाहरणान्याह—'कुन्ता विशन्ति' इत्यत्र कुन्तानामचेनतया तेषां प्रवेश-क्रियायामन्वयमलभमानानां तत्सिद्धये तद्वन्तः पुरुषा लक्ष्यन्ते इति कुन्तार्थ-रूपमुख्यार्थस्याप्युपादानादियमुपादानलक्षणा। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदार्थ-भगीरथप्रवाहतावच्छिन्न-जलप्रवाहरूपमुख्यार्थपरित्यागेन तीरार्थबोधनात् मुख्यार्था-र्पणादियमर्पणलक्षणा।

उपादान लक्षणा और अर्पण लक्षणा ये दो लक्षणा और हैं। इनके उदाहरण हैं—(१) 'कुन्ता विशन्ति'—भाले प्रवेश करते हैं। अचेतन भालों का प्रवेश सर्वथा असंभव है। इसलिए कुन्तधारी पुरुषों में उनकी लक्षणा करते हैं। यहाँ मुख्यार्थ कुन्त का उपादान है। अतः यह उपादान लक्षणा हुई। (२) अर्पण लक्षणा का उदाहरण है 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गंगा में घोष बाधित है। इसलिए गंगापद ने अपने प्रवाहरूप मुख्य अर्थ का त्यागकर तीर रूप लक्ष्य अर्थ को उपस्थित किया। अतः यह अर्पण लक्षणा हुई।

इसी प्रकार (१) 'कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति' यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का और (२) 'कुन्ताः विशन्ति' यह शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा का उदाहरण है। (३) 'आयुर्घृतम्' यह शुद्धा सारोपा का अर्पण लक्षणा (४) और 'आयुरेवेदम्' यह शुद्धा साध्यवसाना अर्पण लक्षणा का उदाहरण है।

इस प्रकार कुल मिलाकर इस शुद्धा लक्षणा के ६ भेद हुए (२+४=६) ये ६ भेद काव्य प्रकाश के अनुसार हैं। लेखक ने अपना मत मयूख के आरम्भ में ही व्यक्त कर दिया है। शास्त्रान्तर में उपादान लक्षणा को जहत्स्वार्था तथा अर्पण लक्षणा को अजहत्स्वार्था और लक्षण-लक्षणा कहते हैं॥ १३॥

लक्ष्यलक्षकवैशिष्ट्याद् द्विविधा लक्षणा पुनः।
सरसं काव्यममृतं विद्या स्थिरतरं धनम्॥ १४॥

अन्वयः—लक्ष्यलक्षकवैशिष्ट्यात् पुनः द्विविधा सरसं, काव्यम् अमृतम् विद्या स्थिरतरं धनम्।

व्याख्या—लक्ष्यं च लक्षणं चेति लक्ष्यलक्षके तयोः वैशिष्ट्यं = विशेषणवत्त्वं लक्ष्यलक्षकवैशिष्ट्यं तस्मात् लक्ष्यवैशिष्ट्यात् लक्षकवैशिष्ट्याच्च इयं लक्षणा पुनर्द्विधा तथा च लक्ष्यविशेषणविशिष्टा सिद्धा, लक्षकविशेषणविशिष्टा साध्येति भेदादियं लक्षणा पुनर्द्विविधेति भावः। क्रमेणोदाहरणं यथा—अमृतं सरसं काव्य-मस्ति, इति वाक्यं विशिष्टलक्ष्योदाहरणम्। अत्रामृतकार्यकारित्वेन सम्बन्धेन अमृत-पदेन सरसविशेषणविशिष्टे काव्ये सुखजनकत्वं लक्ष्यते इतीदं वाक्यं विशिष्ट-लक्ष्योदाहरणम्। 'विद्या स्थिरतरं धनम्' अत्र स्थिरतरं धनमिति पदद्वयेन विशिष्ट-धनकारित्वसम्बधेन सुखजनकत्वं विद्यायामितीदं विशिष्टलक्षकपदोदाहरणम्।

अत्र धनमिति पदं लक्षकं तच्च विशेषणान्वितम् । तथा च प्रथमोदाहरणे विशिष्ट-काव्योद्देश्येनामृतत्वं विधेयम् । द्वितीयोदाहरणे च विद्योद्देश्येन विशिष्टधनत्वं विधेयम् । एवं च विशेषणविशिष्टोद्देश्यवाचकपदनिष्ठतयाऽत्र विशेषणवती सिद्धा, विशेषणविशिष्टविधेयवाचकपदनिष्ठतया च विशेषणवती साध्येति भावः ।

पहले कही हुई सिद्धा और साध्या लक्षणा लक्ष्य और लक्षक पदों के वैशिष्ट्य से (उक्त पदों के विशेषण लगा देने से) विशेषणवती सिद्धा और विशेषणवती साध्या ये दो भेद और होते हैं । जैसे 'अमृतं सरसं काव्यम्' यहाँ लक्ष्य पदार्थ काव्य में सरस विशेषण लगा देने से सुखजनकता की प्रतीति होती है । जिस प्रकार अमृत सुखजनक है वैसे ही काव्य भी सुख-जनक है । इस तरह तत्कार्यकारित्व सम्बन्ध है । इस उदाहरण में काव्य उद्देश्य है, अमृत विधेय है । उद्देश्य में विशेषण लगने पर विशेषणवती सिद्धा लक्षणा होती है । 'विद्या स्थिरतरं धनम्' यहाँ लक्षक पदार्थ धन में स्थिरतर विशेषण लगाने से विद्या में सुखजनकता का बोध लक्ष्यार्थ है । यहाँ विद्यापद उद्देश्य है और स्थिरतर धन विधेय है । विधेय पद में विशेषण लगने से विशेषणवती साध्या लक्षणा होती है ॥ १४ ॥

तथा सहेतुरतथा भेदभिन्ना च कुत्रचित् ।
सौन्दर्येणैष कन्दर्पः सा च मूर्तिमती रतिः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तथा कुत्रचित् सहेतुः अतथा च भेदभिन्ना (भवति) एषः सौन्दर्येण कन्दर्पः सा च मूर्तिमती रतिः ।

व्याख्या—पुनरपि सहेतुनिर्हेतुभेदेन अन्यद् भेदद्वयं ब्रूते—तथेति । तथा= तेन प्रकारेण, पूर्वोक्तभेदवत् हेतुना सहिताः सहेतुः अतथा = तद्विपरीतता हेतुशून्या चेति भेदाभ्यां भिन्नाऽपि लक्षणा कुत्रचित् = क्वचन प्राप्यते। तेन कुत्रचन लक्ष्यार्थ-बोधने सहेतुका क्वचिच्च अहेतुकेति द्वौ अन्यावपि भेदौ भवत इति भावः । क्रमेणोदाहरणं यथा—एषः=पुरुषः सौन्दर्येण=रमणीयतया कन्दर्पः=कामः एव कन्दर्पसदृश एष पुरुष इति लक्ष्यार्थः । सौन्दर्येणेति हेतोरुपादानात् सहेतुका । सा च=कामिनी मूर्तिमती=शरीरधारिणी रतिः=कामप्रिया । अत्र सौन्दर्य-रूपहेत्वनुपादानान्निर्हेतुका लक्षणा ।

लक्ष्यार्थ प्रतीति में जहाँ हेतु का उपादान हो, वहाँ सहेतुका और जहाँ हेतु का उपादान न हो वहाँ निर्हेतुका, इस प्रकार लक्षणा के दो भेद होते हैं । उदाहरण—यह पुरुष सौन्दर्य से साक्षात् कामदेव ही है । यहाँ काम के समान सुन्दर यह लक्ष्यार्थ है । इसमें सौन्दर्य रूप हेतु का उपादान है । इसलिए यह सहेतु का लक्षणा हुई । वह नायिका मूर्तिमती रति है, यहाँ मूर्तिमिती रति होने में किसी हेतु का उपादान नहीं है । अतः यह निर्हेतु का लक्षणा है ॥ १५ ॥

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
लिङ्गे चेयमलङ्कराङ्कुरबीजतया स्थिता ॥ १६ ॥

अन्वयः—तथा इयम् अलङ्काराङ्कुरबीजतया शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके लिङ्गे च स्थिता (विद्यते)।

व्याख्या—उपाध्यन्तरेण पुनर्लक्षणाया भेदान्तरं ब्रूते—तथा = एवम् इयं = असौ लक्षणा, अलङ्कारङ्कुरबीजतया—अलङ्काराङ्कुरस्य = अलङ्कारप्रादुर्भावस्य बीजतया = हेतुतया शब्दे = पदरूपे पदार्थे = पदस्यार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके लिङ्गे च स्थिता = स्वीकृता। पदरूपे यथा 'अग्नेरग्निर्नष्टः' इत्यत्र अग्निपदेनार्चिः लक्ष्यते। 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्र पदार्थे लक्षणा। अत्र मुखपदार्थेन चन्द्रतादात्म्यं लक्ष्यते। 'ये गुरुवचनमाकर्णयन्ति तेऽमृतं पिबन्ति' इति वाक्यार्थलक्षणाया उदाहरणम्। वाक्ययोरैक्यारोपात्। 'यावन्तो युद्धप्रियाः तावन्तोऽर्जुनाः' संख्याया लक्ष्योदाहरणम्। अत्रैकस्मिन् पुरुषे अर्जुने बहुत्वसंख्याया लक्षणोदाहरणम्। 'स्थाली पचति' इत्यत्र स्थाल्यां पचतीत्यधिकरणकारके लक्षणा। हस्तिनीत्यत्र लिङ्गे लक्षणा। अत्र हस्तिनीपदेन हस्तिपदस्य पुंल्लिंगता प्रतीयते। हस्तोऽस्यास्तीति हस्ती, स्त्री चेत् हस्तिनीति व्युत्पत्तेः। एवमुक्तस्थलेष्वियं लक्षणा। इत्थं संक्षेपतः सलक्षणं च लक्षणाया भेदोपभेदा उपदर्शिताः।

आधार भेद से लक्षणा के भेद किये जाते हैं—शब्द में, पदार्थ में, वाक्यार्थ में, संख्या में, कारक में और लिंग में लक्षणा होती है। अतः इसके अनेक भेद होते हैं। यह लक्षणा अलङ्कारों की सहायक है। अतः कविगण अलङ्कारों की उत्पत्ति में इसे बीज मानते हैं।

श्लोक में दिये गये शब्द, पदार्थ आदि के आधारों पर होने से लक्षणा भेद और किये जा सकते हैं।

(१) पद में लक्षणा का उदाहरण है—'अग्नेरग्निर्नष्टः' (आग की लपट नष्ट हो गयी), यहाँ अग्नि पद का लक्ष्यार्थ लपट है।

(२) पदार्थ के अर्थ में लक्षणा का उदाहरण है—'मुखं चन्द्रः' (मुख चन्द्रमा है) इस उदाहरण के मुख पदार्थ में चन्द्र के तादात्म्य की प्रतीति लक्षणा से होती है।

(३) वाक्य के अर्थ में लक्षणा का उदाहरण है—'ये गुरुवचनमाकर्णयन्ति तेऽमृतं पिबन्ति' (जो गुरु के वचन को सुनते हैं वे अमृत का पान करते हैं) यहाँ एक वाक्य में दूसरे वाक्य की एकता का आरोप लक्षणा द्वारा किया गया है।

(४) संख्या में लक्षणा का उदाहरण है—'यावन्तो युद्धप्रियाः तावन्तोऽर्जुनाः' (जितने युद्ध से प्रेम रखने वाले हैं वे अर्जुन हैं) यहाँ अर्जुन के एक होने पर भी उसमें बहुत्व का आरोप करने से संख्या में लक्षणा है।

(५) कारक में लक्षणा का उदाहरण है—'स्थाली पचति' (बटलोही पकाती है) यहाँ बटलोही में पकाता है । इस अर्थ के लिए अधिकरण-कारक में लक्षणा है ।

(६) लिंग में लक्षणा का उदाहरण है—'सा हस्तिनी' (वह हथिनी है) यहाँ स्त्री-लिंग हस्तिनी शब्द से पुंल्लिग हस्ती का बोध हो जाता है । इसलिए यहाँ पुंल्लिग में लक्षणा है ॥ १६ ॥

महादेव सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति नवसंख्यः सुखयतु ॥ १७ ॥

व्याख्या—अथ, नवममयूखस्य समाप्तिं सूचयन्नाह—महादेव इति । महादेव-सत्रेति प्रथममयूखस्य समाप्तौ षोडशश्लोकस्य व्याख्यादिकमत्रापि आवर्तनीयम् । केवलं चतुर्थपादे नवसंख्य इत्येतावन्मात्रमेव परिवर्तितं विद्यते ।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्य लक्षणानिरूपणनामके
नवमे मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

इस नवम मयूख की समाप्ति पर पठित १७वें श्लोक के तीन पाद तो पहले के मयूखों के अन्त में श्लोकों के समान ही है, किन्तु केवल चतुर्थपाद में 'नवसंख्यः' मात्र अंश परिवर्तित है । अतः इसकी व्याख्या के लिए देखिए, प्रथम मयूख की समाप्ति पर पठित १६वाँ श्लोक ॥ १७ ॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के नवम मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी द्वारा की गयी
राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधानामक व्याख्या समाप्त ।

दशमो मयूखः

धर्मं कञ्चित् पुरस्कृत्य प्रायः शब्दः प्रवर्त्तते।
यथार्थं स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः॥ १॥

अन्वयः—शब्दः (यया वृत्त्या) कञ्चित् धर्मं पुरस्कृत्य प्रायः प्रवर्तते। शब्दः (तत्र) यया स्पष्टम्, अर्थम् आचष्टे तां (वृत्तिं) अभिधां विदुः (बुधाः)

व्याख्या—अथेदानीं लक्षणां निरूप्य तद्धेतुभूतामभिधाशक्तिं निरूपयितुमुपक्रमते–धर्ममिति। शब्दः यया वृत्त्या कञ्चित् = कमपि धर्मं=जात्यादिकं पुरस्कृत्य =द्वारीकृत्य प्रायः प्रवर्तते=अर्थबोधने समर्थो भवति, तत्र यया=वृत्त्या शब्दः स्पष्टं= स्पष्टतया, असन्दिग्धम् अर्थं=शब्दार्थं आचष्टे=कथयति तां=वृत्तिम् अभिधां=अभिधाशक्तिं विदुः=जानन्ति, बुधा इति शेषः। तथा च अव्यवधानेन शब्दजन्यार्थप्रतीत्यनुकूला वृत्तिरभिधा नाम। साक्षाच्छब्दजन्यार्थप्रतीतिसहकारिज्ञानविषयत्वमभिधात्वमिति फलितम्।

प्रायः देखा जाता है कि शब्द जात्यादि रूप धर्म में से किसी एक धर्म का आश्रय लेकर ही उसके अर्थ के बोध कराने में प्रवृत्त होता है। वह शब्द जिस वृत्ति के द्वारा किसी की अपेक्षा न रखता हुआ स्वनिष्ठ संकेतित अर्थ का साक्षात् प्रतिपादन करे उस वृत्ति को अभिधावृत्ति कहते हैं।

विशेष—लक्षणा और व्यञ्जनावृत्ति से जो अर्थ बोध होता है वह अभिधावृत्ति से उत्पन्न अभिधेयार्थ के उपस्थित होने के बाद ही प्रतीत होता है। अतः उन दोनों वृत्तियों को साक्षात् अर्थबोधिका नहीं मानते। वृत्ति, शक्ति, व्यापार, क्रिया आदि शब्द समानार्थक हैं। आद्याशक्ति, अभिधाशक्ति, मुख्याशक्ति, ये अभिधा के ही नामान्तर हैं। आद्य, शक्य, अभिधेय, वाच्य, मुख्यार्थ ये शब्द अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्य अर्थ के नाम हैं। इसी प्रकार अर्थ के बोधक शब्द आद्य, वाचक, बोधक और अभिधायक के नाम से प्रतीत होते हैं।

शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। प्रायः प्रत्येक शब्द का किसी न किसी अर्थ में संकेत रहता है। इस संकेतित अर्थ को अभिधावृत्ति व्यक्त करती है। लक्षणा और व्यञ्जना वृत्ति भी अभिधावृत्ति का सहारा लेकर आगे बढ़ती हैं। अतः अभिधावृत्ति मुख्य मानी जाती है, जिसे आद्या शक्ति भी कहते हैं॥ १॥

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः॥ २॥

अन्वयः—बुधाः जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया तथा निर्देशेन अभिधां षड्विधां प्राहुः।

व्याख्या—निरुक्तधर्मस्य षाड्विधत्वेन अभिधाया षड्विधत्वमभिधत्ते-जात्येति। बुधाः = आलङ्कारिकाः विद्वांसः जात्या = गोत्वरूपजातिवाचकशब्देन, गुणेन = शुक्लत्वनीलत्वादिगुणवाचकशब्दभेदेन, क्रियया—चलत्वगमनत्वरूपक्रियावाचकशब्द-भेदेन, संज्ञया = डित्थादिरूपयदृच्छावाचकशब्दभेदेन तथा निर्देशेन = कंसादिनिर्देश-वाचकशब्दभेदेन च धर्मस्य षड्विधत्वेन अभिधां=अभिधावृत्ति षड्विधां = षट्-प्रकारां प्राहुः = अकथयन्।

ननु लोके किल आपामरं सर्वप्रयोजननिर्वाहकतया व्यक्तौ एव सङ्केतः स्वीकर्तव्यो न जाताविति चेदत्रोच्यते, प्रतिव्यक्तिसंकेते स्वीक्रियमाणे आकारादि-गोव्यक्तीनामानन्त्याद् अनन्तशक्तिकल्पनस्यावश्यकत्वेनातिगौरवमाद्येत। जातौ संकेते स्वीक्रियमाणे गोत्वजातौ गोशब्दस्य संकेतज्ञानात् जातेश्चैकत्वात् पृथक्-पृथक् व्यक्तौ सङ्केतस्यावश्यकमेव नास्ति। गोत्वजातौ गृहीतसङ्केतेनैकेन गोत्वेन अनन्तानां गोव्यक्तीनां बोधः सुकर इति जातौ सङ्केतस्वीकारे परमं लाघवम्।

जाति, गुण, क्रिया, वस्तुयोग, संज्ञा और निर्देश रूप धर्म छः प्रकार का होने के कारण अभिधावृत्ति भी छः प्रकार की होती है। अर्थात् जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक, वस्तुयोगवाचक, संज्ञावाचक और निर्देशवाचक शब्दों में संकेत उन-उन संकेतित अर्थों को बोध कराने वाली अभिधा भी छः प्रकार की हुई।

विशेष—जातिसङ्केतवाद पर कुछ लोगों का कहना है कि व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है और वही कार्य के उपयोगी है। अतः व्यक्ति में संकेत स्वीकार करना चाहिए, जाति में संकेत मानना उचित नहीं। इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति में संकेत मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त है, सबमें संकेत होना सम्भव नहीं और एक व्यक्ति में संकेत मानने पर दूसरों का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः व्यभिचार दोष होता है। अतः उक्त दोषों के निराकरणार्थ जाति में संकेत मानना लाघव है, जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होने से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। अतः जाति संकेतवाद उचित है॥ २॥

गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।
कं संहिनस्ति कंसारिर्नरं च कं समाश्रितम्॥ ३॥

अन्वयः—गौः नीलः पाचकः दण्डी डित्थः कंसः इति क्रमात् (उदाहरणानि) कंसारिः कं संहिनस्ति (प्रश्ने) कं समाश्रितं नरम् (नरकं यद्वा) सम् प्राश्रितं कं (कंसं हिनस्ति)।

व्याख्या—एतेषामिव षण्णां जात्यादिशब्दानां क्रमेणोदाहरणान्याह—गौर्नील इति। गौः = गौरिति शब्दः गोत्वरूपजातिवाचकः नीलः = नीलशब्दो नीलत्वादि-

जातिवाचकः, पाचकः = पाचकशब्दः = पाकत्वरूपक्रियावाचकः, दण्डी = दण्डीति-शब्दो दण्डत्वरूपयोगवाचकः, डित्थः = डित्थशब्दो डित्थत्वरूपसंज्ञावाचकः कंसः = कंसशब्दः ककारसकाररूपवर्णनिर्देशकः। इति = एते शब्दाः क्रमात् = क्रमशः उदाहरणानि।

निर्देशवाचकशब्दस्य लक्षणं समन्वेतुं—कमिति। कंसारिः = श्रीकृष्णः, कं = किं नामानं पुरुषम्, संहिनस्ति = हन्ति (इति प्रश्ने उत्तरयति) कं = ककारं समाश्रितं = सहितं नरं = नरकं संहिनस्ति, एवमेव सं = सकारम् आश्रितं प्राहं कं = कारं कंसं च हिनस्ति = हन्ति।

अत्र 'समाश्रितं कं' इत्युक्त्या सकारककारयोः प्रतीयमानत्वाद् वर्णानां स्व-परत्वम्, इयं च प्रतीतिं विना न सम्भवतीति वृत्यन्तराभावात्तत्र शक्तिरेव। एवं च एवंविधैः प्रयोगैः प्रतीयमानः कंसादिशब्दो यत्र व्युत्पत्त्या निर्दिश्यते तत्र तस्य निर्देशपरत्वम्। 'कंसो हत' इत्यत्र तु अर्थपरतया तस्य जात्यादिपरत्वान्न निर्देश-त्वमपितु जात्यादिशब्दत्वमिति भावः।

गो शब्द गोत्वरूप जाति का, नील शब्द नीलरूपी गुण का, पाचक शब्द पाक क्रिया द्वारा पाककारी पुरुष का, दण्डी पद दण्डरूप वस्तु के योग वाचक शब्द का, डित्थ शब्द तद्रूप संज्ञा वाचक शब्द का, कंस पद निर्देश वाचक शब्द का बोधक होता है। इस श्लोक में 'कसारिः कं संहिनस्ति' (श्रीकृष्ण किसका नाश करते हैं) इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि 'कं=ककारं समाश्रितं नरं' अर्थात् नरकं तथा सं·सकारमाश्रितं कं=कंसं हिनस्ति, नरक और कंस का नाश करते हैं। इस उत्तर में नरक शब्द को अथवा कंस शब्द को उसकी आनुपूर्वी से नहीं कहा गया है, केवल उन शब्दों के अक्षरों का निर्देशमात्र किया गया है, इसलिए यह निर्देश वाचक शब्द है।

कंसारि भगवान् श्रीकृष्ण ने नरक नामक असुर को मारा था, यह कथा पुराणों में आती है॥ ३॥

न योगादेरायतनं न संकेतनिकेतनम्।
वृत्त्या निर्देशशब्दोऽयं मुख्यया स्वाभिधेयया॥ ४॥

अन्वयः—अयं निर्देशशब्दः न योगादेः आयतनम् न (वा) संकेतनिकेतनम् स्वाभिधेयया मुख्यया वृत्त्या (प्रतीयते)।

व्याख्या—निर्देशशब्दस्य यौगिकत्वादि निरस्यति—न योगादेरिति। अयं = पूर्वोक्तः निर्देशशब्दः = निर्देशवाचकः शब्दः, निर्देशत्वं नाम शब्दस्य स्वपरत्वम् एतद्धि न योगादेः = न व्युत्पत्त्यादेः आयतनं = स्थानं, नापि सङ्केतस्य = डित्था-दिवत्सङ्केतस्य निकेतनं = स्थानम्। अतोऽयं निर्देशे शब्दः निर्देशशब्दः = कंसादि,

स्वं वर्णद्वयमेवाभिधेयं यस्यां स तया स्वाभिधेयया मुख्यया = प्रधानया वृत्त्या = व्यापारेण अभिधाशक्त्या प्रतीयते इति शेषः। अतो जात्यादिभिर्भिन्नां अभिधाशक्तिः स्वीकार्येति भावः।

इदमस्य तात्पर्यम्—अयं निर्देशशब्दः न यौगिकः, नापि रूढः न च योगरूढः, न वा डित्थादिवत् कृतसङ्केतः, अपितु मुख्यया अभिधावृत्त्या प्रतीतिमापन्न इति जात्यादिभ्यो भिन्नैवेयं षड्विधाऽभिधाशक्तिः।

निर्देशशब्द में न तो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की अपेक्षा रहती है, और न उसमें सङ्केत ही मानते हैं। यहाँ तो केवल पृथक्-पृथक् अक्षरों का ही निर्देश किया गया है। इन निर्दिष्ट वर्णों का बोध मुख्य वृत्ति अभिधा द्वारा ही होता है।

विशेष—कं और सं अलग-अलग निर्देश करने के कारण कोई संकेत नहीं रहता है। कंस कहने पर संज्ञा वाचक शब्द हो जाता, क्योंकि वर्ण क्रमपूर्वक रखे हुए हैं। जब यह क्रम तोड़ दिया जाता है और शब्द के वर्णों का निर्देश किया जाता है (वे वर्ण अलग-अलग बोले जाते हैं) तब उन्हें निर्देश वाचक शब्द कहा जाता है। निर्देश के आधार पर अभिधावृत्ति होती है। महामुनि पतञ्जलि के महाभाष्य में जाति, गुण, द्रव्य, तथा क्रिया में शब्दों की प्रवृति बताई गयी है। इस प्रकार उनके अनुसार अभिधा चार प्रकार की होती है, किन्तु यहाँ अभिधा के छह प्रकार माने गये हैं ॥ ४ ॥

पीयूषवर्षप्रभवं चन्द्रालोकमनोहरम्।
सुधानिधानमासाद्य श्रयध्वं विबुधा मुदम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विबुधाः, पीयूषवर्षप्रभवं, सुधानिधानं मनोहरं चन्द्रालोकम् आसाद्य मुदं श्रमध्वम्।

व्याख्या—ग्रन्थस्य फलमभिधत्ते—पीयूषेति। द्व्यर्थकोऽयं श्लोको देवपक्षे विद्वत्पक्षे च संघटते। तत्र देवपक्षे यथा हे विबुधाः = हे देवाः यूयम् पीयूषम् = अमृतं वर्षतीति पीयूषवर्षः = चन्द्रः तस्मात् प्रभवः = उत्पत्तिर्यस्य स तं पीयूषवर्षप्रभवम् = चन्द्रमसः प्रादुर्भूतम्, सुधायाः = अमृतस्य निधानं = निकेतम्, सुधानिधानम् मनोहरं = रमणीयम्, चन्द्रस्य = शशिनः आलोकः = प्रकाशः तं चन्द्रालोकम् आसाद्य = अधिगम्य, मुदं = प्रीतिं, श्रमध्वं = आश्रयध्वम्।

विद्वत्पक्षे च हे विबुधाः = हे विद्वांसः, यूयम्, पीयूषवदलङ्कारान् वर्षतीति पीयूषवर्षः पीयूषवर्षोपनामको जयदेवः तस्मात् प्रभवः = उत्पत्तिर्यस्य स तं पीयूषवर्षप्रभवम् = जयदेवकविविरचितम्, सुधानिधानं = सुधारूपाणामलङ्काराणामेकमात्रं स्थानम्, अतएव मनोहरं = साहित्यिकजनमनोहारिणं चन्द्रालोकं = चन्द्रालोकनामकं ग्रन्थम् आसाद्य = प्राप्य मुदं = प्रमोदम्, श्रमध्वं = आश्रयध्वम्। यथा पीयूष-

वर्षिणः चन्द्रमसः प्रकाशमधिगम्य देवा मुदमाप्नुवन्ति तथैव पीयूषवर्षोपनामकस्य जयदेवस्य चन्द्रालोकाख्यमिमं ग्रन्थमासाद्य सहृदयाः साहित्यिका अपि परां प्रीतिं प्राप्नुवन्तु इति भावः।

अमृत बरसाने वाले, चन्द्रमा से उत्पन्न लोक मनोहर चन्द्रमा का प्रकाश जिस प्रकार देवताओं को आनन्द देता है उसी प्रकार पीयूषवर्षी जयदेव कविविरचित अमृत का निकेतन मनोरम इस चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ को प्राप्त कर सहृदय साहित्यिक विद्वान् आनन्द का अनुभव करें। तात्पर्य यह है कि अमृत भोजी देवताओं को जैसे चन्द्रमा की चाँदनी आनन्द देती है वैसे ही यह चन्द्रालोक ग्रन्थ विद्वानों को आनन्द दे ॥ ५ ॥

जयन्ति याज्ञिकश्रीमन्महादेवाङ्गजन्मनः।
सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः ॥ ६ ॥

अन्वयः—याज्ञिकश्रीमन्महादेवाङ्गजन्मनः, सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेः गिरः जयन्ति।

व्याख्या—अथ ग्रन्थकारो जयदेवकविः स्ववचस उत्कर्षमभिधत्ते—जयन्तीति। अङ्गात् = शरीरात् जन्म = जनिः यस्य सोऽङ्गजन्मा याज्ञिकश्चासौ श्रीमांश्चेति याज्ञिकश्रीमान् स चासौ महादेवश्चेति याज्ञिकश्रीमन्महादेवः तस्य अङ्गजन्मा = पुत्रः तस्य तादृशस्य, शोभना उक्तिः = सूक्तिः सैव पीयूषं = अमृतं वर्षतीति सूक्तिपीयूषवर्षः तस्य सूक्तिपीयूषवर्षस्य जयदेवकवेः = एतन्नामककवयितुः गिरः = वाचः जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते निर्दुष्टत्वादिति भावः।

यज्ञकर्ता श्रीमान् महादेव के पुत्र सुभाषित रूपी अमृत को बरसाने वाले पीयूषवर्षी जयदेव कवि की वाणियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं।

विशेष—इस श्लोक में आत्मप्रशंसा की गयी है, जो—'यं प्रस्तूय प्रकाशन्ते मद्गुणास्त्रसरेणवः।' १।४ तथा 'नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते।' १।५ से मेल नहीं खाती।

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
मयूखस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके महति दशसङ्ख्यः सुखयतु ॥ ७ ॥

इति चन्द्रालोकालङ्कारेऽभिधानिरूपणो नाम दशमो मयूखः।

व्याख्या—अथ दशममयूखस्य समाप्तिं सूचयति—महादेवेति । सर्वेषु मयूखेषु समाप्तौ श्लोकोऽयं पठितो वर्तते । तत्र पूर्वार्द्धे पादद्वयं प्रायः समानमेव केवलमुत्त-राद्धंस्य पादद्वये किञ्चित्परिवर्तनं दृश्यते । तत्रापि क्वचिद् प्रथमे पादे क्वचिच्च द्वितीये कश्चिदंशः परिवर्तितोऽस्ति । तदनुसारमस्मिन् दशममयूखान्ते श्लोकेऽपि केवलं चतुर्थपादे 'दशसंख्यः' इत्येतावन्मात्रं परिवर्तितं विद्यते । अतोऽस्य श्लोकस्य व्याख्यानादिकं प्रथममयूखस्य समाप्तौ षोडशे श्लोके एव द्रष्टव्यम् । विस्तरभयान्न पुनरत्रापि व्याख्यायते ।

इति जयदेवकविना प्रणीतस्य चन्द्रालोकस्याभिधानिरूपणनामके दशमे
मयूखे पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना संस्कृते कृता
विमलाख्या व्याख्या समाप्ता ।

यह श्लोक दशों मयूखों की समाप्ति पर पढ़ा गया है । सर्वत्र पूर्वार्द्ध के दो पाद ज्यों-के-त्यों हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध के कहीं प्रथम पाद में कहीं दूसरे पाद में, मयूखानुसार कुछ परिवर्तन है । तदनुसार यहाँ भी चतुर्थ पाद में 'दशसंख्यः' मात्र परिवर्तन है । इस श्लोक की हिन्दी व्याख्या प्रथम मयूख की समाप्ति पर सोलहवें श्लोक में कर दी गयी है । विस्तार के भय से पुनरावृत्ति नहीं की गयी है ॥ ७ ॥

इस प्रकार चन्द्रालोक के दशम मयूख पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा
की गयी राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुधानामक व्याख्या समाप्त ।

इति चन्द्रालोकः समाप्तः ।

चन्द्रालोकस्य सिद्धान्ते कृतिरेषा मनोरमा ।
प्रीतयेऽस्तु भगवतो विश्वेशस्य जगद्गुरोः ॥

चन्द्रालोकस्य लघु-अतिलघूत्तरीयप्रश्नोत्तराणि

(१) प्रश्नः—जयदेवत्रयी के सन्ति ?

उत्तरम्—१. गीतगोविन्दकारो जयदेवः ।

२. तत्त्वचिन्तामण्यालोककारो जयदेवः ।

३. चन्द्रालोकप्रणेता जयदेवः ।

(२) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्यकर्ता कोऽस्ति ?

उत्तरम्—पीयूषवर्ष जयदेवः ।

(३) प्रश्नः—पीयूषवर्षः कस्योपनामास्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकप्रसन्नराघवकर्तुः जयदेवस्यैवोपनामास्ति ।

(४) प्रश्नः—ग्रन्थे पीयूषवर्षः कुत्रोल्लिखितोऽस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य प्रथममयूखे द्वितीय पद्ये 'चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षकृती' इत्युल्लिखितोऽस्ति ।

(५) प्रश्नः—जयदेवस्य पितुर्नाम किमस्ति ?

उत्तरम्—पितुर्नाम महायाज्ञिको महादेवोऽस्ति ।

(६) प्रश्नः—जयदेवस्य मातुर्नाम किमस्ति ?

उत्तरम्—जयदेवस्य मातुर्नाम सुमित्रा देव्यस्ति ।

(७) प्रश्नः—जयदेवस्य पित्रोर्नाम कुत्र मिलति ?

उत्तरम्—प्रतिमयूखस्यान्ते निम्नश्लोके च तयोः परिचयं मिलति । यथा—

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्ति प्रणिहितमतिर्यस्यपितरौ ।
चतुर्थस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥

(८) प्रश्नः—जयदेवस्य गोत्रं नगरं च लेखनीयम् ?

उत्तरम्—जयदेवस्य कौण्डिन्यगोत्रः कुण्डिनपुरं विदर्भदेशश्चासीत् ।

(९) प्रश्नः—जयदेवः कस्योपासकः आसीत् ?

उत्तरम्—जयदेवः श्रीरामचन्द्रस्योपासकः आसीत् ।

(१०) प्रश्नः—चन्द्रालोके किं नामधेयोऽध्यायः कति च सन्ति ?

उत्तरम्—मयूखनाम्ना दशाध्यायाः चन्द्रालोके सन्ति ।

(११) प्रश्नः—जयदेवस्य समयः कदा आसीत् ?

उत्तरम्—जयदेवस्य समयः द्वादशतमं शताब्दिः आसीत् ।

(१२) प्रश्नः—जयदेवस्य कति कृतयः सन्ति ?

उत्तरम्—जयदेवस्य द्वे कृती स्तः प्रथमं प्रसन्नराघवं द्वितीयश्च चन्द्रालोकः ।

(१३) प्रश्नः—प्रसन्नराघवस्य कथा कुत्राश्रिता वर्तते ?

उत्तरम्—प्रसन्नराघवस्य कथा रामायणाश्रिता वर्तते ।

(१४) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य का व्युत्पत्तिः ?

उत्तरम्—चन्द्रमसः आलोक इव काव्योपयोगिनां विषयाणां प्रकाशः यस्मिन्निति चन्द्रालोकः ।

(१५) प्रश्नः—चन्द्रालोको विजयतां ...... त्वाभि नवा विरच्यने पद्यमिदं कुत्र केनोक्तं वा ?

उत्तरम्—कुवलयानन्दग्रन्थारम्भे अप्पयदीक्षितेनोक्तम् ।

(१६) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य प्रथम मयूखे केषां विषयाणां वर्णनमस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य प्रथम मयूखे काव्य हेतुः काव्यलक्षणं शब्दानां रूढ्यादि भेदाश्च वर्णितमस्ति ।

(१७) प्रश्नः—काव्यदोषाणां कस्मिन् मयूखे उल्लेखं वर्तते ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य द्वितीय मयूखे काव्यगत दोषाणां उल्लेखं वर्तते ।

(१८) प्रश्नः—चन्द्रालोके तृतीय मयूखे किं वर्णनमस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य तृतीय मयूखे कवि शिक्षा वर्णनमस्ति ।

(१९) प्रश्नः—काव्यगुणानां वर्णनं चन्द्रालोकस्य कस्मिन् मयूखे मिलति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य चतुर्थ मयूखे दशकाव्यगुणानां सोदाहरणलक्षणमस्ति ।

(२०) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य कस्मिन मयूखे काव्यालंकाराणां उल्लेखं अस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य पञ्चम मयूखे शब्दार्थोभयालंकाराणां सोदाहरणलक्षणमस्ति ।

(२१) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य षष्टतमे मयूखे किं वर्णनमस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य षष्ठतमे मयूखे रस-भाव-रीतयश्च वर्णिताः सन्ति ।

(२२) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य सप्ततमे मयूखे किं वर्णनमस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य सप्ततमे मयूखे व्यंजनायाः ध्वनेश्च वर्णनमस्ति।

(२३) प्रश्नः—गुणीभूत व्यंग्यस्य कस्मिन् मयूखे विवेचनमस्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य अष्टतमे मयूखे गुणीभूत व्यंग्यस्य विवेचनमस्ति।

(२४) प्रश्नः—चन्द्रालोके लक्षणा कुत्र उल्लिखितास्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य नवतमे मयूखे लक्षणायाः व्याख्या मिलति।

(२५) प्रश्नः—अभिधायाः वर्णनं चन्द्रालोके कुत्रास्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य दशतमे मयूखे अभिधायाः निरूपणमस्ति।

(२६) प्रश्नः—चन्द्रालोके अनुष्टुपछन्दसां कति संख्या सन्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोके अनुष्टुपछन्दसां संख्या पञ्चाशदधिकं त्रिशतं (३५०) सन्ति।

(२७) प्रश्नः—अनुष्टुपछन्दसां किं वैशिष्ट्यम् ?

उत्तरम्—शब्दस्य पूर्वार्द्धे लक्षणं उत्तरार्द्धे च उदाहरणं मिलति।

(२८) प्रश्नः—शब्दालंकाराणां कति संख्या सन्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोके शब्दलंकाराः अष्टविधा सन्ति।

(२९) प्रश्नः—चन्द्रालोके अर्थालंकाराः कति विधाः सन्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोके अर्थालंकाराः विधा एकशीतिः (८१) सन्ति।

(३०) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य प्रथम श्लोके कस्मिन्वृत्ते कस्य वन्दनास्ति ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य प्रथम श्लोके शार्दूलविक्रीडित छन्दसि सरस्वत्याः पक्षे च भगवतः शिवस्य वन्दनास्ति।

(३१) प्रश्नः—ग्रन्थस्य प्रयोजनं कस्मिन् श्लोके वर्तते ?

उत्तरम्—चन्द्रालोकस्य प्रथम श्लोके शार्दूलविक्रीडित छन्दसि सरस्वत्याः पक्षे च भगवतः शिवस्य वन्दनास्ति।

(३२) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य तृतीय श्लोके केषां प्रवृत्यर्थं कविः ग्रन्थस्य वैशिष्टयं वर्णयति।

उत्तरम्—बुधानां (पण्डितानां) प्रवृत्यर्थं कविः ग्रन्थस्य वैशिष्टयं वर्णयति।

(३३) प्रश्नः—के पूर्वाचार्याः कवि सम्मते सन्ति ?

उत्तरम्—भरतानन्दवर्धनमम्मटादयः।

(३४) प्रश्नः—कवितां प्रति को हेतुः ?

उत्तरम्—कवितां प्रति श्रुताभ्याससहिता प्रतिभैव हेतुः ।

(३५) प्रश्नः—काव्यलक्षणं पद्यं ग्रन्थानुसारं लिख्यताम् ?

उत्तरम्—निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा सालंकाररसानेक वृत्तिर्वाककाव्यनां भाक् ।

(३६) प्रश्नः—ग्रन्थानुसारं काव्यदोषस्य पद्यं लेखनीयम् ?

उत्तरम्—स्याच्चेतौ विशता येन सक्षता रमणीयता । शब्देऽर्थे च कृतोन्मेष दोषमुद्घोषयन्तितम् ।

(३७) प्रश्नः—दोषाङ्कुशस्य स्वरूपं लिख्यताम् ?

उत्तरम्—दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृंखलं निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुश पुराश्रितम् ।

(३८) प्रश्नः—चन्द्रालोके मम्मटस्य गुणस्य किं लक्षणं ?

उत्तरम्—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः

शौर्यादयः इवात्मनः

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलास्थितयोगुणाः ।

(३९) प्रश्नः—अलंकारस्य चन्द्रालोके किं लक्षणम् ?

उत्तरम्—शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवसेन वा हारादिवदलंकारः सन्निवेशोमनोहरः ।

(४०) प्रश्नः—रस शब्दस्य व्युत्पत्तिपूर्वकमर्थं लिख्यताम् ?

उत्तरम्—रस्यते-आस्वाद्यते असाविति रसः रसं हेरेवायं लब्ध्वा आनन्दोभवति ।

(४१) प्रश्नः—रसकारण कारिका लेखनीया ?

उत्तरम्—आलम्बनोद्दीपनात्मा विभावः कारणं द्विधा ।

कार्योनुभावोभावश्च सहायो व्यभिचार्यपि ॥

(४२) प्रश्नः—विभाव शब्दस्य व्युत्पत्तिलब्धार्थः लेखनीयः ?

उत्तरम्—रसमात्रे विभावः कारणं भवति । विशेषेण भावयन्ति । = आस्वादयोग्मान् रत्यादीन् न स्थायी भावान् जनयन्ति इति । विभावः रसमात्रं प्रति कारणम् भवति ।

(४३) प्रश्नः—चन्द्रालोकस्य रससामान्य लक्षणं किं अस्ति ?

उत्तरम्—गलद्वेधान्तराद् भेदं हृदयेष्वजडात्मनां मिलन्मालयजालेप इवाह्लाद विकाशयन् ।

(४४) प्रश्नः—वृत्तयः कतिधा के च ते ?

उत्तरम्—वृत्तयः त्रिधा १. अभिधा २. लक्षणा ३. व्यञ्जना च।

(४५) प्रश्नः—व्यञ्जनायाः लक्षणं सोदाहरणं लिखत ?

उत्तरम्—सां मुख्यं विद्धानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरं कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यंजनात्मकः।

(४६) प्रश्नः—व्यंग्यार्थः कया शक्त्यावगम्यते ?

उत्तरम्—व्यंजनया।

(४७) प्रश्नः—ग्रन्थानुसारं लक्षणयाः स्वरूपं लिखत ?

उत्तरम्—मुख्यार्थस्याविवक्षायां।
पूर्वाऽर्वाची च रूढितः।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्ती लक्षणामता।

(४८) प्रश्नः—अभिधायाः सोदाहरणं लक्षणं लिखत ?

उत्तरम्—धर्म कञ्चित पुरस्कृत्य।
प्रायः शब्दः प्रवर्तते।
यथार्थं स्पष्टमाचष्टे।
शब्दस्तामभिधां विदुः।

(४९) प्रश्नः—शब्दस्याद्याशक्ति का कथ्यते ?

उत्तरम्—अभिधा।

(५०) प्रश्नः—अभिधया कोऽर्थो बोधो भवति ?

उत्तरम्—सांकेतितार्थः बोधो भवति।

(५१) प्रश्नः—लक्ष्यार्थः कया शक्त्या अवगम्यते ?

उत्तरम्—लक्षणया।